सर्वोदय-दर्शन

दादा धर्माधिकारी

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

सर्वोदय-दर्शन

दादा धर्माधिकारी

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी

प्रकाशक :

अ० वा० सहस्रबुद्धे,

मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,

वर्धा (बम्बई-राज्य)

दूसरी बार : ५,०००

कुल छपी प्रतियाँ : १५,०००

अगस्त, १९५८

मूल्य : तीन रुपया

मुद्रक :

पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,

भार्गव भूषण प्रेस,

गायघाट, वाराणसी
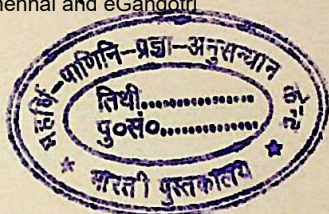
आमुख

"यह पुस्तक रास्ते में पढ़ने लायक है।"--कहते हुए जोहान्सबर्ग स्टेशन पर पोलक ने रस्किन की 'अनटू दिस लास्ट' पुस्तक गांधी के हाथ में रख दी।

और, इस पुस्तक ने जादू कर दिया गांधी पर। इसने उनके जीवन की धारा ही पलट दी। आत्मकथा में लिखा उन्होंने--"इसे हाथ में लेने के बाद मैं छोड़ ही न सका। इसने मुझे जकड़ लिया। ट्रेन शाम को डरबन पहुँची। सारी रात मुझे नींद नहीं आयी। पुस्तक में दिये गये आदर्शों के साँचे में अपने जीवन को ढालने का मैंने निश्चय कर लिया। जिस पुस्तक ने मुझ पर तत्काल असर डाला और मुझमें महत्त्वपूर्ण ठोस परिवर्तन किया, ऐसी तोय ही एक पुस्तक है।

"मेरा विश्वास है कि मेरे हृदय के गहनतम प्रदेश में जो भावनाएँ छिपी पड़ी थीं, उनका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैंने रस्किन के इस ग्रन्थरत्न में देखा और इसीलिए उन्होंने मुझे अभिभूत कर जीवन परिर्वातित करने के लिए विवश कर दिया।

"रस्किन ने अपनी इस पुस्तक में मुख्यतः ये तीन बातें बतायी हैं :

१. व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में ही निहित है।

२. वकील का काम हो चाहे नाई का, दोनों का मूल्य समान ही है। कारण, प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है।

३. मजदूर, किसान अथवा कारीगर का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है।

"पहली बात मैं जानता था, दूसरी बात धुंधले रूप में मेरे सामने थी, पर तीसरी बात का तो मैंने विचार ही नहीं किया था। 'अनटू दिस लास्ट'

पुस्तक ने सूर्य के प्रकाश की भाँति मेरे समक्ष यह बात स्पष्ट कर दी कि पहली बात में ही दूसरी और तीसरी बातें भी समायी हुई हैं।"

*　　　*　　　*

हाँ तो, बाइबिल की एक कहानी के आधार पर है रस्किन की इस पुस्तक का नाम 'अनटू दिस लास्ट'। इसका अर्थ होता है—'इस अन्तवाले को भी !'

अंगूर के एक बगीचे के मालिक ने एक दिन सबेरे अपने यहाँ काम करने के लिए कुछ मजदूर रखे। मजदूरी तय हुई—एक पेनी रोज।

दोपहर को वह मजदूरों के अड्डे पर फिर गया। देखा, वहाँ उस समय भी कुछ मजदूर खड़े हैं—काम के अभाव में। उसने उन्हें भी अपने यहाँ काम पर लगा दिया।

तीसरे पहर और शाम को फिर उसे कुछ बेकार मजदूर दिखे। उन्हें भी उसने काम पर लगा दिया।

काम समाप्त होने पर उसने मुनीम से कहा कि "इन सब मजदूरों को मजदूरी दे दो। जो लोग सबसे अन्त में आये हैं, उन्हींसे मजदूरी बाँटना शुरू करो।"

मुनीम ने हर मजदूर को एक-एक पेनी दे दी।

सवेरे से आनेवाले मजदूर सोच रहे थे कि शाम को आनेवालों को जब एक-एक पेनी मिल रही है, तो हमें उनसे ज्यादा मिलेगी ही, पर जब उन्हें भी एक ही पेनी मिली, तो मालिक से उन्होंने शिकायत की कि "यह क्या कि जिन लोगों ने सिर्फ एक घण्टे काम किया, उन्हें भी एक पेनी और हमें भी एक ही पेनी—जो दिनभर धूप में काम करते रहे !"

मालिक बोला : "भाई मेरे, मैंने तुम्हारे प्रति कोई अन्याय तो किया नहीं। तुमने एक पेनी रोज पर काम करना मंजूर किया था न ? तब अपनी मजदूरी लो और घर जाओ। मेरी बात मुझ पर छोड़ो। मैं अन्तवाले को भी उतनी ही मजदूरी दूँगा, जितनी तुम्हें। अपनी चीज अपनी इच्छा के अनुसार खर्च

करने का मुझे अधिकार है न? किसीके प्रति मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ, तो इसका तुम्हें दुःख क्यों हो रहा है?" *

*   *   *

सुबहवाले को जितना, शामवाले को भी उतना—यह बात सुनने में अटपटी भले ही लगे, कुछ लोग इस पर—'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा'—की फब्ती कस सकते हैं, परन्तु इसमें मानवता का, समानता का, अद्वैत का वह तत्त्व समाया हुआ है, जिस पर 'सर्वोदय' का विशाल प्रासाद खड़ा हुआ है।

सर्वोदय आखिर है क्या?—सबका उदय, सबका उत्कर्ष, सबका विकास ही तो सर्वोदय है। भारत का तो यह परम पुरातन आदर्श ठहरा :

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात् ॥

ऋषियों की यह तपःपूत वाणी भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे यहाँ मुखरित होती रही है। जैनाचार्य समंतभद्र कहते हैं :

'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।'

पर सबका उदय, सबका कल्याण दाल-भात का कौर नहीं है। कुछ लोगों का उदय हो सकता है, बहुत लोगों का उदय हो सकता है, पर सब लोगों का भी उदय हो सकता है—यह बात लोगों के मस्तिष्क में धँसती ही नहीं! बड़े-बड़े विद्वान्, बड़े-बड़े सिद्धान्तशास्त्री इस स्थान पर पहुँचकर अटक जाते हैं। कहते हैं : "होना तो अवश्य ऐसा चाहिए कि शत प्रतिशत का उदय हो, मानव-

---

* 'Friend, I do thee no wrong : didst not thou agree with me for a penny ? Take that thine is, and go thy way : I will give unto this last even as unto thee. Is it not lawful for me to do what I will with mine own ? Is thine eye evil, because I am good ?

—St. Matthew 20.

मात्र का कल्याण हो, हर व्यक्ति का विकास हो, पर यह व्यवहार्य नहीं है। सर्वोदय आदर्श हो सकता है, व्यवहार में उसका विनियोग सम्भव ही नहीं है।"

और यहीं पर सर्वोदयवादियों का अन्य सिद्धान्तवादियों से विरोध है।

सर्वोदय मानता है कि सबका उदय कोरा स्वप्न, कोरा आदर्श नहीं है, वह आदर्श व्यवहार्य है, वह अमल में लाया जा सकता है। सर्वोदय का आदर्श ऊँचा है, यह ठीक है; परन्तु न तो वह अप्राप्य है और न असाध्य है। वह प्रयत्नसाध्य है।

* * *

सर्वोदय का आदर्श है—अद्वैत और उसकी नीति है—समन्वय। मानव-कृत विषमता का वह निराकरण करना चाहता है और प्राकृतिक विषमता को घटाना चाहता है।

सर्वोदय की दृष्टि में जीवन एक विद्या भी है, एक कला भी। जीवमात्र के लिए, प्राणिमात्र के लिए समादर, प्रत्येक के प्रति सहानुभूति ही सर्वोदय का मार्ग है। जीवमात्र के लिए सहानुभूति का यह अमृत जब जीवन में प्रवाहित होता है, तो सर्वोदय की लता में सुरभिपूर्ण सुमन खिल उठते हैं।

डार्विन Survival of the fittest, मात्स्यन्याय की बात कहकर रुक गया। उसने प्रकृति का नियम बताया कि बड़ी मछली छोटी मछलियों को खाकर ही जीवित रहती है।

हक्सले एक कदम आगे बढ़ा। वह कहता है कि जिओ और जीने दो—Live and let live.

पर इतने से ही काम चलनेवाला नहीं। सर्वोदय कहता है कि तुम दूसरों को जिलाने के लिए जिओ। तुम मुझे जिलाने के लिए जिओ, मैं तुम्हें जिलाने के लिए जिऊँ। तभी, और केवल तभी सबका जीवन सम्पन्न होगा, सबका उदय होगा, सर्वोदय होगा।

दूसरों को अपना बनाने के लिए प्रेम का विस्तार करना होगा, अहिंसा का विकास करना होगा और आज के सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन करना होगा। सर्वोदय समाजनिरपेक्ष, शाश्वत और व्यापक मूल्यों की स्थापना करना और बाधक मूल्यों का निराकरण करना चाहता है। यह कार्य न तो विज्ञान द्वारा सम्भव है और न सत्ता द्वारा।

सर्वोदय ऐसे वर्ग-विहीन, जाति-विहीन और शोषण-विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपने सर्वांगीण विकास के साधन और अवसर मिलेंगे। यह क्रान्ति अहिंसा और सत्य द्वारा ही सम्भव है। सर्वोदय इसीका प्रतिपादन करता है।

* * *

आज तीन प्रकार की सत्ताएँ चल रही हैं—राज्य-सत्ता, शस्त्र-सत्ता और धन-सत्ता। परन्तु जागतिक स्थिति ऐसी हो गयी है कि इन तीनों सत्ताओं पर से लोगों का विश्वास उठता जा रहा है। आज सभी लोग किसी अन्य मानवीय शक्ति की खोज में हैं और वह मानवीय शक्ति सर्वोदय के माध्यम से ही विकसित हो सकती है।

सर्वोदय की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है। विज्ञान में ऐसी बात नहीं। विज्ञान अपने आविष्कारों से जनता को अनेक सुविधाएँ प्रदान कर सकता है, भौतिक सुखों की व्यवस्था कर सकता है, बटन दबाकर हवा दे सकता है, प्रकाश दे सकता है, रेडियो का संगीत सुना सकता है, पर उसमें यह क्षमता नहीं कि वह मानव का नैतिक स्तर ऊपर उठा दे। विज्ञान वेश्या-वृत्ति का निराकरण कर सकता है, उसके निराकरण के साधन प्रस्तुत कर सकता है; पर हर स्त्री को हर पुरुष की बहन बना देने की क्षमता उसमें नहीं। विज्ञान जीवन का बाहरी नक्शा बदल सकता है, पर भीतरी नक्शा बदलना उसके वश की बात नहीं।

* * *

शस्त्र-सत्ता से, पुलिस के बैटन से, फौज की बन्दूक से, एटम बम से, हाइ-ड्रोजन बम से जनता को आतंकित किया जा सकता है, उसे निर्भय नहीं बनाया

जा सकता। डंडे के बल से लोगों को जेल में डाला जा सकता है, उन्हें मुक्त नहीं किया जा सकता। शस्त्र-शक्ति से हिंसा को दबाने की चेष्टा की जा सकती है, पर उससे अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती।

* * *

चोरी करने पर सजा और जुर्माने की व्यवस्था कानून से की जा सकती है, हत्या करने पर फाँसी का दण्ड दिया जा सकता है, पर कानून से किसीको इस बात के लिए विवश नहीं किया जा सकता कि सामने कोई भूखा बैठा है, तो रन्तिदेव की तरह सामने परोसी थाली उठाकर उसे दे दो और स्वयं भूखे रहने में भी प्रसन्नता का अनुभव करो।

* * *

धन की सत्ता आज सारे विश्व में व्याप्त है। आज पैसे पर ईमान बिक रहा है, पैसे पर अस्मत लुट रही है, पैसे पर न्याय अपने नाम को हँसा रहा है। विश्व का कौनसा अनर्थ है, जो पैसे के बल पर और पैसे के लिए नहीं किया जाता। अन्याय और शोषण, हिंसा और भ्रष्टाचार, चोरी और डकैती—सबकी जड़ में पैसा है।

कंचन की इस माया में पड़कर मनुष्य अपना कर्तव्य भूल गया है, अपना दायित्व भूल गया है, अपना लक्ष्य भूल गया है। पैसे के कारण श्रम की प्रतिष्ठा उसके जीवन से जाती रही है। येन-केन प्रकारेण वह सोने की हवेली खड़ी कर लेने को आकुल है। पर वह यह बात भूल गया है कि सोने की लंका भस्म होकर ही रहती है। रावण का गगनचुम्बी प्रासाद मिट्टी में ही मिलकर रहता है। अन्याय से, शोषण से, बेईमानी से इकट्ठी की गयी कमाई से भौतिक सुख भले ही बटोर लिये जायँ, उनसे आत्मिक सुख की उपलब्धि हो नहीं सकती। पैसा विश्व के अन्य सुख भले ही जुटा दे, परन्तु उससे आत्मा की प्रसन्नता प्राप्त नहीं की जा सकती। यही कारण है कि ईसा को कहना पड़ा कि "सूई के छेद के भीतर से ऊँट का निकल जाना भले ही सम्भव हो, परन्तु पैसेवाले का स्वर्ग के राज्य में प्रवेश सम्भव नहीं!"

* * *

राज्य-सत्ता पुलिस और फौज के बल पर—शस्त्र-सत्ता पर जीती है, कानून की छत्रच्छाया में बढ़ती है, धन-सत्ता के भरोसे पलती-पनपती है और विज्ञान के जरिये विकसित होती है। परन्तु इतने साधनों से सज्जित रहने पर भी वह शत प्रतिशत जनता को सुखी करने में अपने को असमर्थ पाती है। वह एक ओर अल्पसंख्यकों के प्रति अन्याय न होने देने का दावा करती है, दूसरी ओर बहुसंख्यकों के हितों की रक्षा का ढिंढोरा पीटती है। पर अल्पसंख्यक भी उसकी शिकायत करते हैं और बहुसंख्यक भी। कारण, उसका आदर्श रहता है—'अधिक-से-अधिक लोगों का अधिक-से-अधिक सुख।' उसने यह मान लिया है कि सबको तो हम अधिकतम सुख दे नहीं सकते, इसलिए अधिकतम लोगों को यदि हम अधिकतम सुख दे लें, तो हमारा कर्तव्य पूरा हो गया! हमारी आज की राजनीति इन्हीं आदर्शों पर पल रही है। पर इससे मानव-जाति का कल्याण सम्भव नहीं।

* * *

सर्वोदय ऐसी राजनीति का कायल नहीं। वह लोकनीति का पक्षपाती है। राजनीति में जहाँ शासन मुख्य है, वहाँ लोकनीति में अनुशासन। राजनीति में जहाँ सत्ता मुख्य है, वहाँ लोकनीति में स्वतन्त्रता। राजनीति में जहाँ नियंत्रण मुख्य है, वहाँ लोकनीति में संयम। राजनीति में जहाँ सत्ता की स्पर्धा, अधिकारों की स्पर्धा मुख्य है, वहाँ लोकनीति में कर्तव्यों का आचरण। सर्वोदय का क्रम यही है कि शासन से अनुशासन की ओर, सत्ता से स्वतन्त्रता की ओर, नियंत्रण से संयम की ओर और अधिकारों की स्पर्धा की ओर से कर्तव्यों के आचरण की ओर बढ़ो।

* * *

राज्यशास्त्र का प्रत्येक शास्त्री ऐसी आकांक्षा रखता है कि एक दिन ऐसा आये, जिस दिन राज्य की समाप्ति हो जाय। तब तक के लिए राज्य-संस्था एक अनिवार्य दोष है, Necessary evil है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य-संस्था सदा अनिवार्य बनी ही रहेगी। राज्य-संस्था है ही इसलिए कि धीरे-धीरे वह ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दे, जब भय का निराकरण

होते-होते यह स्थिति आ जाय कि राज्य-शासन की आवश्यकता ही न रह जाय। आज नागरिकों में परस्पर विश्वास नहीं है, लोग एक-दूसरे से डरते हैं, तभी तो राज्य-शासन की जरूरत पड़ती है। लोगों के मानस से यह डर निकल जाय, सब एक-दूसरे पर विश्वास करने लगें, तो राज्य-शासन की जरूरत ही क्या रहेगी ?

राज्य के पीछे जो सत्ता होती है, वह लोगों की सत्ता, लोक-सत्ता होती है। पर हमने इस तथ्य को भुलाकर राजा को विष्णु मानकर उसके हाथ में 'अनियंत्रित राज्य-सत्ता' (Absolute Monarchy) सौंप दी। हाब्स ने इसका विस्तृत विवेचन किया है। लॉक इससे एक कदम आगे बढ़ा। उसने 'नियंत्रित राज्य-सत्ता' (Limited Monarchy) की बात कही। पर रूसो 'लोक-सत्ता' (Democracy) तक आ गया। यहीं से राज्य-सत्ता के निराकरण और लोक-सत्ता की स्थापना का श्रीगणेश होता है। राज्य-शास्त्र के इन तीन सिद्धान्तशास्त्रियों ने राज्यशास्त्र का विशेष रूप से विकास किया है।

*　　　*　　　*

इनके बाद आया गरीबों का मसीहा मार्क्स। उसने गरीबों के लोकतंत्र की, Democracy for the poor men की बात कही। मार्क्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism), ऐतिहासिक भौतिकवाद और नियतिवाद (Materjalistic interpretation of Hjstory) पर जोर दिया और एक वर्ग के संघटन (Organization of one Class) की बात सिखायी। उसने क्रान्ति के लिए तीन बातों की आवश्यकता बतायी :

१. क्रान्ति वैज्ञानिक हो,

२. क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय हो और

३. क्रान्ति में वर्ग-संघर्ष हो।

मार्क्स ने सारे मानवीय तत्त्वों का संग्रह किया, परन्तु उसका विज्ञान उसके भौतिकवाद के सिद्धान्तों के कारण पूंजीवाद की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट

हुआ। अतः वह उस प्रतिक्रिया के साथ पूँजीवाद के स्वरूप को भी अंशतः लेकर आया।

मार्क्स के पहले किसी भी पीर-पैगम्बर या धर्म-प्रवर्तक ने यह नहीं कहा था कि गरीबी और अमीरी का निराकरण हो सकता है, होना चाहिए और होकर रहेगा। दान और गरीबों के प्रति सहानुभूति की बात तो सभी धर्मों में कही गयी है, पर गरीबी और अमीरी के निराकरण की बात मार्क्स से पहले किसीने नहीं कही। उसने स्पष्ट शब्दों में इस बात की घोषणा की कि "अमीरी और गरीबी भगवान् की बनायी हुई नहीं है। किसी भी धर्म में उसका विधान नहीं है और यदि कोई धर्म इस भेद को मंजूर करता है, तो वह धर्म गरीब के लिए अफीम की गोली है।"

कार्ल मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया कि हमें ऐसे समाज का निर्माण करना चाहिए, जिसमें न तो कोई गरीब रहेगा और न कोई अमीर। उसमें न तो दाता की गुंजाइश रहेगी, न भिखारी की। उसने पीड़ित मानवता को यह आशाभरा संदेश दिया कि जिस विकास-क्रम के अनुसार गरीबी और अमीरी आ गयी, उसी विकास-क्रम के अनुसार, सृष्टि के नियमों के अनुसार, ऐतिहासिक घटना-क्रम के अनुसार उनका निराकरण भी होनेवाला है और सो भी गरीबों के पुरुषार्थ से होनेवाला है।

गरीबी और अमीरी के निराकरण के लिए मार्क्स ने पुराने अर्थशास्त्रियों को Vulgar Economists (अशिष्ट अर्थशास्त्री) बताते हुए एक नया क्रान्तिकारी अर्थशास्त्र प्रस्तुत किया।

एडम स्मिथ और रिकार्डो का सिद्धान्त था—श्रम ही मूल्य है।

मिल और मार्शल ने सिद्धान्त बनाया—'जिसके विनिमय में कुछ मिले, वह सम्पत्ति है'—Wealth is anything that has an exchange Value. रूसो और टॉल्स्टॉय ने इसका खूब मजाक उड़ाया। कहा : "हवा के बदले में कुछ नहीं मिलता, तो हवा का कोई मूल्य ही नहीं!"

मार्क्स ने इनसे एक कदम आगे बढ़कर निकाला—अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value)। उसने कहा कि श्रम का

जितना मूल्य होता है, वह मुझे मिलता ही नहीं। मुझे जिन्दा रखने के लिए जितना जरूरी है, सिर्फ उतना ही तो मुझे मिलता है। बाकी का तो मालिक ही हड़प जाता है। श्रम का यह बचा हुआ मूल्य ही शोषण (Exploitation) है। और इसका नतीजा यह होता है कि सौ में नब्बे आदमियों को काम ही काम रहता है और दस आदमियों को आराम ही आराम! दस आदमी विश्रामजीवी बन जाते हैं और नब्बे आदमी श्रमजीवी। हराम की इस कमाई का निराकरण होना ही चाहिए।

* * *

पूँजीवादी अर्थशास्त्र की मान्यता है—मेहनत मजदूर की, सम्पत्ति मालिक की।

पूँजीवाद का जन्म होता है—सौदे से, विकास होता है—सट्टे से और वह चरम सीमा पर पहुँचता है—जुए से।

पूँजीवाद के तीन दोष हैं:
सौदा, सट्टा और जुआ।
इससे तीन बुराइयाँ पैदा होती हैं:
संग्रह, भीख और चोरी।

* * *

पूँजीवाद के दोषों का निराकरण करने के लिए आया—समाजवाद। समाजवादी अर्थशास्त्र की मान्यता है—मेहनत जिसकी, सम्पत्ति उसकी। मार्क्स यहीं तक नहीं रुका। उसने एक और सूत्र दिया—मेहनत हरएक की, सम्पत्ति सबकी। इसकी बदौलत Welfare State (कल्याणकारी राज्य) और State Capitalism (शासकीय पूँजीवाद) का जन्म हुआ। व्यक्ति की साहूकारी मिटी, समाज की साहूकारी शुरू हुई।

* * *

समाजवाद के आगे का एक सूत्र और है। और वह यह कि जितनी ताकत उतना काम, जितनी जरूरत उतना दाम। 'परिश्रम तो मैं उतना करूँ, जितनी

मुझमें क्षमता है; पर उस परिश्रम का प्रतिमूल्य, उसका मुआवजा मैं उतना ही लूँ, जितनी मेरी आवश्यकता है।'

यह सूत्र तो बहुत अच्छा है, पर इसके कारण अन्तर्विरोध पैदा होता है। 'मेहनत जिसकी, सम्पत्ति उसकी' और 'जितनी ताकत उतना काम, जितनी जरूरत उतना दाम'—इन दोनों सूत्रों में मेल ही नहीं बैठता।

'जब मुझे मेरी आवश्यकता के अनुसार ही पैसा मिलना है, तो मैं उतना ही काम करूँगा, जितने में मेरी जरूरत पूरी हो जाय; फिर मैं अपनी शक्ति और क्षमता का पूरा उपयोग क्यों करूँ?' यह विषम समस्या उत्पन्न हुई। काम के अनुसार दाम देने से प्रतिद्वन्द्विता आ खड़ी हुई। रूस और चीन में इस सम्बन्ध में प्रयोग हुए और लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रतिद्वन्द्विता से तो स्थिति विषम हो जायगी। इसलिए प्रतिस्पर्धा तो न चले, परिस्पर्धा चल सकती है। दूसरे को टाँग खींचकर, उसे गिराकर स्वयं आगे बढ़ने की प्रतिस्पर्धा रोकी जाय, उसके स्थान पर ऐसी समाजवादी परिस्पर्धा चले कि जो सर्वोत्कृष्ट है, उसकी बराबरी करने की अन्य सब लोग चेष्टा करें। इसका नाम है Socialistic Emulation (समाजवादी परिस्पर्धा)। किन्तु इसमें भी कोई अच्छा परिणाम नहीं निकला। पहले जहाँ Wage Slavery थी, दाम के लिए काम करने की गुलामी थी, वहाँ अब आ गया Wages according to work, काम के मुताबिक दाम!

रूस और चीन की गाड़ी यहाँ आकर अटक जाती है। प्रयोग हो रहे हैं, परन्तु समाजवादी प्रेरणा, Socialistic incentive की समस्या विषम रूप से सामने आकर खड़ी है।

*   *   *

आज सेना का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया है। मार्क्स ने सेना और शास्त्र के निराकरण की प्रक्रिया का पहला कदम यह बताया कि 'सेना मत रखो, शस्त्र मत रखो, सबको शस्त्र दे दो। नागरिक को ही सैनिक बना दो। सैनिक और नागरिक के बीच का अन्तर मिटा दो। उत्पादक और अनुत्पादक

के बीच कोई भी भेद मत रखो।' आज विश्व के महान्-से-महान् राजनीतिज्ञ यह माँग कर रहे हैं कि शस्त्रीकरण की होड़ से विश्व सर्वनाश की ही ओर जा रहा है। इसलिए अब निःशस्त्रीकरण होना चाहिए। आज के युग की यह माँग है कि निःशस्त्रीकरण के सिवा अब मानवीय मूल्यों की स्थापना हो नहीं सकती। आइसनहावर के शब्दों में Disarmament has become a necessity of life. (निःशस्त्रीकरण जीवन की एक आवश्यकता बन गयी है ।)

पहले वीर-वृत्ति के विकास के लिए और निर्बलों के संरक्षण के लिए शस्त्र का प्रयोग होता था। आज शस्त्र में से उसके ये दोनों सांस्कृतिक मूल्य नष्ट हो गये हैं। हवाई जहाज से बम फेंक देने में कौनसी वीर-वृत्ति रह गयी है ? आज संरक्षण के स्थान पर आक्रमण के लिए शस्त्रों का प्रयोग होता है। इसलिए शस्त्र का सांस्कृतिक मूल्य पूर्णतः समाप्त हो गया है।

* * *

शस्त्र की जो हालत है, वही हालत यंत्र की भी है। यंत्र का भी सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया है। यंत्र की विशेषता यह है कि वह सब चीजें एक-सी बनाता है। बटन एक-से, जूते एक-से, पोशाक एक-सी। गधा-मजूरी रोकने को यंत्र आया, पर आज उसके चलते व्यक्तित्व का गला घुट रहा है। मानवीय मूल्यों का ह्रास हो रहा है। Push Button Economy—बटन दबाने का अर्थशास्त्र विकसित हो रहा है और मानवीय कला समाप्त होती चल रही है। यंत्र जहाँ तक अभाव की पूर्ति करता है, वहाँ तक तो उसकी उपयोगिता मानी जा सकती है, पर वह केन्द्रीकरण को जन्म दे रहा है, कला की अभिवृद्धि में रोड़े अटका रहा है और उत्पादन में से मानवीय स्पर्श (Human touch in Production) को समाप्त करता जा रहा है। व्यक्तित्व का विकास तो दूर रहा, उसके कारण मनुष्य का व्यक्तित्व ही समाप्त होता जा रहा है। व्यक्तित्व का यह विलीनीकरण (De-individualisation) यंत्र का सबसे भयंकर अभिशाप है। इसका निराकरण होना ही चाहिए।

* * *

पूँजीवादी उत्पादन का एकमात्र लक्ष्य पैसा होता है। यह उत्पादन मुनाफे के लिए, विनिमय के लिए ही होता है। मैंने जो रकम लगायी, वह कुछ

मुनाफे के साथ मुझे वापस मिल जाय, यही उसका उद्देश्य है। यह है मुनाफे के लिए उत्पादन---Production for Profit। बाजार की पकौड़ियाँ भले ही खाने लायक न हों, पर यदि उनका पैसा वसूल हो जाय, तो उनका उत्पादन सफल माना जाता है।

छात्रावास में जितने लड़के रहते हैं, उतने लड़कों के हिसाब से ही रोटियाँ बनायी जाती हैं। यह Production for Consumption, उपयोग के लिए उत्पादन है, पर इसमें इस बात के लिए गुंजाइश नहीं कि किसीके दाँत यदि गिर गये हैं, तो क्या हो ?

यान्त्रिक उत्पादन में तीन प्रेरणाएँ थीं :

व्यापारवाद (Commercialism),
साम्राज्यवाद (Imperialism) और
उपनिवेशवाद (Colonialism)।

पर आज की जागतिक स्थिति ऐसी है कि ये तीनों प्रेरणाएँ समाप्ति पर हैं। आज बाजारों का अर्थशास्त्र समाप्त हो रहा है, साम्राज्यवाद मिट रहा है और उपनिवेशवाद अन्तिम साँसें ले रहा है।

*　　　*　　　*

आज Dynamics (गति का तत्त्व) बाजार से उठकर वैचारिक क्षेत्र में आ गया है। विश्व में आज दो मोर्चे हैं---एक कम्युनिस्टों का, दूसरा उनका विरोधी। लोकशाही कम्युनिज्म का विरोध करते-करते पूँजीवाद की छावनी में जा पहुँची है। वह तलवार की दासी और वैभव की अधिकारिणी बनकर रह गयी है। उसकी प्रगति कुंठित हो गयी है। जनता को अच्छा भोजन, वस्त्र और मकान देना---Welfare State (कल्याणकारी राज्य) ही उसका अन्तिम लक्ष्य बन गया है। वह बहुमत के आधार पर चलती है, इसलिए सत्ता की प्रतिस्पर्धा उसका मूलमन्त्र बन बैठी है। इस सत्ता के लिए, अधिकार के लिए बड़ी-बड़ी लम्बी गोटियाँ फेंकी जाती हैं, चुनावों के लिए बड़ी दूर से पेशबन्दियाँ की जाती हैं, दुनियाभर के प्रपञ्च किये जाते हैं,

लोकप्रियता का नीलाम होता है और पार्टी के अनुशासन के नाम पर लोगों की जबान पर ताला डाल दिया जाता है।

आज की लोकशाही में तीन भयंकर दोष हैं :
अधिकार का दुरुपयोग (Abuse),
गुंडाशाही का भय (Chaos) और
भ्रष्टाचार (Corruption)।

इन दोषों का निराकरण किये बिना सच्ची लोकनीति का विकास हो नहीं सकता। हमारी लोकशाही में इनके अलावा 'सम्प्रदायवाद' और 'जातिवाद' नामक दो दोष और भी हैं। उनका निराकरण हुए बिना देश का कल्याण असम्भव है।

* * *

प्रश्न है कि जहाँ लोकशाही असफल हो रही है, शस्त्र-सत्ता, धन-सत्ता असफल हो रही है, यंत्र और विज्ञान घुटने टेक रहा है, वहाँ मानवता के त्राण का कोई उपाय है क्या?

सर्वोदय इसीका उपाय है।

मानव जिन प्रक्रियाओं का, जिन पद्धतियों का प्रयोग कर चुका है, उनके आगे का कदम है—सर्वोदय।

सृष्टि जिस रूप में हमारे सामने है, उसे समझने की चेष्टा दार्शनिक ने की। वैज्ञानिक ने प्रकृति के नियमों का साक्षात्कार किया, शोध की। परन्तु विश्व को परिवर्तित करने का कार्य न तो दार्शनिक ने किया और न वैज्ञानिक ने। वह कार्य अर्थशास्त्री ने भी नहीं किया। यह किया राज्यनेता ने—जो न दार्शनिक ही था, न वैज्ञानिक। जो लोग दर्शनमूढ़ थे, विज्ञानमूढ़ थे, उन्होंने ही समाज और सृष्टि को बदलने का काम अपने हाथ में लिया। परिणाम? परिणाम यही है कि आज दार्शनिक अलग है, वैज्ञानिक अलग है, नागरिक अलग है। ऐसा विभाजन ही गलत है। यह कृत्रिम है, अवैज्ञानिक है, अप्राकृतिक है। इस द्वैत में से अद्वैत का, इस भेद में से अभेद का निर्माण हो

नहीं सकता। और जब तक अद्वैत और अभेद की स्थापना नहीं होती, समग्रता की दृष्टि से मानव के व्यक्तित्व के विकास की चेष्टा नहीं की जाती, तब तक न तो ये भेद मिटनेवाले हैं और न सच्ची लोक-सत्ता का ही निर्माण होने-वाला है।

*　　　　*　　　　*

भेद की भाव-भूमि पर राज्यशास्त्र और अर्थशास्त्र का जो विकास हुआ है, उसके दोष आज हमारी आँखों के आगे मौजूद हैं। मार्क्स तथा लेनिन, माओ आदि अन्य क्रान्तिकारियों ने अभी तक जो क्रान्तियाँ की हैं, उनके कारण कई महत्त्वपूर्ण बातें हुई हैं। जैसे—रूस, चीन आदि में सामन्तशाही और पूँजीवाद की समाप्ति, उत्पादन के साधनों का समाजीकरण, किसानों और मजदूरों की स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन तथा अपने देशों के पद में अभूत-पूर्व उन्नति आदि। अन्य राष्ट्रों की आजादी की लड़ाई को भी इन क्रान्तियों से बड़ा बल मिला है।

परन्तु इतना सब होने पर भी, इन क्रान्तियों का प्रभाव केवल भौतिक धरातल तक ही रहा है। इनके कारण मानव की भौतिक स्थिति में उल्लेखनीय सुधार हुआ है। जनता की आर्थिक स्थिति में प्रशंसनीय सुधार हुआ है। परन्तु क्या भौतिक उन्नति ही मानव का सर्वोच्च लक्ष्य है? उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्र, उत्तम मकान और उत्तम रीति से अन्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही क्या मानव का चरम उद्देश्य है?

सर्वोदय कहता है—नहीं। केवल भौतिक उन्नति ही पर्याप्त नहीं है। वह क्रान्ति ही क्या, जिसमें मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति न हो? वह क्रान्ति ही कैसी, जिसमें मानवता का नैतिक स्तर ऊपर न उठे?

सर्वोदय कहता है—'जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल!' पत्थर का जवाब पत्थर से देने में, अत्याचार का प्रतिकार अत्याचार से करने में, खून के बदले खून बहाने में कौनसी क्रान्ति है? क्रान्ति है दुश्मन को गले लगाने में, क्रान्ति है अत्याचारी को क्षमा करने में, क्रान्ति है गिरे हुए को ऊपर उठाने में।

और इस क्रान्ति का साधन है—हृदय-परिवर्तन, जीवन-शुद्धि, साधन-शुद्धि और प्रेम का अधिकतम विस्तार।

*　　　*　　　*

सर्वोदय जिस क्रान्ति का प्रतिपादन करता है, उसके लिए जीवन के मूल्यों में परिवर्तन करना होगा। उसके लिए हमें द्वैत से अद्वैत की ओर, भेद से अभेद की ओर जाना पड़ेगा। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की अनुभूति करनी होगी। बाहरी भेदों से दृष्टि हटाकर उसे भीतरी एकत्व की ओर मोड़ना पड़ेगा। प्राणिमात्र में, जगत् के कण-कण में एक ही सत्ता के दर्शन करने होंगे।

'सोऽहम्' और 'तत्त्वमसि' के हमारे आदर्शों में सर्वोदय की ही भावना तो भरी पड़ी है। उपनिषद् में कहा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

—कठोपनिषद् २।२।९, १०

और जब हम इस प्रकार 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' मानने लगेंगे, तो हमारी दृष्टि ही बदल जायगी। फिर न तो किसीसे द्वेष करने का प्रसंग उठेगा, न किसीसे मत्सर। किसीको सताने, किसीका शोषण करने, किसीके प्रति अन्याय करने का प्रश्न ही नहीं उठेगा। 'जो तू है, वही मैं हूँ!'—यह भाव आते ही सारे भेदभाव दूर खड़े झख मारते हैं। घर में, परिवार में ही हम जिस प्रेम से रहते हैं, हँसते-हँसते जिस प्रकार दूसरों के लिए कष्ट उठाते हैं, हर व्यक्ति की सुख-सुविधा का जैसे ध्यान रखते हैं, उसी प्रकार हम सारे विश्व का, मानवमात्र का, प्राणिमात्र का ध्यान रखेंगे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना हमारी रग-रग में भिद जायगी।

*　　　*　　　*

सर्वोदय मानवीय विभूति के विज्ञान में विश्वास करता है। मानव भी उसके लिए विभूति है, सृष्टि भी, देश-काल भी। वह मानता है—फल-

निरपेक्ष कर्तव्य हमारा धर्म है। उसकी मान्यता है—मेहनत इन्सान की, दौलत भगवान् की। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।' मेहनत करना हमारा कर्तव्य है, फल समाज का। 'समाजाय इदं न मम'—उसका आदर्श है। वह पड़ोसी के लिए जीने, पड़ोसी के लिए उत्पादन करने और पड़ोसी का सुख-दुःख बाँटने की कला सिखाता है। वह यह मानता है कि हर बुरे आदमी में अच्छाई होती है। वह हर व्यक्ति के दैवी तत्त्वों के विकास में विश्वास करता है। उसकी मान्यता है कि पाप से घृणा करनी चाहिए, पापी से नहीं। उसकी दृष्टि में कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं; कोई ऊँच नहीं, कोई नीच नहीं। सबका सर्वांगीण विकास उसका लक्ष्य है और प्राणिमात्र से तादात्म्य उसका मार्ग।

*　　　　*　　　　*

सर्वोदय में से सत्य और अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और अस्वाद, सर्वधर्म-समन्वय और श्रम की प्रतिष्ठा, अभय और स्वदेशी आदि व्रत स्वतःस्फूर्त होते हैं। अभी तक इन व्रतों का स्थान व्यक्तिगत मूल्यों के रूप में ही था। बापू ने सार्वजनिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन की साधनाओं को एक में मिलाकर इन व्रतों को सामाजिक मूल्यों का रूप दिया। ज्यों-ज्यों हम इन व्रतों को सामाजिक मूल्य बनाते जायँगे, त्यों-त्यों सर्वोदय का विकास होता जायगा।

*　　　　*　　　　*

बापू ने सर्वोदय के इस दर्शन को जन्म दिया। विनोबा आज इसे विकसित कर रहे हैं। भूदान, सम्पत्तिदान, साधनदान, बुद्धिदान आदि की प्रक्रियाएँ हृदय-परिवर्तन की ही तो प्रक्रियाएँ हैं। मालकियत के विसर्जन के इस देशव्यापी आन्दोलन को सारा विश्व आज चकित होकर देख रहा है। विनोबा दिन-दिन इस दिशा में आगे बढ़ते चल रहे हैं। उनका सत्याग्रह सौम्य से सौम्यतर होता चल रहा है। देश के कोने-कोने में सर्वोदय की यह पावन धारा प्रवाहित हो रही है।

*　　　　*　　　　*

आचार्य दादा धर्माधिकारी सर्वोदय-शास्त्र के विद्वान् व्याख्याता हैं। उनकी विनोदभरी 'हितं मनोहारि' शैली सभी को मन्त्रमुग्ध कर लेती है। 'सर्वोदय-दर्शन' की पंक्ति-पंक्ति में इसकी झाँकी मिलती है। सर्वोदय का कोई भी मुद्दा इसमें छूटा नहीं। सर्वोदय की इस ज्ञान-गंगा में जो अवगाहन करेगा, वह कृतकृत्य हुए बिना न रहेगा।

सर्वोदय की ऐसी सरल, हृदयस्पर्शी और मनोमोहक व्याख्या अभी तक उपलब्ध न थी। और दादा को बैठकर इसे लिखने का अवकाश कहाँ? यह तो सर्वश्री नारायण देसाई, प्रबोध चौकसी, धीरेन भाई, राममूर्तिजी, रामकृष्ण शर्मा और दूधनाथ चतुर्वेदी की कृपा माननी चाहिए, जो उन्होंने दादा के मुख से इतना अमृत निकलवा लिया।

मुझे इसके आस्वादन का सुअवसर मिला, यह मेरा सौभाग्य!

काशी
२५-४-'५७

अनुक्रम

परिशिष्ट :

सर्वोदय के दो नियम

···एक सादी बात हम समझ लेंगे, तो सबका हित सधेगा। हरएक दूसरे की फिक्र रखे, साथ ही अपनी फिक्र ऐसी न रखे कि जिससे दूसरे को तकलीफ हो। इसीको सर्वोदय कहते हैं।

सर्वोदय का यह एक बहुत ही सरल और स्पष्ट अर्थ है और उसीसे यह प्रेरणा मिलती है कि हमें दूसरे की कमाई का नहीं खाना चाहिए, हमारा भार दूसरे पर नहीं डालना चाहिए। हमें अपनी कमाई का तो खाना चाहिए, लेकिन यदि हम दूसरे का धन किसी तरह से ले लें, तो उसे अपनी कमाई नहीं कहा जा सकता। कमाई का अर्थ है : प्रत्यक्ष पैदाइश।

ये दो नियम हम अपना लें, तो सर्वोदय-समाज का प्रचार दुनिया में हो सकेगा।

—विनोबा

सर्वोदय-दर्शन

गांधी-युग

: १ :

यह युग गांधी का युग है। इसलिए आज का सारा वातावरण, सारी पृथ्वी, एक तरह से, उनकी सत्ता से भरी हुई है। हम लोग आज जितनी समस्याएँ अपने सामने उपस्थित देखते हैं, वे सारी-की-सारी समस्याएँ गांधीजी के इस दुनिया में आने के बाद की समस्याएँ हैं। इसलिए पहले जो रूप लेकर समस्याएँ हमारे सामने आती थीं, उनसे बिलकुल अलग रूप लेकर आज वे सामने आती हैं। चाहे वे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ हों, चाहे राष्ट्रीय हों, राजनैतिक हों या आर्थिक। समस्याओं का रूप गांधीजी के बाद बिलकुल बदल गया है।

विचार अपौरुषेय है

आज का युग गांधी का युग है। फिर भी जब मैं कोई विचार आप लोगों के सामने पेश करूँगा, तो आप उस विचार को 'गांधी-विचार' और 'गांधीतर विचार', इस दृष्टि से न देखिये। विचार, विचार है। वह अपौरुषेय होता है। विचार न गांधी का है, न मार्क्स का। विचार न समाजवादी होता है, न सर्वोदयवादी। विचार केवल विचार होता है। जिस प्रकार शब्द आकाश का गुण है, उसी प्रकार विचार मनुष्य का विशेष लक्षण है। विचार मानव-व्यापी होता है। इसलिए जो भी शुद्ध विचार है, उसे आप अपौरुषेय मानें, फिर उसको किसीने भी अभिव्यक्त क्यों न किया हो। हमारे यहाँ इसकी एक मर्यादा है। लोगों ने उसके भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थ लगाये, परन्तु वैसा उसका अर्थ नहीं है। वेदों के बारे में ऐसी एक धारणा हो गयी है कि वेद ईश्वर-प्रणीत हैं। क्या उसने स्वयं इन वेदों को लोगों के सामने गाया या

बतलाया या पढ़ा? बुद्धिवादियों के मुकुट-मणि भगवान् शंकराचार्य ने अपने गीता के पन्द्रहवें अध्याय में 'वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्' (१५ : १५) याने 'वेदान्तकृत् मैं हूँ' श्लोक का भाष्य करते हुए लिखा कि वेदान्तकृत् का अर्थ है कि वेदों का प्रथम प्रवक्ता मैं हूँ। ज्ञान को मैंने अभिव्यक्त किया। मैं उसका निर्माता नहीं हूँ। एक बहुत बड़ी वस्तु यह है कि ज्ञान का कोई निर्माता नहीं होता।

ज्ञान वस्तु-तंत्र होता है। किसीकी बुद्धि में वह अभिव्यक्त होता है और किसीकी वाणी से वह प्रकट होता है।

सर्वोदय में सबसे बड़ी आवश्यकता बौद्धिक अनाग्रह की है। विचार को हम आकाशव्यापी मानें। दुनिया में आज जो समस्या है, वह वैचारिक समस्या है।

रमण महर्षि, श्री अरविन्द और कृष्णमूर्ति जैसे आधुनिक आध्यात्मिक महापुरुषों ने यही मत व्यक्त किया है कि इस युग की जो समस्या है, वह न तो उतनी आर्थिक या राजनैतिक है, जितनी कि वैचारिक है। जहाँ महान् विचारों की एकवाक्यता होती है, वह अक्सर सद्विचार होता है। यों तो सम्मति ही अक्सर सद्विचारों की, यथार्थ विचार की, द्योतक हुआ करती है। जब सब लोगों की राय एक हो जाती है, तब वह उनमें से किसी एक का ही विचार नहीं रहता, वह भगवान् का विचार हो जाता है।

'वाद' की नहीं, 'विचार' की समस्या

तुलसीदासजी की रामायण में एक जगह कहा है कि सुमति और कुमति सबके हृदय में, सबके 'उर' में होती है। सुमति की परख 'सम्मति' है और कुमति की परख 'विमति' है। जहाँ पर मेरा मत 'मेरा' होता है और आपका मत 'आपका' होता है, वहाँ 'मत' प्रधान नहीं होता, 'मेरा' और 'तेरा' प्रधान हो जाता है। विशेषण प्रधान होता है, विशेष्य गौण हो जाता है। 'मेरा मत' में 'मेरा' पर जोर है। 'तेरा मत' में 'तेरा' पर जोर है। 'मेरा' और 'तेरा' दोनों जहाँ समाप्त हो जाते हैं और जहाँ मत ही रह जाता है, वहाँ समन्वय होता है। उसे 'सम्मति' कहते हैं। 'जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।'

'सम्पत्ति' में भी यही अर्थ है कि जहाँ पर सारी चीजें सम्यक् रूप से सबको उपलब्ध होती हैं, वही 'सम्पत्ति' है। सम्पत्ति का मतलब यह नहीं है कि हमको तो खूब मिल जाय, पर दूसरे को कुछ न मिले। सम्पत्ति का अर्थ यह है कि सबको सारी चीजें सम्यक् रूप से प्राप्त होती हैं। क्योंकि ऐसा न हो तो वहाँ विपत्ति आती है। जहाँ अलग-अलग प्रकार की उपलब्धि है, विप्रतिपत्ति है, विरोध है, वहाँ दुःख होता है, संकट होता है। जहाँ सम्पत्ति होती है, वहाँ सम्मति होती है। यह वह समस्या नहीं है, जिसे आप आर्थिक या साम्पत्तिक कहते हैं। आज की दुनिया की सबसे बड़ी समस्या, प्रधान समस्या, है विचार की समस्या, जिसे लोगों ने 'वाद' की समस्या कहा है।

विचार में जब आग्रह आ जाता है, तब वह 'सम्प्रदाय' में परिणत हो जाता है और सम्प्रदाय में जब आवेश और उन्माद आ जाता है, तब वह 'वाद' में परिणत हो जाता है।

आपने कभी-कभी सुना होगा कि 'विचारों का संघर्ष हो रहा है'। अब यह 'विचारों का संघर्ष' एक विरोधाभास है। विचार भी हो और संघर्ष भी हो, यह हो नहीं सकता। विचारों में जब दंगल होने लगता है, तो सारे विचार 'वाद' में परिणत हो जाते हैं।

आग्रह नहीं, निष्ठा आवश्यक

यह विचार-शिविर है। अतः हमारे मन में कोई आग्रह न हो, निष्ठा भले ही हो। निष्ठा अलग वस्तु है, आग्रह अलग। निष्ठा में विचारों का दंगल नहीं होता। विचारों का दंगल जहाँ होता है, विचारों का संघर्ष जहाँ होता है, वहाँ एक विचार दूसरे विचार के मुकाबले में खड़ा हो जाता है और फिर वहाँ एक विचार की जय और दूसरे विचार की पराजय, का उद्देश्य होता है। उसमें से तत्त्व निर्णय या सत्य तक पहुँचने की किसीकी इच्छा नहीं रह जाती। मेरा विचार अगर मेरा है और आपके विचार के मुकाबले में खड़ा है, तो किसका विचार जीता, यही हमारे सामने सवाल होता है।

उसमें से दूसरी बुराई यह पैदा होती है कि हम दूसरे का जवाब सोचने में ही सारा समय बिता देते हैं। आपका सवाल है, मेरा जवाब है। सवाल

भी खड़ा है, जवाब भी खड़ा है। जवाब सोचने में दोनों का सारा समय बीत गया, तो समस्या की तरफ ध्यान देने के लिए फुर्सत ही किसीको नहीं है। जीवन किनारे रह गया, समस्याएँ किनारे रह गयीं। आपका सवाल और मेरा जवाब, इसीमें सारा समय बीत गया। भगवद्गीता में ऐसे लोगों को 'वेदवादरताः' (२ : ४२) कहा है। ये सब वेदवादी हैं, ये वेदान्ती नहीं हैं। इनको सिद्धान्त से कोई मतलब नहीं होता।

इसलिए आप कहीं निरुत्तर हो जायँ, तो नम्रतापूर्वक यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि हमारे पास उत्तर तो नहीं है, लेकिन हमारी बुद्धि का समाधान भी नहीं हुआ है। बौद्धिक समाधान बिलकुल अलग चीज है और दलील से दूसरे की दलील काटकर उसको निरुत्तर कर देना बिल्कुल अलग चीज है। निरुत्तर करना तो एक तरह का दंगल है। उस दंगल में जिसके पास पेंच की जितनी ज्यादा शक्ति होगी, जो अधिक तर्क-कुशल होगा, वह दूसरे को निरुत्तर कर सकता है।

हम विचार तो अवश्य करें, लेकिन इस दृष्टि से करें कि दूसरों के सामने जो प्रश्न उपस्थित होते हैं, उनको पहले अपने प्रश्न मान लें। 'ये प्रश्न मेरे प्रश्न हैं, अब मुझे अपनी बुद्धि को समाधान देना है, तो किस प्रकार से मैं इन प्रश्नों का विचार करूँ, इसमें दूसरों से किस प्रकार सहायता लूँ'—इस तरह से विचार करें।

आज की दुनिया की समस्या विचार की समस्या है और विचार को अगर दुनिया में प्रस्थापित करना है, तो सम्प्रदाय और वाद का निराकरण करना होगा। इसका आरम्भ प्रथम पुरुष से करना होगा। 'प्रथम पुरुष' को हिन्दी में 'उत्तम पुरुष' कहते हैं। भगवद्गीता में कहा है—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (१५ : १७)। यही उत्तम पुरुष है। जब 'प्रथम पुरुष' नम्र होकर अपने से आरम्भ करता है, तो वही 'उत्तम पुरुष' हो जाता है। हम विचार का आरम्भ, याने बौद्धिक अनाग्रह और बौद्धिक निष्ठा का आरम्भ, अपने से करें। दुनिया में आज जितने प्रमुख वाद हमारे सामने खड़े हैं, उन वादों का हमें खण्डन नहीं करना है, उन वादों का समन्वय करना है।

वैचारिक भूमिका में भी अहिंसा

गांधीजी ने हमें जो विचार दिया, उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी वैचारिक भूमिका में भी अहिंसा है। दूसरों के विचारों का निराकरण करना है, दूसरे विचारों को दुनिया में परास्त करना है और अपने विचार की प्रस्थापना करनी है, इस भूमिका को उन्होंने कभी भी स्वीकार नहीं किया।

गांधी-सेवा-संघ के सावली (मध्यप्रदेश) के सम्मेलन में जब यह विचार आया कि गांधीजी के विचारों का प्रचार करने के लिए, 'गांधी-वाद' का प्रचार करने के लिए, कोई योजना बनायी जाय, तब गांधीजी ने एक बात हम लोगों से कही, जो अन्त तक हम लोगों के कान में गूँजती रहेगी। उन्होंने कहा कि "गांधीवाद जैसी कोई चीज कम-से-कम मेरे दिमाग में तो नहीं है। किसी नये वाद की या सम्प्रदाय की स्थापना करने के लिए मैं दुनिया में नहीं आया हूँ। मैंने ऐसा कोई उपद्रव नहीं किया है।" यह एक ऐसी बात उन्होंने कह दी, जिसे दुनिया के सारे बुद्धिवादियों को बहुत नम्रतापूर्वक अपना लेना चाहिए।

बुद्धिमान् लोग, प्रोफेसर, वकील, डॉक्टर, अखबारनवीस, संस्कृत के पण्डित आदि अक्सर कहते हैं कि आप अगर अपनी बात बुद्धि से, विचार से हमको समझा देंगे, तो हम मानेंगे, दूसरी तरह से नहीं मानेंगे। एक बुद्धिमान्, विचारशील मित्र ने तो यहाँ तक कह डाला था कि "आपका गांधी वैचारिक-क्षेत्र में untrained intellect है, याने वह 'दीक्षित' नहीं है, आधुनिक विद्यासम्पन्न नहीं है, उसकी प्रज्ञा अशास्त्रीय है। हमें आप बुद्धि से गांधी की बात समझा सकेंगे, तो मानेंगे।"

मैंने कहा, "तब या तो आप मुझे समझा देंगे या मैं आपको समझा दूंगा। और फिर जो समझ जायगा, वह दूसरों को समझायेगा।"

कहने लगे, "नहीं, यह नहीं। दुनिया में आम जनता समझाने से माननेवाली नहीं है।"

मैंने कहा, "आपने तो बुद्धि का आधार यहीं छोड़ दिया। आपका तो बुद्धि में विश्वास ही नहीं है।"

वे मुझसे कहने लगे, "आप हजार कीजिये, ये सत्ताधारी और सम्पत्ति-धारी समझाने से माननेवाले नहीं।"

मैंने पूछा, "तब क्या करना होगा?"

कहने लगे, "इनको तो डंडे से दुरुस्त करना होगा।"

"तब तो" मैंने कहा, "आरम्भ अपने से ही करना चाहिए। फिर आप क्यों कहते हैं कि आपको समझाना चाहिए? आप अपने लिए तो कहते हैं कि मुझे समझाना चाहिए और दूसरों के लिए कहते हैं कि इनको समझाने से काम नहीं चलेगा, उनके तो सिर ही फोड़ने पड़ेंगे।"

बुद्धि-निष्ठा के लक्षण

बुद्धि-निष्ठा का प्रथम लक्षण यह है कि मनुष्य को अपनी बुद्धि में जितना भरोसा हो, उतना ही दूसरे की बुद्धि में भी होना चाहिए। नहीं तो हम उसे बुद्धिनिष्ठ कैसे मानें? जो केवल अपनी बुद्धि में भरोसा रखता है और दूसरे की बुद्धि में भरोसा नहीं रखता, उसमें बुद्धि का भरोसा ही नहीं है। वह बुद्धिवादी है, बुद्धिनिष्ठ नहीं है, बुद्धियोगी नहीं है। **'ददामि बुद्धियोगं तम्'** (गीता १०:१०) 'मैं बुद्धियोग देता हूँ', भगवद्गीता ने कहा, 'बुद्धिवाद देता हूँ' नहीं कहा।

बुद्धि-निष्ठा का और एक लक्षण।

एक स्टेशन पर एक दफा ऐसा मौका आया कि एक मित्र की मोटर हमें ट्रेन पर चढ़ानी पड़ी। नदी में बहुत बाढ़ थी। स्टेशन-अधिकारी के पास एक दोस्त को भेजा। वह लौटकर कहने लगा कि "वह तो 'वैगन' देता ही नहीं है। इतनी जल्दी 'वैगन' मिल नहीं सकती कि हमारी मोटर यहाँ से वहाँ पहुँच जाय और वहाँ हमें तुरन्त मिल जाय। मैंने बहुत समझाया कि हमें अभी जाना है, नदी में बाढ़ है।"

दूसरे मित्र बोल उठे, "सौ रुपये का नोट क्यों नहीं दिखा दिया? फौरन मान लेता।"

"सौ रुपये के नोट से कैसे मान लेता?" मैंने पूछा, "अभी उसके पास 'वैगन' ही नहीं है, तो वह सौ रुपये के नोट में से कहाँ से आ जाती?"

उसने कहा, "ऐसा माई का लाल दुनिया में अब तक पैदा ही नहीं हुआ है, जो सौ रुपये का नोट लेकर भी न माने!"

यह व्यक्ति धनवान् था। धनवान् का धन में इतना विश्वास!

एक अन्य व्यक्ति कहने लगा, "मुझे क्यों नहीं ले गये? जरा आँख दिखाता और डंडा दिखाता, तो फौरन आपको 'वैगन' मिल जाती!"

जिसके पास डण्डा है, उसका डण्डे में इतना विश्वास! और जिसके पास बुद्धि है, चाहे कॉलेज का प्रोफेसर हो, चाहे दूसरा कोई बुद्धिवादी हो, उसका दो ही बातों में विश्वास है। कभी कहता है, "बगैर पैसे के काम नहीं होगा।" कभी कहता है, "बगैर तलवार के काम नहीं होगा और बुद्धि से तो कभी होगा ही नहीं।"

हमारा भरोसा अगर बुद्धि के सिवा अन्य सारी सत्ताओं पर हो, तो हम विचार कैसे करेंगे? विचार के लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि हमारा विश्वास अपनी बुद्धि में हो और मनुष्यमात्र की बुद्धि में हो। मनुष्य का लक्षण यदि हमने बुद्धि मान लिया है, तो हमको यह भी मान लेना होगा कि मनुष्य की सारी शक्ति उसकी बुद्धि में है।

विज्ञान की सफलता का युग

आज युग तो विज्ञान का है, लेकिन सत्ता विज्ञान की नहीं है। विज्ञान के युग में बुद्धि की भी सत्ता नहीं है और विज्ञान की भी सत्ता नहीं है। इस समस्या का समाधान, गांधीजी की प्रक्रिया (टेक्निक) के सिवा और दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। छान्दोग्य-उपनिषद् में वाक्य है, '**बलं वाव विज्ञानाद् भूयः**'—बल विज्ञान से बड़ा है और सैकड़ों विज्ञानवानों को '**एकः बलवान् आकंपयते**'—कँपा सकता है। आईन्स्टीन को यही अनुभव हुआ। संसार के दूसरे वैज्ञानिकों को भी यह अनुभव हुआ। आखिर में उन लोगों ने लिख दिया—हमने अपने वैज्ञानिकों को भी पुलिस की निगरानी में रख दिया है। सत्ता पुलिस की है, विज्ञान की नहीं है। सत्ता शस्त्र की है, विज्ञान की नहीं है। और साथ-साथ दुनिया के सारे राज्य-नेता इस परिणाम पर भी पहुँचे हैं कि शस्त्र की सत्ता का युग समाप्त हो रहा है। नतीजा यह है कि विज्ञान तो

सार्वभौम हो गया, लेकिन मनुष्य की संस्कृति उसके साथ कदम नहीं मिला पा रही है। एक प्रमुख ईसाई धर्मगुरु ने लिखा है कि—यह विज्ञान की विफलता का युग है। पर असल में तो यह विज्ञान की सफलता का युग है और संस्कृति की विफलता का युग है। हमारी संस्कृतियाँ, हमारी सभ्यताएँ (मैं बहुवचन में प्रयोग कर रहा हूँ) विज्ञान के साथ कदम नहीं मिला सकी हैं।

'एकाकी न रमते'

यह हमारी प्रधान समस्या है। इस समस्या को उपनिषद् ने दो वाक्यों में संकेत के रूप में रखा है।

बृहदारण्यक-उपनिषद् में वर्णन आता है कि आत्मा पहले अकेला था। **'एकाकी न रमते।'** अकेलेपन में उसकी तबीयत ही नहीं लगती थी।

जेल में हमें जब डराना-धमकाना होता था, तो सुपरिंटेंडेंट कहता था, एकान्त कोठरी में तनहाई में भेज दूँगा। "तुमको अकेला रखेंगे, जहाँ किसीसे नहीं मिल सकोगे।" बड़ा डर लगता था कि अकेले रहेंगे, तो क्या होगा ? याने अपने ही साथ रहेंगे, तो क्या होगा ? आदमी को सबसे बड़ा डर यह है कि मैं अपने साथ रहूँगा, तो कैसे जीऊँगा। संगति की इच्छा उसकी एक बहुत बड़ी 'आकांक्षा' है।

एकाकी न रमते। अकेले तबीयत नहीं लगती, दूसरे की जरूरत है। जब तक दूसरा न हो, तब तक हमें चैन नहीं है। इसे मनुष्य की सामाजिकता कहते हैं। उपनिषदों ने अपनी भाषा में लिखा, समाजशास्त्री अपनी भाषा में लिखते हैं। लेकिन यह स्वभाव है कि मनुष्य को अकेले अच्छा नहीं लगता, उसे दूसरे की जरूरत होती है। दूसरे के सान्निध्य की और दूसरे की संगति की आकांक्षा में से मनुष्य का चारित्र्य, मनुष्य की सभ्यता और मनुष्य की सामाजिकता का आरम्भ होता है।

कायरता के हाथ में हथियार

दूसरा वाक्य भी बृहदारण्यक-उपनिषद् का ही है। वाक्य इसी तरह शुरू हुआ कि आत्मा पहले अकेला था। अब उसको क्या डर है ? मैं अकेला ही

तो हूँ न ? कोई दूसरा तो यहाँ नहीं है ?" क्यों ? **द्वितीयाद् वै भयं भवति।** दूसरा हो तो डर लगता है। लड़के से कहा कि अँधेरे में अकेले जाओ। तो वह कहता है, "अकेले नहीं जाऊँगा।" "क्यों ?" तो कहता है, "कोई वहाँ होगा !" उसे डर यह है कि वहाँ कोई दूसरा होगा। पहले तो तबीयत नहीं लगती थी कि कोई दूसरा नहीं है, अकेला हूँ। अब वह डरता है कि कहीं दूसरा कोई न हो ! दो तरह की प्रवृत्तियाँ उसमें हैं। पहली आकांक्षा थी कि दूसरा हो। दूसरी यह है कि कहीं दूसरा कोई होगा, तो क्या होगा ? आज की अन्तर्राष्ट्रीय समस्या दूसरे स्वरूप की है। इसका वर्णन हमारे यहाँ के दार्शनिक, राष्ट्र-उपाध्यक्ष डॉ० राधाकृष्णन् ने किया है। उन्होंने कहा है कि आज का जमाना हथियारबन्द कायरता का है। कायरता के हाथ में हथियार है, भीरुता नखशिखान्त हथियारों से लदी हुई है।

अहिंसा के हाथ में गदा

एक जगह राधाकृष्ण की भाँति सत्य की और अहिंसा की मूर्तियाँ हैं। अहिंसा के हाथ में गदा है। अहिंसा के हाथ में गदा क्यों है ? इसलिए कि शस्त्रों का उपयोग शान्ति के लिए होना चाहिए, इसका यह प्रतीक है। शान्ति यदि शस्त्रों की शरण में जायगी, तो क्या शान्ति, शान्ति रह जायगी ? तब तो सत्ता शस्त्र की होगी, शान्ति की नहीं। शान्ति को भी यदि शस्त्र की शरण लेनी पड़े, अहिंसा को भी यदि गदा की शरण लेनी पड़े, तब तो फिर जिसकी गदा बड़ी होगी, उसकी अहिंसा भी श्रेष्ठ होगी। अहिंसा तो कहीं रही ही नहीं। वह गदा-युद्ध ही हो जायगा। उसमें अहिंसा के लिए कहीं स्थान नहीं रहेगा, गदा ही गदा रह जायगी।

जीवन की सम्पन्नता और विपन्नता

दूसरी चीज है—**द्वितीयाद् वै भयं भवति।** दोनों जगह अलग-अलग व्यक्ति हों, यह जरूरी नहीं है। आज मैं कह रहा हूँ कि नारायण देसाई नहीं है, इसलिए तबीयत नहीं लगती। कल नारायण देसाई से मेरा झगड़ा हो जाता है, तो नारायण देसाई है, इसलिए डर लगता है। नारायण देसाई तो वही है, लेकिन उसकी तरफ से मेरा जो रुख था, वह बदल गया है।

उपनिषद् के ऋषि ने यह संकेत किया है कि परायेपन की भावना जहाँ होती है, वहाँ डर पैदा होता है। जहाँ परायेपन की भावना न हो, जहाँ दूसरा अपना हो जाता है, वहाँ जीवन द्विगुणित हो जाता है, सम्पन्न हो जाता है और जहाँ दूसरा अपना न हो, दूसरा दूसरा हो, परायेपन की, दूजेपन की भावना जहाँ हो, वहाँ वह दूसरा हमारे लिए दुःखद हो जाता है और जीवन विपन्न हो जाता है।

सम्पत्ति और विपत्ति का मैंने एक लक्षण प्रारम्भ में वताया था। यहाँ मैंने इसकी व्याख्या आपके सामने रख दी है कि जहाँ मनुष्य में परायेपन की भावना कम होती है या विलकुल नहीं होती, वहाँ जीवन सम्पन्न होता है। जहाँ परायेपन की भावना अधिक होती है या तीव्र होती है, वहाँ पर जीवन विपन्न हो जाता है।

हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया

निष्कर्ष क्या निकला? परिस्थिति में से, संस्थाओं में से, समाज-रचनाओं में से और मनुष्य की अपनी प्रवृत्ति में से हमें परायेपन की भावना का निराकरण करना है। इसलिए गांधीजी ने इस प्रक्रिया को वहुत अन्वर्थक और यथार्थ नाम दिया कि हमारी प्रक्रिया हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया है। लोगों ने बहुत मखौल किया कि हृदय-परिवर्तन क्या है? कुछ लोगों ने कहा कि हृदय ही नहीं है, तो परिवर्तन कहाँ है? वैज्ञानिकों ने यहाँ तक लिखा है कि "डार्विन ने हमारे जीवन में से मन को निर्वासित कर दिया और अब ये नये डार्विनवाले जीवन को ही निर्वासित कर रहे हैं।" याने दुनिया में सब कुछ रहेगा, सिर्फ जीवन के लिए यहाँ जगह नहीं है। हृदय और मन को किसी भौतिक शास्त्र में जगह नहीं मिल रही थी और मानस-शास्त्रियों को तो कोई शास्त्री ही मानने के लिए तैयार नहीं था। आज भी ऐसे वहुत लोग नहीं हैं, जो मानस-शास्त्री को एक सावित शास्त्री मानने के लिए तैयार हैं। कहते हैं कि आखिर अपने मन का ही तो शास्त्री है। प्रयोगशाला में जो विज्ञान है, उससे बाहर विज्ञान कहीं है ही नहीं, ऐसा जिन लोगों ने मान लिया, उन लोगों ने गांधी पर यह अभियोग लगाया कि यह मनुष्य 'अवैज्ञानिक' बात कहता है। क्योंकि मनुष्य के

हृदय से अधिक अवैज्ञानिक और क्या हो सकता है? सबसे ज्यादा अवैज्ञानिक मनुष्य का हृदय है। गांधी जब हृदय-परिवर्तन की बात कहता है, तो अवैज्ञानिक बात कहता है।

यह है समस्या का स्वरूप। आज की समस्या वैचारिक समस्या है और वैचारिक समस्या के निराकरण की प्रक्रिया मत-परिवर्तन की और हृदय-परिवर्तन की ही प्रक्रिया हो सकती है। आज मानवीय मूल्यों की स्थापना की आकांक्षा है। मानवीय मूल्यों की स्थापना, मनुष्य की बुद्धि और मनुष्य के हृदय की मार्फत ही हो सकती है। मानवीय मूल्यों की स्थापना का दूसरा कोई माध्यम नहीं है। इस सम्बन्ध म प्रत्यक्ष जीवन में से, आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में से, एकाध उदाहरण लीजिये।

गांधी 'पागल' थे ?

गांधीजी ने १९३९ में हिटलर को एक चिट्ठी लिखी कि तुम लड़ाई मत करो और चर्चिल को भी एक चिट्ठी लिखी कि दुनिया में तुम्हारा राष्ट्र प्रमुख राष्ट्र है, शस्त्र-शक्ति में सारी दुनिया तुम्हारा लोहा मानती है, तुम शस्त्रास्त्र फेंक दो। उन दिनों हम लोग वहीं उनके आसपास रहते थे। लोगों ने कहा कि अब तक तो हम समझते थे कि यह आदमी थोड़ा-बहुत विचार कर सकता है, इसके दिमाग है। अब यह हिटलर को चिट्ठी लिखता है। यह तो हद हो गयी! भला इससे भी ज्यादा अविवेक कुछ हो सकता है? लोगों ने कहा कि बड़े आदमियों में ऐसा कुछ होता है। एक-एक खब्त उन पर सवार हो जाता है, फिर उनके दिमाग का सन्तुलन बिगड़ जाता है। अब वह गांधी था, इसलिए ज्यादा कुछ कहने की किसीकी हिम्मत नहीं होती थी। लोगों ने यहाँ तक कहा कि इसका मानसिक संतुलन अब नहीं रह गया है।

आज जवाहर क्या कहते हैं ?

जाने दीजिये बेचारे गांधी को, आज जवाहरलालजी क्या कह रहे हैं? लोगों ने गांधी को पागल कह लिया। लेकिन उसके बाद आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी की जो बैठक हुई, उसमें जवाहरलालजी भी थे। जवाहरलालजी ने

बताया कि व्यवहार ऐसा है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ऐसी है, तो बापू ने जवाब दिया था कि "लोग मुझसे कहते हैं कि यह तो हवाई किले बनाया करता है। लेकिन मैं आज तक एक बार भी हवाई जहाज में नहीं बैठा हूँ। इसी जमीन पर रहता हूँ, इसी पर चलता हूँ। मैं आज आपसे कह देना चाहता हूँ कि यह जवाहरलाल मेरा उत्तराधिकारी होनेवाला है और आगे का जमाना ऐसा आनेवाला है कि मेरी बात 'यह' कहेगा। जो बात आज मैं कह रहा हूँ और जिसके लिए लोग मुझे पागल कह रहे हैं, वही मेरी बात आगे चलकर जवाहरलाल कहेगा।"

आज की अंतर्राष्ट्रीय सभाओं में जवाहरलालजी की इतनी इज्जत क्यों हो रही है। आखिर वहाँ जाकर उन्होंने कहा क्या ? यही न कि भाई, हथियार मत चलाओ ! अमेरिका से यही कहा, चीन से यही कहा। उस वक्त गांधी की बात मानने को कोई तैयार नहीं था। आज ये सब लोग जवाहरलालजी को इस तरह से मानते हैं और उनका ऐसा स्वागत करते हैं, जैसा दुनिया में किसी बादशाह का या किसी संत का कभी नहीं हुआ होगा।

दुनिया में जो ये सारी बातें हो रही हैं, वे गांधी की विभूति का गौरव हैं, फिर उनका प्रकाश चाहे किसीके भी व्यक्तित्व के द्वारा होता हो—वह विभूति, जो आज के युग के साथ समरस हो गयी है, एकरूप हो गयी है। उस विभूति का यह गौरव है, जो आज जवाहरलालजी की प्रतिष्ठा के रूप में प्रकट हो रहा है। आज समाज में और परिस्थिति में ही यह आकांक्षा है। इसलिए फारमोसा में जब यह व्यक्ति कहकर आता है कि फारमोसा तुम्हारे अपने देश का एक अविभाज्य अंग है, लेकिन इसे तुम शस्त्रों से मत लो, तो माओ भी इसकी बात मान लेता है। कम-से-कम इतना तो सोचता है कि इसकी बात विचार करने के योग्य है।

गोआ की समस्या

वही जवाहरलालजी जब अपने देश में आते हैं, तो गोआ की समस्या के बारे में कहते हैं कि "मैं हथियार नहीं चलाऊँगा।" लोग पूछते हैं, "फौज रखते हो और हथियार नहीं चलाते ?

"फौज नहीं रखता और हथियार नहीं चलाता, तो आप कहते कि विवशता है। मेरे पास फौज है, मेरे पास हथियार हैं और फिर भी मैं हथियार नहीं उठाता, तो विवशता से तो ऊपर उठता ही हूँ। आप मुझे बेवकूफ कह सकते हैं, लेकिन कायर तो नहीं कह सकते। हाँ, मैं यदि यह कहता कि अमेरिका के खिलाफ हथियार नहीं उठाता, रूस के खिलाफ हथियार नहीं उठाता, तो आप कहते कि उठा ही नहीं सकते हो। इसलिए तुम विवशता को सद्गुण बना रहे हो। विवशता तुम्हारी शक्ति नहीं हो सकती, लाचारी है, मजबूरी है, तुम कर क्या सकते हो ? लेकिन मैं तो गोआ के बारे में ऐसा कह रहा हूँ।"

जिसके हाथ में सत्ता हो और जो राज्य-नेता रहा हो, वह सामर्थ्य रहते हुए भी हथियार चलाने से इनकार कर दे, ऐसा तो उदाहरण मैं समझता हूँ कि अशोक के बाद यही हुआ है। इतिहास में ऐसे उदाहरण साधु-संतों के देखने को मिलते हैं। भीष्म का उदाहरण है, लेकिन उसकी भूमिका बिलकुल भिन्न है। आज के अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में जब आप इस वस्तु को रखेंगे, तो आप मेरे साथ सहमत हो जायेंगे कि यह एक आकांक्षा आज के युग में है।

दूसरी तरफ गोआ में हमारे कुछ भाई, जिनकी वीरता, त्याग और देश-भक्ति के विषय में किसीको कोई सन्देह नहीं हो सकता और आज हम सब जिनके सामने नतमस्तक ही होंगे, गोआ में सत्याग्रह कर रहे हैं। सवाल है कि आखिर इन्हें सत्याग्रह का ही एक उपाय क्यों सूझा ? फारमोसा में कोई सत्याग्रह करने नहीं गया। कोरिया में कोई सत्याग्रह करने नहीं गया। क्योंकि, वहाँ की हवा में और वहाँ की मिट्टी में ही सत्याग्रह नहीं था। यह सत्याग्रह चाहे शबल सत्याग्रह हो या चाहे शुद्ध सत्याग्रह हो। वह सवाल छोड़ दीजिये। थोड़ी देर के लिए आप तटस्थ वृत्ति से वस्तुस्थिति को सोचें, तो आपको यह मानना पड़ेगा कि इस देश में जब कभी अन्तिम उपाय-योजना का विचार मनुष्य के मन में आता है, तो उसके मन में सत्याग्रह का विचार आता है।

गांधी की विभूति के दर्शन

इसलिए मैंने आपसे कहा कि इस युग में जहाँ मैं देखता हूँ, वहाँ सारी समस्याओं में से मुझे गांधी की विभूति के ही दर्शन होते हैं। हर जगह उनकी

सत्ता का भान होता है। आज सत्याग्रह की वैचारिक पकड़ इस देश पर इतनी है कि हम जहाँ शस्त्र का उपयोग कर सकते हैं, वहाँ भी शस्त्र का उपयोग नहीं कर रहे हैं। शस्त्र का उपयोग निःशस्त्र प्रतिकारियों के साथ हो रहा है। शान्तिमय शूरता दिखानेवाले लोगों पर आसुरी अत्याचार गोआ में हुआ, यह दृश्य दुनिया के सामने उपस्थित हुआ।

दो अलग-अलग उदाहरण हमने देखे। एक तो फारमोसा का, जहाँ जवाहरलालजी की बात मानी गयी कि शान्ति से, समझौते से, काम लिया जाय। दूसरा गोआ का। जवाहरलालजी का आशय क्या था? दुनिया में आज आकांक्षा यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान युद्ध से न हो, शस्त्र-प्रयोग से न हो, विवेक से हो और एक-दूसरे को समझाने-बुझाने से ही हो। इस भूमिका पर वे आरूढ़ हो गये। दूसरी तरफ उन लोगों का शस्त्रों में ही विश्वास है। जिन लोगों का विश्वास न कभी गांधी में था, न उसकी सत्याग्रह की नीति में कभी था। उन लोगों को भी आज सत्याग्रह के प्रतिकार के अतिरिक्त दूसरे किसी तन्त्र का विचार नहीं सूझता है।

जीवन की दृष्टि से और समस्याओं की दृष्टि से यह परिवर्तन एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है।

सद्‌गुण का दुरुपयोग

बम्बई में शराब की एक दूकान में एक खादीवाला बैठा-बैठा शराब पी रहा था। मेरे एक मित्र खादी के बड़े खिलाफ थे। कहते थे, "खादी में क्या रखा है?" उन्हें तो सबूत मिल गया। कहने लगे, "देखो, यह तुम्हारा खादीवाला शराब पी रहा है।" मैंने कहा, "हाँ, खादी पहने हुए है और शराब पी रहा है, इतना तो मैं मानता ही हूँ।" कहने लगे, "तब और क्या नहीं मानते? इससे तो हम अच्छे हैं, जो खादी नहीं पहनते। कम-से-कम शराब तो नहीं पीते!" मैंने कहा, "शराब नहीं पीते, यह तो अच्छा ही करते हो, लेकिन खादी नहीं पहनते, यह कैसे अच्छा हो गया?" कहने लगे, "यह खादीवाला शराब जो पी रहा है!" मैंने जवाब दिया, "आपकी दृष्टि क्रांतिकारी की नहीं है। यह खादीवाला शराब नहीं पी रहा है, यह शराबखोर खादी पहनने

लगा है। देखने का फर्क है। खादी के कपड़े को जो सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, उससे वह लाभ उठाना चाहता है।" तो कहने लगे, "यह खादी का दुरुपयोग करता है।" मैंने कहा, "हाँ, दुनिया में अच्छी चीज का ही दुरुपयोग होता है, बुरी चीज का कभी नहीं।" दुर्गुण का भी कभी दुरुपयोग हुआ है? भगवान् के नाम का दुरुपयोग होता है कि शैतान के नाम का? दुनिया में जितनी अच्छी चीजें हैं, जितने प्रगतिकारक और उन्नतिकारक तत्त्व हैं, उन सबका दुरुपयोग होता है। अंग्रेजी में एक वाक्य है कि दुर्गुण को जब सद्गुण का गौरव करना होता है, तो दुर्गुण सद्गुण का स्वांग रचता है। दम्भ, ढोंग दुर्गुण द्वारा सद्गुण के चरणों में व्यक्त की गयी निष्ठा है। इसलिए जब लोग यह कहते हैं कि यह झूठा सत्याग्रह है, यह दम्भ है, तो म उसकी गहरी चर्चा में नहीं जाता। मैं यह देख लेता हूँ कि इस युग का यह लक्षण है कि आज सत्याग्रह की नीति समाज में सुप्रतिष्ठित हो गयी है और क्रान्ति की प्रक्रिया में उसका स्थान अब अविचल हो गया है। आगे आनेवाली क्रान्ति की जो प्रक्रिया होगी, वह सत्याग्रह के अनुरूप होगी। अगर वह सत्याग्रह की ही प्रक्रिया हो, तो सबसे बढ़कर होगी, यह आज के जमाने का संकेत है।

जागतिक समस्या का स्वरूप

यह है वैचारिक भूमिका में जागतिक समस्या का स्वरूप। वाद, विचार और सम्प्रदाय में क्या भेद है? विचार झरने की तरह नित्य प्रगतिशील होता है। बहता हुआ झरना जैसे प्रवाहशील होता है, वैसे ही विचार में नित्य प्रवाह होता है। गांधी ने कहा कि मेरा 'वाद' और 'सम्प्रदाय' हो ही नहीं सकता, मेरा तो प्रवाह है। विचार में प्रवाह होता है, उसमें विकास होता है। विचार जब पानी की तरह जमकर बरफ बन जाता है, तब वह सम्प्रदाय या वाद बन जाता है। तब उसमें कठोरता और कठिनता आ जाती है। बर्फ के ढेले जैसे फेंककर मारे जा सकते हैं, लगते हैं, चोट करते हैं, वैसे पानी फेंककर नहीं मारा जाता। इसलिए हम यहाँ जो विचार करेंगे, वह नम्रतापूर्वक, किसी प्रकार का आग्रह न रखते हुए करेंगे। विचार में पहले आग्रह आता है। आग्रह के बाद आक्रमण आ जाता है। आक्रमण में हार और जीत की मनोवृत्ति होती है,

जय-पराजय की मनोवृत्ति होती है। हमको किसी विचार की पराजय नहीं करनी है, और अपने विचार की स्थापना नहीं करनी है। हमें तो सत्य तक पहुँचना है। मानवीय जीवन का जो सत्य हो सकता है, वहाँ तक हमें पहुँचना है। हम बुद्धि से नम्रतापूर्वक काम लेंगे। बुद्धि से काम लेने में वाद के बाँध की रुकावट है। दूसरी रुकावट यह है कि मनुष्य को 'बुद्धि' का अभिमान तो है, लेकिन इतना अभिमान है कि वह उसका उपयोग नहीं करना चाहता। भगवान् ने मनुष्य को बुद्धि दी और मनुष्य को भगवान् से शिकायत है कि तूने हमको बुद्धि क्यों दी ? अब हम इसका वदला लेंगे, इसका उपयोग हम कभी नहीं करेंगे। इस तरह से बुद्धि के खिलाफ विद्रोह करने के लिए वह भगवान् के खिलाफ खड़ा हो गया है। बुद्धिवादियों का विश्वास या तो सत्ता में है, शस्त्र में है या सम्पत्ति में है। बुद्धिवादी का विश्वास बुद्धि में बिलकुल नहीं रह गया है। यह कोई वास्तविक और यथार्थ बुद्धि-निष्ठा नहीं है। इसमें से यह एक अन्तर्विरोध पैदा हो जाता है, जो अन्तर्विरोध हमारे अपने व्यक्तित्व में भी आया है। वह अन्तर्विरोध हमारे व्यक्तित्व में दो आकांक्षाओं के रूप में भी आता है। एक तो, **'एकाकी न रमते'** और दूसरा, **'द्वितीयाद् वै भयं भवति।'** इसका प्रतिबिम्ब सामाजिक परिस्थिति में, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में आज हथियारबन्द कायरता के रूप में और मनुष्यों के पारस्परिक अविश्वास के रूप में प्रकट है। परिणाम यह है कि विज्ञान तो अंतर्राष्ट्रीय हो गया, विज्ञान सार्वभौम हो गया, लेकिन मनुष्यों की सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ विज्ञान के साथ कदम नहीं मिला पा रही हैं।

संस्कृतियों और सभ्यताओं का संबंध मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों से है। मनुष्यों के पारस्परिक संबंध परिस्थिति पर भी निर्भर होते हैं और मनुष्यों की वृत्तियों पर भी निर्भर होते हैं। इसलिए क्रांति का कार्य द्विविध हो जाता है। एक तरफ से परिस्थिति का परिवर्तन और दूसरी तरफ से हमारी मनोवृत्ति का परिवर्तन। परिस्थिति का परिवर्तन करने के लिए जो लोग आगे बढ़ते हैं, उन्हींको 'क्रांतिकारी' कहते हैं। उनका अपना मनः-परिवर्तन अगर न हुआ होगा, उनकी अपनी वृत्ति में अगर परिवर्तन न हुआ होगा, तो परिस्थिति में परिवर्तन करने की क्षमता, योग्यता, उनमें नहीं आ सकती। इसलिए आरम्भ

अपने हृदय-परिवर्तन से होता है। हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया ही प्रधान प्रक्रिया है। क्रांति की प्रक्रिया के लिए यह गांधी की बहुत बड़ी देन है। जमाने का रुख इस तरफ को है कि अब समस्याओं का समाधान गांधी की प्रक्रिया के सिवा और किसी प्रक्रिया से हो नहीं सकता। इस अर्थ में इस युग की विभूति गांधी हैं और यह गांधी का युग है। गांधी हमारे देश का था, हमारा पिता था, गांधी हमारा सगा-संबंधी था, इसलिए विशेष प्रेम के कारण हम यह दावा नहीं कर रहे हैं। लेकिन जब हम यह कहते हैं कि गांधी ही इस युग का युग-पुरुष था, गांधी के पश्चात् समस्याओं का स्वरूप भी एक नये ढंग से हमारे सामने पेश होता है, तो हमारा आशय इतना ही है कि अब मनुष्य राज्य-सत्ता, शस्त्र-सत्ता और धन-सत्ता—तीनों सत्ताओं से कुछ ऊपर उठ रहा है। लोगों ने यह सवाल पूछा था कि लीग ऑव नेशन्स और संयुक्त राष्ट्रसंघ क्यों असफल हुए? तो किसीने जवाब दिया, इसलिए कि वे सरकार नहीं हैं। सवाल हुआ कि "इन्हें सरकार बनाने के लिए क्या करना चाहिए?" तो कहा, "इन्हें फौज दे देनी चाहिए।" "इन्हें फौज—शस्त्र-शक्ति कौन देगा?" "अमेरिका और रूस?" तब तो कौरव-पाण्डवों की द्यूत-क्रीड़ा की गति होगी। इधर से भीम धमकाता है, उधर से शकुनि चालबाजी करता है। ये पाँसे इस तरह से पलटते चले जायँगे। इसलिए जवाहरलालजी ने वहाँ कहा कि शस्त्र-शक्ति अब हमारी व्यवहार-नीति हो ही नहीं सकती। वह तो पुरानी चीज हो गयी।

शस्त्र-शक्ति, राज्य-शक्ति और धन-शक्ति में जिन लोगों का विश्वास था, वे सब-के-सब अब दूसरी किसी मानवीय शक्ति की खोज में हैं, क्योंकि अब मानवीय मूल्यों की स्थापना करनी है।*

---

*हरिजन-आश्रम, अहमदाबाद के विचार-शिविर में ता० २१-८-'५५ का प्रातः-प्रवचन।

सर्वोदय के बुनियादी सिद्धान्त : २ :

आज के युग की जो आकांक्षा है, उससे सर्वोदय के लिए अनुकूल वातावरण पैदा हुआ है। उस आकांक्षा की पूर्ति के लिए सर्वोदय के सिद्धान्त और नीति के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं है। सर्वोदय का दर्शन समग्र जीवन के लिए होना चाहिए, निरपेक्ष होना चाहिए और सार्वभौम होना चाहिए। उसमें देश-काल की मर्यादाएँ न होनी चाहिए। लोग कालानुक्रम और इतिहास के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। यहाँ काल-क्रम और इतिहास की बात नहीं कही जा रही है। कालातीत सिद्धान्त के माने यह हैं कि सिद्धान्त के विनियोग बदलते रहेंगे, उसे लागू करने की पद्धति में परिवर्तन होता रहेगा, लेकिन सिद्धान्त नहीं बदलेगा।

सिद्धान्त पारमार्थिक हों

पुरानी भाषा में कहूँ, तो सिद्धान्त पारमार्थिक होना चाहिए, आर्थिक नहीं। समाज के मूल्य आर्थिक नहीं होने चाहिए। भौतिक विज्ञान के इस युग में यह कुछ अटपटा लगेगा। विज्ञान में प्रयोग होता है, खोजें होती हैं, पर उसमें अन्तिम सिद्धान्त नहीं मिलते। समाज के मूल्य आर्थिक और केवल भौतिक दृष्टि से वैज्ञानिक भी नहीं होने चाहिए, बल्कि पारमार्थिक होने चाहिए।

बर्ट्रेण्ड रसेल आज के एक बड़े विचारक हैं। वे वैज्ञानिकों, गणित-शास्त्रियों और बुद्धिवादियों में अग्रणी हैं। राज्यशास्त्र, समाजशास्त्र और नीतिशास्त्र की एक पुस्तक के अन्तिम अध्याय में उन्होंने लिखा है कि आज की दुनिया की समस्या को हल करने के लिए भारतवर्ष को ही आगे आना चाहिए। अपने विवेचन में उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि आदर्श और उद्देश्य नैतिक होने चाहिए। बर्ट्रेण्ड रसेल ने जिसे 'नैतिक' कहा है, उसीको हमारे यहाँ के शास्त्रों ने 'पारमार्थिक' कहा है। शंकराचार्य ने 'परमार्थ' की व्याख्या की है, उसका पदार्थ लक्षण बताया है—'एकरूपेण अवस्थितः यः अर्थः सः

परमार्थः।' 'अर्थ' का मतलब है 'प्राप्तव्य'। 'पुरुषार्थ' याने पुरुष के लिए जो 'प्राप्तव्य' है। 'परम अर्थ' याने ऐसी प्राप्य वस्तु, जो सदा एक रूप में अवस्थित रहती है, जिसमें परिवर्तन नहीं होता। वादों में बँधे हुए सिद्धान्तों की बात छोड़िये। प्रत्यक्ष समाज के मूलभूत सिद्धान्त त्रिकालाबाधित, सार्वभौम और सार्वकालिक होने के कारण पारमार्थिक होते हैं।

'सर्वोदय' का अर्थ

'सर्वोदय' शब्द भले ही नया हो, पर उसका अर्थ सबका जीवन साथ-साथ सम्पन्न हो, इतना ही है। जीवन का अर्थ है विकास, अभ्युदय या उन्नति। सबका सह-विकास हो, इसलिए 'सर्वोदय'। लेकिन पुराने जमाने में 'अभ्युदय' शब्द का प्रयोग 'ऐहिक वैभव' के अर्थ तक ही सीमित था। इसलिए गांधीजी ने केवल 'उदय' शब्द का प्रयोग किया। एक साथ समान रूप से सबका उदय हो, यही सर्वोदय का उद्देश्य है।

सब लोग जियें और एक-दूसरे के साथ-साथ जियें। शास्त्रीय परिभाषा में 'जीवन का विकास और जीवन का अधिक-से-अधिक विस्तार'। हमने जीवन को परम मूल्य माना है। इसमें किसीका झगड़ा नहीं है। हर वाद के अनुसार यही परम मूल्य हो सकता है। दुनिया में जीवन का विकास और विस्तार करना है, इस विषय में चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, अर्थवादी हो, भौतिक विज्ञान-वादी हो या राजनीतिज्ञ, किसीको कोई आपत्ति नहीं होगी। सब इसे मानेंगे।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु

हम चाहते हैं कि सबका जीवन सम्पन्न हो, सौ-फी-सदी का जीवन सम्पन्न हो। यहाँ पर आज तक के सिद्धान्तवादियों और सर्वोदय के विचारकों में मूलभूत अंतर होगा। दूसरे सिद्धान्तवादी कहते हैं कि होना तो यह चाहिए कि सौ-फी-सदी की भलाई हो, पर वह व्यवहार्य नहीं है, इसलिए आपका सर्वोदय इच्छा या आकांक्षा हो सकता है, उसका व्यवहार में विनियोग करना असम्भव है। पर हमारा यह दावा है कि सर्वोदय जीवन की केवल एक दर्शन या वृत्ति ही नहीं, वह व्यवहार की नीति भी है। वह दर्शन है,

मनोवृत्ति है और व्यवहार की नीति भी है। इसलिए अगर यह आक्षेप किया जाता है कि सबका समान रूप से सुखी होना, सम्पन्न होना असम्भव है, तो उसका विचार गंभीरतापूर्वक करना चाहिए।

मनुष्य के आदर्श के संकल्प में सबका समावेश होना चाहिए। संकल्प आंशिक या छोटा न हो, समग्र हो। सबका भला हो, सबका कल्याण हो, सौ में से ९९ या ९८ का नहीं, **'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु'** यही संकल्प होना चाहिए। इसे आदर्श कहा है।

मनुष्य का आदर्श उसकी पहुँच में होता है, उसकी पकड़ में नहीं। इसीमें प्रगति के लिए अवसर है।

प्रगति और आदर्श

प्रगति क्या है? सिर्फ गति, प्रगति नहीं है। विशिष्ट दिशा में कदम बढ़ाना, अपने मुकाम की तरफ कदम बढ़ाते जाना, यह है 'प्रगति'। जाना स्टेशन है और कदम जेल की तरफ बढ़ते हैं, तो हम उसे प्रगति नहीं कहेंगे। व्यवहार का आदर्श की तरफ बढ़ना 'प्रगति' है। आदर्श के विरुद्ध गति होती है, तो उसे 'प्रतिगति' कहते हैं। 'प्रगतिशील' और 'प्रतिगामी' शब्द बार-बार आयेंगे। इसलिए 'प्रगतिशील' और 'प्रतिगामी' का अर्थ समझ लेना चाहिए। 'प्रगतिशील की परख क्या है?' पूछने पर हरएक वादवाला कहता है कि "हमारी किताब में जो लिखा है, उसके जो अनुकूल है, वह है प्रगतिशील और जो प्रतिकूल है, वह है प्रतिगामी।" जो मेरा है, वह है धर्म-विचार और जो दूसरा कहता है, वह है पाखण्ड। भाषा से 'अस्मत्' 'युष्मत्' प्रत्यय निकाल दीजिये। मैंने ये शब्द शंकराचार्य के भाष्य से लिये हैं। उन्होंने लिखा है कि ये 'अस्मत्', 'युष्मत्' प्रत्यय ही परमार्थ भाव में बाधा देते हैं।

आदर्श क्या है? यही कि दुःखी कोई न हो, सब सुखी हों। यह अप्राप्य नहीं है, असाध्य भी नहीं है, प्रयत्नसाध्य है। प्रयत्नसाध्य है, इसीलिए आचरण की आवश्यकता है। ऐसा प्रयत्न ही सदाचार है। स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप की कल्पना छोड़कर और विचार करें। मनुष्य मात्र को सुखी बनाने का

हमारा संकल्प है। उसकी तरफ जो ले जाता है, वह 'सदाचार' है और उसके विरुद्ध जो ले जाता है, वह 'दुराचार' है, 'अनाचार' है।

सर्वोदय की परिभाषा

निरन्तर प्रगति के लिए अवसर रहे, इसलिए आदर्श की ऊँचाई होती है। मनुष्य का आदर्श इतना ऊँचा हो कि उसका सारा जीवन प्रगतिमय ही रहे। गांधी से किसीने पूछा कि "तुम्हारी अहिंसा की परिभाषा क्या है?" गांधी बेचारा तो शब्दों और परिभाषाओं का स्वामी था नहीं। उसने परिभाषा तो नहीं की, पर तुलना की—यूक्लिड के 'विन्दु' से। विन्दु के 'स्थिति' है, पर 'लम्बाई-चौड़ाई' नहीं है। परिभाषा के अनुसार बिन्दु तो नहीं बनाया जा सकता। पर परिभाषा के बिना विन्दु ही नहीं बन सकता। इसको जरा समझने की कोशिश करें।

मान लीजिये कि एक लड़के से कहा कि "कम-से-कम लम्बाई-चौड़ाईवाला विन्दु बनाओ", तो उसने खड़िया से बनाया। मास्टर ने कहा कि "ऐसा कैसा बनाया? इसे तो लंबाई-चौड़ाई है।" तब मास्टर ने डण्डे से बनाया। लड़के ने कहा, "इससे तो मेरा ही सही था।" तो मास्टर ने कहा, "अरे, देखता नहीं है? मेरे हाथ में डण्डा है, फिर भी कहता है?" किसीने कहा, "मेरी पेंसिल खड़िया से बारीक है", तो किसीने कहा कि "सूई से बनायें।" फिर भी लंबाई-चौड़ाई तो रही! जिसकी जैसी भूमिका होगी, जिसका जैसा उपकरण होगा, वैसा उसका विन्दु बनेगा। इसलिए परिभाषा में तो पूरा ही कह देना चाहिए, कम-से-कम नहीं, अधूरा नहीं। सर्वोदय का संकल्प अल्प नहीं है, महान् है। केवल महान् ही नहीं है, समग्र है।

जितना जीवन है, वह सारा-का-सारा ईश्वर से भरा हुआ है, 'ईशावास्यमिदं सर्वम्'। इसलिए सब जीवन सम्पन्न करना हमारा मुख्य काम होगा। आदर्श 'अप्राप्य' नहीं है, 'अप्राप्त' है। अप्राप्त क्यों? क्योंकि निरन्तर प्रगति होती है। वह इतना व्यापक है कि सबके लिए समान रूप से लागू होता है।

संस्कृत होने की कसौटियाँ

अब दूसरी तरह से सोचिये। कोई समाज संस्कृत है या असंस्कृत है, इसकी परख क्या ? अपना देश होने के कारण पक्षपात कर रहा हूँ, ऐसा नहीं। एक उदाहरण के रूप में कहता हूँ। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में जो राज्य-व्यवस्था है, वह अच्छी है या बुरी है, इसकी परख क्या है ? पाकिस्तान में हिन्दुओं के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है, उससे उनकी परख होगी और हमारी कसौटी यह होगी कि हमारे यहाँ मुसलमानों के साथ हमारा व्यवहार कैसा रहता है। अच्छी राज्य-व्यवस्था की कसौटी यह हुई कि जहाँ अल्प-संख्या सुखी है, वह राज्य-व्यवस्था अच्छी है। यहाँ बहुसंख्यावाद भी गया और अधिक-से-अधिक संख्यावाद भी गया।

अल्पसंख्यकों की स्थिति

एक गाँव में सौ घर हैं। ९८ सवर्णों के हैं, २ हरिजनों के। अब उस गाँव के लिए सभ्यता-असभ्यता की कसौटी क्या होगी ? वे दो हरिजन घर सुखी, सुरक्षित और स्वतन्त्र रह सकते हैं, यही न ? यदि २ दुःखी और ९८ सुखी रहें, तो क्या नुकसान है ? उस सुख में बहु-संख्या तो है, पर व्यापकता नहीं है। व्यापकता और विशालता में फर्क है। विशालता का अर्थ प्रचण्डता, बड़ा पैमाना, होता है। बड़े पैमाने के लक्षण हैं, प्रचण्डता और अजस्रता। आकार की विशालता अलग चीज है और व्यापकता अलग। सर्वोदय में व्यापकता है। सबका उदय चाहिए। सबका कहने से व्यापकता का भाव आता है। व्यापकता का अर्थ ही यह है कि उसमें सबका समावेश होता है, केवल बहु-संख्या का नहीं।

स्त्रियों-बालकों की स्थिति

एक और कसौटी लीजिये। अक्सर हम पूछते हैं कि उस समाज में स्त्रियों और बच्चों की क्या व्यवस्था है ? इसमें परम्परा का हिस्सा है। मैं तो चाहता हूँ कि स्त्रियों के विषय में आज ऐसा प्रश्न ही नहीं रहना चाहिए। स्त्री परम्परा से कमजोर समझी जाती है और विशेष व्यवस्था के योग्य मानी जाती है।

अतः स्त्री और बालक का नाम लिया। भगवद्‌गीता ने भी 'स्त्री-वैश्य-शूद्र' की एक श्रेणी मानी है। भाष्यकार तो एक कदम और आगे बढ़ गये हैं और 'स्त्री-पशु-शूद्रादिकानाम्' कहते हैं। हम स्त्रियों की संख्या का यहाँ विचार नहीं करते। 'सर्वोदय' की बात छोड़ दें, चाहे जिस 'वाद' वाला हो, वह ऐसा कभी नहीं सोचेगा कि जहाँ स्त्रियों की संख्या कम है, वहाँ स्त्री का विचार नहीं होना चाहिए। सर्वोदय का विचार सार्वभौम है। सौ-फी-सदी का भला यदि अव्यवहार्य है, तो आप अपने से पूछिये कि क्या आपकी बुद्धि यह कबूल नहीं करती कि दो हरिजनों का भी भला होना चाहिए ?

स्त्रियों और बालकों की संख्या कम है, फिर भी क्या सभ्य समाज में उनका विचार नहीं होता ?

रोगी-बीमारों की स्थिति

हम यह देखते हैं कि समाज में दवाखाने कितने हैं, विद्यालय कितने हैं, अपराधियों के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है, अपराध-चिकित्सा का क्या प्रबन्ध है ? आपको यदि बहुसंख्यकों का ही विचार करना है, तब तो बीमारों का विचार ही नहीं करना चाहिए। उनकी संख्या तो कम रहती है। तब उनका विचार क्यों करते हैं ? स्कूल क्यों खोलते हैं ? अनपढ़ों को पढ़ाने के लिए ही न ? अपराधियों की संख्या सबसे कम होती है। फिर उनके विषय में क्यों सोचते हैं ?

इसीलिए कि आप यह देखना चाहते हैं कि असमर्थ को समर्थ बनाने की योजना समाज में क्या है ? यह सभ्य समाज का लक्षण है। यह हुई तीसरी कसौटी।

अन्धों-बहरों की स्थिति

चौथी कसौटी भी तीसरी से निष्पन्न होती है। आप पूछते हैं कि क्या आपके समाज में अन्धों, बहरों और गूँगों के लिए कोई व्यवस्था है ? इनकी संख्या क्या है ? इनके इंतजाम की कोई जरूरत है ? क्या इनमें से एक भी प्रश्न आर्थिक है ? सब पारमार्थिक प्रश्न हैं। 'परमार्थ' का नाम लेना, न

लेना अलग बात है। मानवीय कह लीजिये। समाज में इन्हीं मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए सर्वोदय है।

एक शब्द में कहना हो, तो जैसा कि हमारे पूर्वपुरुषों ने कहा था, हम कहेंगे—अद्वैत की स्थापना। अद्वैत हमारा आदर्श है। समन्वय हमारी नीति है। समन्वय साधन है और अद्वैत साध्य है।

समन्वय का अर्थ किया गया है—विरोध का परिहार। विरोध-निराकरण, विरोध-परिहार, अर्न्तविरोधों के निराकरण को ही 'क्रांति' कहते हैं। समाज में जो विरोध हैं, उनका परिहार ही क्रांति का उद्देश्य है। भगवद्‌गीता ने अविरोध की स्थापना को 'समत्वयोग' कहा है, विनोबा ने इसे 'साम्ययोग' नाम दिया है। यह समत्व की तरफ़ जाने की विद्या भी है और योग भी है। आज की परिभाषा में समाज में जितने विरोध हैं, उनका निराकरण ही क्रांति है। उसके बाद सर्वोदय की स्थापना होती है।

इस प्रकार संकल्प हमारा समग्र है। हम इसमें सबका समावेश करते हैं, किसीको छोड़ते नहीं। बहुसंख्या और अल्पसंख्या का भी कोई भेद नहीं करते, इसमें संख्या का विचार ही नहीं होता। इस प्रकार हमारा यह संकल्प व्यापक है।

आदर्श ऊँचा है, अप्राप्त है, पर प्रयत्नसाध्य है, असाध्य नहीं है। अतः हमारे लिए निरन्तर प्रगति का अवसर है।

आदर्श की ओर व्यवहार का कदम बढ़ाना ही प्रगति है।

कसौटियाँ ये हैं :

(१) राजनीतिक अल्पसंख्यकों की क्या स्थिति है? जहाँ अल्पसंख्यक सुखी हैं, वह समाज सभ्य है।

(२) स्त्री-बालकों का स्थान क्या है?

(३) समाज में जो असमर्थ, बीमार, अपराधी हैं, उनकी क्या व्यवस्था है? और

(४) जो लोग अपाहिज, अपंग, प्रकृति से ही विकलांग हैं, उनकी क्या व्यवस्था है?

तात्पर्य यह कि मानवकृत विषमता का हम निराकरण करेंगे और प्राकृतिक विषमता की उग्रता को घटायेंगे। यह विरोध-परिहार कहलाता है।

डार्विन का सिद्धान्त

प्रश्न है कि इसमें मनुष्य कहाँ आता है? डार्विन बेचारा नाहक काफी वदनाम हो चुका है। डार्विन ने कहा है कि जीने के लिए जो सबसे अधिक उपयुक्त होंगे, वे ही जियेंगे। समझा यह जाता है कि सबसे उपयुक्त वह है, जो सबसे तगड़ा है। इसे 'मत्स्यन्याय' कहा जाता है, जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। वस्तुस्थिति और सिद्धान्त में फर्क होता है। वस्तुस्थिति जीवन का सिद्धान्त नहीं बन सकती। वस्तुस्थिति की सिद्धान्त की दिशा में प्रगति ही 'संस्कृति' है।

मनुष्य : एक अक्षम प्राणी

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि यदि सबसे तगड़ा ही जी सकता है, तब तो हाथी को ही जीना चाहिए। जीने के लिए मनुष्य से अधिक अक्षम प्राणी और कौन है?

पशुओं में एक बार मनुष्य पर अनुकंपा प्रकट करने के लिए एक सभा हुई। बाघ ने कहा, "न इस बेचारे के पास नाखून हैं, न दाँत। भगवान् ने वेचारे को कैसा निहत्था बनाया है!" पक्षी ने कहा, "चोंच और पंख नहीं हैं, बेचारा उड़ भी नहीं सकता!" हरिन ने कहा, "मेरे जैसे सुन्दर सींग भी उसके पास कहाँ हैं? न तेज पैर ही हैं। मनुष्य को उसने ऐसा क्यों बनाया?"

भगवान् ने और प्राणियों को बनाने में तो अपनी कला का परिचय दिया, पर मनुष्य को वनाने में तो बिल्कुल ही लापरवाही बरती है। मनुष्य किसी भी नैसर्गिक साधन से सम्पन्न नहीं है। फिर भी मनुष्य हाथी पर सवारी करता है, हाथी मनुष्य पर नहीं करता। हाथी पर मनुष्य चढ़ता है, तो आप कहते हैं कि यह स्वाभाविक है। ठीक ही हो रहा है। अगर इसका उल्टा हो जाय, तो लोग उसे दुर्घटना कहते हैं। पहली बात स्वाभाविक है, दूसरी है, दुर्घटना।

ऐसे समाज में यदि आदमी यह कहे कि जीने के योग्य तो वही है, जो सबसे अधिक तगड़ा है, तो इसे उसकी बुद्धि की बलिहारी नहीं तो क्या कहेंगे?

हक्सले का सिद्धान्त

विज्ञान एक कदम आगे बढ़ा। उसने कहा कि मनुष्य से समाज बनता है, इसलिए सिर्फ तगड़ा ही नहीं जीता, वे ही लोग जीते हैं, जो दूसरे को जीने देते हैं। तो हमारे समक्ष दो सिद्धान्त आये—

१. दूसरों को खाकर जिओ।

२. जिओ और जीने दो।

यह है सह-अस्तित्व का सिद्धान्त।

अस्पताल में एक स्त्री के बच्चा पैदा हुआ। वह रो रहा था। माँ उसकी तरफ पीठ फेरकर सो रही थी। नर्स ने आकर पूछा, "यह क्या है?" तो उसने कहा, "मैंने समाज-शास्त्र पढ़ा है, जीती हूँ और जीने देती हूँ। मैं कहाँ हस्तक्षेप करती हूँ?"

यह सिद्धान्त भावरूप नहीं है, इसलिए वह समाज-धारणा का सिद्धान्त हरगिज नहीं बन सकता।

सर्वोदय का सिद्धान्त

तब, तीसरा सिद्धान्त आया कि तुम **जिलाने के लिए जिओ।**

मैं जब नारायण को जिलाने के लिए जिऊँ और नारायण दादा को जिलाने के लिए जिये, तब सबका जीवन सम्पन्न होगा, और 'जिलाने के लिए जिओ' चरितार्थ होगा। यही 'सर्वोदय' है।

दूसरे जियें, इसलिए तुम जिओ, यहाँ से सामाजिकता का श्रीगणेश होता है। क्या यह विज्ञान के खिलाफ है? अवैज्ञानिक है?

विज्ञान क्या कहता है? जूलियन हक्सले ने अपनी Man in the Modern world नामक पुस्तक में लिखा है, केवल मनुष्य का ही समाज ऐसा होता है, जिसमें बूढ़ा नेता बन सकता है। सिंह, भैंसे आदि पशुओं में बूढ़ा नेता नहीं बनता। लेकिन मनुष्य के समाज में ८० साल का बूढ़ा चर्चिल, लँगड़ा-लूला रूजवेल्ट नेता बन सकता है, गांधी नेता बन सकता है, विनोबा नेता बन सकता है, नेहरू नेता बन सकता है। ये लोग क्या कोई विकलांग हैं?

बड़े तगड़े हैं ? इनमें से किसीको जीने का अधिकार भी है ? यह मनुष्य की जीव-विज्ञान की दृष्टि से विशेषता है कि उसमें बूढ़ा नेता बन सकता है। मनुष्य की विशेषता बुद्धि है और मनुष्य की शक्ति का स्थल बुद्धि ही है। 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य।'

यह आत्मशक्ति, मनोबल या बुद्धिबल वस्तुतः एक ही चीज है। यह शरीर-शक्ति से भिन्न, बाहुबल से भिन्न एक असीम, अमर्याद शक्ति है, जो शरीर के साथ क्षीण नहीं होती। यह देह-नश्वरवाद की बात नहीं, प्राणिशास्त्र से ही सिद्ध बात है। हाँ, अच्छे, सुन्दर, सुडौल शरीर की आवश्यकता है, उसका महत्त्व है; क्योंकि शरीर शक्ति का आयतन (मकान) है, अधिष्ठान (आधार) नहीं है। यह तो एक मकान है, जहाँ शक्ति रहती है। विज्ञान ने यहाँ तक लाकर हमें पहुँचा दिया है।

अहिंसक वीरता

गांधीजी के सलाहकारों में एक महान् नेता थे, जो अब नहीं रहे। उन्होंने एक बार हमसे कहा कि "आप जब अहिंसा की बात कर रहे हैं, तब विज्ञान को नहीं देखते। आप युद्ध का निषेध करते हैं, सैनिक शिक्षण का निषेध करते हैं। तब फिर बहादुरी के लिए अवसर कहाँ रह जाता है ?"

मैंने नम्रतापूर्वक पूछा, "विज्ञान के युग में कहाँ है वीरता का स्थान ? अब तो ऊपर से बम गिराये जाते हैं। इसलिए मैं भी शिवाजी और राणा प्रताप की तरह शहीद और वीर बन सकता हूँ ? मेरी बूढ़ी माँ हो, कोई बीमार बच्चा हो, क्षयरोगी हो, सब वीरगति को प्राप्त हो जायँगे।"

तब उन्होंने कहा, "तुमने कभी यह भी सोचा है कि १० हजार फुट की ऊँचाई पर हवाई जहाज के टूटने पर जो गुब्बारे से उतरता है, उसमें कितनी वीरता है ?"

मैंने कहा, "हाँ, हम कब नहीं मानते ? यही तो अहिंसक वीरता है। विज्ञान का उपकार है कि उसने हिंसक वीरता के लिए अवसर ही नहीं रखा। एक लड़की भी कोबाल्ट बम गिरा सकती है और हजारों को मार सकती है। विज्ञान के जमाने में मारने में वीरता ही नहीं रह गयी, रह गयी है सिर्फ

क्रूरता ! आज तो तेनसिंग के एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ने की ही वीरता के लिए अवसर रह गया है। समुद्र की तह में जानेवाला, आग बुझानेवाला जो वीरता दिखाता है, उससे अधिक वीरता के लिए आज अवसर ही नहीं रह गया है।

विज्ञान की बदौलत, भगवान् की कृपा से सिवा अहिंसक वीरता के, और किसी वीरता के लिए अवसर ही नहीं है। वैज्ञानिक वीरता अहिंसक वीरता होगी।

अक्षम को सक्षम बनाना

विज्ञानवादी जूलियन हक्सले ने कहा है कि प्राणि-विज्ञान के अनुसार मनुष्य की विशिष्ट शक्ति शरीर से अलग है और वह है, उसकी बुद्धि। इस तरह मत्स्यन्याय गया, 'जिओ और जीने दो' गया, सिर्फ 'जिलाने के लिए जिओ' का सूत्र रह गया। उसका समाज में क्या रूप होगा ? जो अक्षम हैं, उन्हें सक्षम बनाना। भगवान् ने सृष्टि में एक विशेषता रखी है, वह यह कि हरएक को उसने हर तरह से समर्थ नहीं बनाया। कोई आदमी एक बात में समर्थ होता है, तो दूसरी बात में नहीं होता है।

एक पण्डितजी थे—दशग्रन्थी, षट्-शास्त्रसंपन्न, विद्वान्। नाव में बैठकर मल्लाह से बात करने लगे। उसे निरक्षर पाकर पण्डितजी ने कहा, "अरे, इतनी सारी उम्र गँवायी और एक अक्षर भी पढ़ना नहीं सीखा ?"

मल्लाह पण्डितजी को पार उतारने लगा। बाढ़ तेज थी। नाव डगमगाने लगी। पण्डितजी घबड़ाये, कहने लगे, "भैया, सँभल के खेना। जान खतरे में है।" मल्लाह बोला, "पण्डितजी, डूबेगी तो नाव डूबेगी। हमें क्या खतरा है ?" पण्डितजी ने कहा, "मैं तो तैरना नहीं जानता।" तो मल्लाह ने कहा, "पण्डितजी, उम्रभर इतनी विद्या सीखे, फिर भी अपनी जान बचाने की विद्या आप नहीं सीखे !"

हर्बर्ट स्पेन्सर ने कहा है कि हमें पहले अपनी जान बचाने की विद्याएँ, प्रत्यक्ष आत्मरक्षण की विद्याएँ सीख लेनी चाहिए। उसने प्रत्यक्ष आत्मरक्षण की विद्याएँ बतलायी हैं। "पानी में मत डूबो, अपने हाथ से रसोई बना लेना सीखो।"

समर्थता और असमर्थता, दोनों सबमें बँटी हैं। दूसरों की अक्षमता का निराकरण और अपनी-अपनी क्षमता का विकास; यह प्रक्रिया पारमार्थिक विज्ञान से फलित होती है।

'द्वितीयाद् वै भयं भवति' इस भय का निराकरण कैसे हो? दूसरों से डर कब नहीं रहेगा? जब दूसरा 'अपना' बनेगा। गीतांजलि में गुरुदेव ने कहा था :

'दूरके करिले निकट बंधु
परके करिले भाई।'

सभ्यता की प्रक्रिया यही है कि दूसरों को निज का बनाना, अपना बनाना। अभेद की, अद्वैत की स्थापना करना। यही सर्वोदय का, समाज-शास्त्र का सिद्धांत है। सर्वोदय का अर्थ है : सबका; तुम्हारा और हमारा ही नहीं, सबका उदय।

जो-जो लोग प्रगति या सभ्यता चाहते हैं, उन सबका यही सिद्धान्त है। दूसरा हो ही नहीं सकता।

तो **"हमारा परम मूल्य जीवन है। जीवन को सर्वत्र संपन्न बनाना है। सबके जीवन को संपन्न बनाना है।"**

प्रश्न है कि हमारी नीति क्या हो? यही कि हम एक-दूसरे का जीवन संपन्न करें।

हमारा कर्तव्य क्या हो? यही कि आपका जीवन मैं संपन्न करूँ और आप मेरा जीवन संपन्न करें।

जीवन संपन्न करने के लिए आवश्यकता किस बात की है?

इसके लिए आपकी असमर्थता का निवारण और मेरी क्षमता का विकास करना आवश्यक है। मेरी क्षमता का विकास किसमें है? वह है, आपकी असमर्थता का निराकरण करने में। सामाजिकता इसीमें है।

जब तक आपकी असमर्थता के निवारण के लिए मैं प्रयत्न न करूँ, तब तक मेरी समर्थता का विकास हो नहीं सकता।

मेरी क्षमता का विकास ही आपकी अक्षमता के निराकरण में है। इसीसे सर्वोदय की समाज-रचना के और कुछ आधारभूत मूल्य निकलते हैं।

प्रेम : अहिंसा

परममूल्य जीवन है। एक-दूसरे का जीवन संपन्न करना है। परस्पर भयरहित होना है। अतः एक आधारभूत मूल्य हो जाता है—प्रेम !

लोग कभी-कभी पूछते हैं कि 'अहिंसा' शब्द निषेधात्मक है, आप भावात्मक शब्द क्यों नहीं इस्तेमाल करते ? इसके पीछे भी विचार की एक सूक्ष्मता है। सत्य को छोड़कर आचरण के जितने नियम हैं, उनमें निषेधात्मक शब्द का प्रयोग अधिक है। सत्य ही एक भावात्मक पारमार्थिक अन्तिम मूल्य है।

किसीने गांधी से पूछा कि सत्य और अहिंसा के बीच चुनाव करने का मौका आये, तो आप क्या करेंगे ? गांधी ने कहा, मैं सत्य का पुजारी हूँ और उसीकी उपासना से मुझे अहिंसा प्राप्त हुई है। सिवा अहिंसा के सत्य का पालन हो ही नहीं सकता, ऐसा मैंने देखा है। सत्य के पालन से मतलब यहाँ उपलब्धि से है। अन्य व्रत-नियमादि की तरह सत्य का पालन नहीं किया जाता। वह तो अन्तिम वस्तुस्थिति है। अहिंसादिक के पालन से उसकी उपलब्धि होती है। सत्य ही अन्तिम मूल्य है। उसका पालन अहिंसा से शुरू होता है।

हिंसा के लिए कारण की आवश्यकता पड़ती है, अहिंसा के लिए कारण की जरूरत नहीं पड़ती। अहिंसा और प्रेम मनुष्य का स्वभाव है। हम सब यहाँ बैठे हैं और मान लें, बाहर शोर हुआ। नारायण जाकर देखता है कि क्या हुआ ? तो सुनता है कि एक आदमी ने दूसरे को तमाचा मार दिया। वह उससे पूछता है कि "भाई, तुमने तमाचा क्यों मारा ?" तब वह कारण बताता है कि "वह मुझे गन्दी गालियाँ बक रहा था।"

हम सब यहाँ बैठे-बैठे शान्ति से अपना काम कर रहे हैं। तो कोई आकर यह नहीं पूछता कि "क्यों तुम लोग एक-दूसरे को तमाचा नहीं मारते हो ?" हिंसा के लिए कारण चाहिए, अहिंसा के लिए कारण या कैफियत नहीं देनी पड़ती है। अहिंसा और प्रेम मनुष्य का स्वभाव है। जिसके लिए कारण चाहिए, उसके लिए नियम बनाये हैं। जिनके कारण देने पड़ते हैं, उन विकारों का जब निराकरण हो जाता है, तो प्रेम अपने-आप प्रवृत्त हो जाता है। प्रेम स्वभाव है। बाधा के हटते ही स्वभाव निखर आता है। तो ये जो हटाने की चीजें हैं,

जिनका नियमन करना है, उनके लिए अभावात्मक शब्दों की योजना की गयी है। प्रेम स्वभाव है। उसके लिए 'क्यों ?' प्रश्न नहीं होता।

शंकराचार्य से पूछा गया कि "'संन्यास' क्या है ? हम क्यों संन्यास लें ?" तो उन्होंने कहा, "वह तो हमारा स्वभाव है। वह लेना नहीं पड़ता। लेना पड़ता, तब तो वह स्वयं कर्म हो जाता। संन्यास तो स्वरूपावस्थान है। भला-बुरा, कोई भी कर्म करने की वासना का प्रयोजन न रहे, उसे 'संन्यास' कहते हैं।" वही अविकारी प्रेमस्वरूप की स्थिति है। परंतु अच्छा काम क्यों छोड़ें ? अच्छा काम तो इसलिए करते हैं कि बुरा करने की प्रवृत्ति न हो। परन्तु अच्छे की भी वासना छोड़ने पर जो बचता है, वह हमारा असली स्वरूप है, वह 'संन्यास' है। अपने उपनिषद्-भाष्य में उन्होंने संन्यास की यह व्याख्या की है। स्वरूप वह है, जिसके लिए निमित्त की आवश्यकता नहीं है। हिंसा के लिए निमित्त की आवश्यकता है। जो नित्य है, वह स्वरूप है। जो नैमित्तिक है, वह स्वरूप नहीं है। वह विकार है। हमें समाज से हिंसा के कारणों का निराकरण करना है और मनुष्य के मन से हिंसा का निराकरण करना है। इसलिए अभावात्मक शब्द अहिंसा आया है। वह भावरूप नहीं है।

मनुष्य का स्वभाव

तब प्रश्न उठता है कि मनुष्य का स्वभाव क्या है ?

जो नित्य होता है, निरपवाद होता है, वह स्वभाव होता है। सूर्य का स्वभाव प्रकाश है। अग्नि का स्वभाव उष्णता है। उष्णता से निवृत्त होते ही अग्नि नष्ट होती है। प्रकाश का निराकरण होते ही सूर्य नष्ट होता है। 'स्वभाव' ऐसी चीज है, जिसका निराकरण नहीं हो सकता। 'मनुष्य-स्वभाव' क्या है ?

सभी जानते हैं कि संज्ञा के साथ जब विशेषण जोड़ दिया जाता है, तब उसका अर्थ मर्यादित हो जाता है। 'स्वभाव' याने पत्थर, वनस्पति आदि से मनुष्य तक सारी जड़-चेतन चीजों का स्वभाव। 'प्राणि-स्वभाव' याने पशु-पक्षी, मनुष्यादि का स्वभाव। 'मनुष्य-स्वभाव' का अर्थ है—इन दूसरे प्राणियों से मनुष्य का जो विशेष स्वभाव है वह—जो उसका विशेष लक्षण है, उसकी

विशेषता है, वह। असाधारणो धर्मो लक्षणम्। उसे मनुष्य का पृथक् लक्षण कहते हैं। स्वभाव अनिराकरणीय है। उसका हम निराकरण नहीं करना चाहते। प्रश्न है कि हम हिंसा का निराकरण चाहते हैं या नहीं? द्वंद्वात्मक भौतिकवाद कहता है कि "संघर्ष मनुष्य का स्वभाव है। यदि मनुष्य-स्वभाव में संघर्ष है, इतिहास भी वर्ग-संघर्ष की ही कहानी है, तो सवाल यह है कि फिर आप संघर्ष का निराकरण क्यों करना चाहते हैं?"

जो स्वभाव है, उसके बारे में कुतूहल नहीं होता। मान लीजिये कि कोई अखबार छापता है कि अहमदाबाद में आज एक भी चोरी नहीं हुई। तो लोग कहेंगे कि चोरी नहीं हुई, तो अखबार ही क्यों छापता है? चोरी हुई, तो वह खबर हो सकती है। चोरी नहीं हुई, तो क्या खबर हुई? यदि युद्ध मनुष्य का स्वभाव होता, तो युद्ध की वार्ता में कोई रम्यता न होती। पनघट पर स्त्रियाँ लड़ें, तो सब देखने के लिए जाते हैं। नारायण और हम लड़ते नहीं, किसीको कुतूहल नहीं होता। लड़ते हैं, तो लोग दौड़े आते हैं और झगड़ा मिटाने की चेष्टा करते हैं। कहते हैं, झगड़ा मिटाने के लिए ही है। अब जो मिटाने की वस्तु है, उसीको कोई स्वभाव कहे, तो फिर हम उसे क्या कहें! मनुष्य संघर्ष को मिटा देना चाहता है, इसलिए संघर्ष मनुष्य का स्वभाव नहीं है। संघर्ष यदि मानव-इतिहास है, तो वह मनुष्य के स्वभाव का इतिहास नहीं है, बल्कि उसके दोषों का इतिहास है। स्वभाव की प्रतिकूलताओं का इतिहास है।

मिलाप बनाम संघर्ष

कुछ अन्य लोगों का कहना है कि संघर्ष सृष्टि का नियम है। पत्थर टकरायें और अग्नि निकली, तो वे कहते हैं—देखो, यह पत्थरों का संघर्ष हुआ! अगर इस प्रकार हर मिलाप को 'संघर्ष' कहते चले जायँ, तो बड़ी मुश्किल होगी। यह सब तो अपने मनोभावों का सृष्टि पर आरोपण है। विनोबा ने एक जगह मजाक में कहा है कि "बच्चे के मुँह और माता के स्तन में संघर्ष हो रहा था।" जितनी नैसर्गिक घटनाएँ घटती हैं, उन सबको यदि हम 'संघर्ष' का नाम दें और उसे आप वस्तुनिष्ठा कहें, तो यह ठीक नहीं है। दो वस्तुओं के मिलन से तीसरी निकलती है, तो उसे 'मिलाप' कहें, 'संघर्ष'

क्यों कहें ? यह तो एक वाक्प्रयोग हुआ—भाषा का प्रयोग हुआ। यह कोई नियम नहीं है।

विज्ञान ने हमें स्वभाव की यह कसौटी दी है कि जिसका हम निराकरण नहीं चाहते, वह स्वभाव है। अब इसे मूल्य के लिए हम लागू करें। जिसका निराकरण करना चाहते हैं, वह अशाश्वत मूल्य है, सापेक्ष मूल्य है और जिसका हम निराकरण करना नहीं चाहते हैं, वह शाश्वत, निरपेक्ष मूल्य है। अहिंसा का अधिष्ठान शाश्वत मूल्यों में है।

हमें मानवीय मूल्यों की स्थापना करनी है। इसलिए हमने मानव-स्वभाव की चर्चा की और कहा कि मनुष्य का स्वभाव प्रेम है। मनुष्य द्वेष का निराकरण चाहता है, चाहे वैरी को मारकर या वैर को मिटाकर। प्रेम जब जीवन का मूल्य होता है, तो उसमें श्री अरविंद, रमण महर्षि, कृष्णमूर्ति आदि सब आपके साथ हैं। वह विकारमूलक रहा, तो वह कॉलेज, सिनेमा की जीवन-क्रीड़ा का विषय हो जाता है।

सह-जीवन ही सह-मरण

तब जवाहरलाल नेहरू ने क्या कहा ? उन्होंने कहा कि अगर हम सह-जीवन की बात नहीं कर सकते, तो खैर, सह-मरण की ही करें। सह-मरण का अर्थ एक साथ सबका लड़कर मर जाना नहीं है। वह तो दुर्घटना होगी। सह-मरण में ऐसा संकल्प रहेगा कि हम साथ-साथ मरेंगे। यदि ऐसा संकल्प एक बार हो जाय, तो उसका अन्त सह-जीवन में ही होगा।

हमारे नागपुर में एक तालाब है। उसे प्रेमियों का तालाब कहते हैं। प्रेम में निराश युवक-युवती उसमें साथ-साथ मरने के संकल्प से कूदते हैं। उनका संकल्प होता है कि साथ जियेंगे या साथ मरेंगे। तो, साथ-साथ मरने के संकल्प में मूल आकांक्षा साथ-साथ जीने की होती है। यह तो वैषयिक प्रेम की बात हुई। पारमार्थिक प्रेम सख्य भक्ति है।

यह जो प्रेम है, वह मनुष्य के स्वरूप का निरपेक्ष मूल्य है। गांधीजी की अहिंसा को इस माने में प्रेम-दर्शन कह सकते हैं। प्रेम हमारा स्वभाव है, क्योंकि प्रेम में आनंद है, द्वेष में बेचैनी है। प्रेम का निराकरण नहीं चाहते,

द्वेष का निराकरण चाहते हैं। प्रेम के लिए कोई निमित्त नहीं चाहिए। द्वेष के लिए निमित्त चाहिए। प्रेम में कैफियत नहीं देनी पड़ती। द्वेष में कैफियत देनी पड़ती है। द्वेष का समर्थन करना पड़ता है। हम साँस क्यों लेते हैं, इसका समर्थन नहीं करना पड़ता। जिसका समर्थन करना पड़ता है, वह स्वभाव नहीं है। जिसका समर्थन नहीं करना पड़ता, वह स्वभाव है।

जीवन का ध्येय

एक दफा कॉलेज के एक लड़के ने पूछा कि "आपके जीवन का ध्येय क्या है ? आप क्यों जी रहे हैं ?" मैंने कहा, "भला यह भी कोई सवाल है ? पैदा हुआ, इसलिए जी रहा हूँ। हाँ, यदि मरना चाहूँ, तो पूछ सकते हो कि क्यों मरते हो। पर जीने के लिए क्या इतना ही कारण काफी नहीं कि मैं पैदा हुआ हूँ।"

जीवन मनुष्य का स्वभाव है। मृत्यु उसका स्वभाव नहीं है। मनुष्य जीना चाहता है और प्रेमपूर्वक जीना चाहता है। भगवान् की यह योजना है कि उसने मनुष्य को प्रेमस्वरूप बनाया है। इसमें कोई परार्थ नहीं है। परोपकार नहीं है। अगर मैं जीना चाहता हूँ, तो उसकी यही एक शर्त है कि मैं दूसरों को जिलाने के लिए जिऊँ। उसकी प्रेरणा मेरे स्वभाव से आती है, क्योंकि मैं प्रेमस्वरूप हूँ। सह-जीवन की सारी प्रेरणा प्रेम से आती है। हमने ये दो लक्षण देखे। अब तीसरा देखें।

निरपेक्ष और सापेक्ष मूल्य

जो अपने नाम से चले, वह निरपेक्ष मूल्य है, जो दूसरे के नाम से चले, वह सापेक्ष मूल्य है। बाजार की भाषा में उसे असली और नकली मूल्य कहा जाता है। नकली सिक्का अपने नाम से नहीं चल सकता, असली का स्वांग बना करके ही वह चलता है। हम रूस से पूछते हैं कि "आप हाइड्रोजन बम क्यों बनाते हैं ?" तो वह कहता है कि "क्या करें, न बनाते, तो अमेरिका हमें मार देता।" अमेरिका से पूछें, तो वह कहता है कि "रूस लड़ाई न करे, विश्व-शांति रहे, इसीलिए बनाना पड़ता है।" ये दोनों अपने को शान्तिप्रिय बताते हैं। लाठी क्यों चली, तो कहते हैं कि शान्ति की स्थापना के लिए ! युद्ध भी शान्ति के लिए ही होते हैं। दुनिया में हिंसा कभी अपने नाम पर आज तक नहीं चली।

सोचने की बात है कि जो चीज अपने नाम पर कभी नहीं चली, उसकी क्या इज्जत है ? जिन्होंने आज तक यह माना था कि गांधी समाजशास्त्री नहीं था, उनसे हम पूछें कि क्या जीवन का वह भी कोई मूल्य हो सकता है, जिसे अपना नाम लेने में शर्म है ? जो नकली है, दूसरे का नाम लेता है, वह सापेक्ष है। असली अपने नाम से चलता है। वह निरपेक्ष है।

मूल्य सार्वत्रिक भी हो

अब हम चौथी परख देखें। जो मूल्य सार्वत्रिक नहीं हो सकता, वह मिथ्या मूल्य है। वह समाज का वास्तविक मूल्य नहीं है। प्रबोध भाई ने प्रश्न किया था कि आपने* जब यह कहा कि जहाँ सर्वसम्मति होती है, वहाँ 'अक्सर' 'सन्मति' होती है। इसमें आपने 'अक्सर' क्यों कहा था ? यह इसलिए कहा था कि वह नियम निरपवाद नहीं था। सम्मति एक गिरोह की हो, और वह अन्य दस व्यक्तियों के खिलाफ हो, तो वह षड्यन्त्र होगा।

जो सबके लिए समान रूप में लागू नहीं होता, वह शाश्वत नहीं है, वह मिथ्या है, दुर्गुण है, विमति है। जो १०० में से १०० के लिए हो, वह शाश्वत है, सद्गुण है, सन्मति है। सद्गुण-दुर्गुण की भी कसौटी हमें यहाँ मिल गयी। जो सबके लिए समान रूप से लागू हो सकते हैं, वे सद्गुण, जो नहीं हो सकते, वे दुर्गुण।

मान लें कि चोरों का एक गाँव है, जिसमें चोर ही चोर रहते हैं। तो क्या उस गाँव में कभी चोरी होगी ? वे अपने ही गाँव में चोरी नहीं कर सकते। चोर अगर साथ-साथ रहें, तो चोरी नहीं करेंगे। दूसरे गाँव में करेंगे। अगर वे अपने गाँव में चोरी करें, सब एक-दूसरे की चोरी करें, तो फिर वह चोरी ही नहीं रह जायगी। चोरी, लोभ आदि स्वभाव नहीं है। जो व्यापक नहीं है, वह शाश्वत नहीं हो सकता।

सर्वोदय निरपेक्ष, शाश्वत और व्यापक मूल्यों की स्थापना करना चाहता है और बाधक मूल्यों का निराकरण करना चाहता है। सबके लिए समान रूप में जो नहीं है, वह अशाश्वत है। दुनियाभर के सारे क्रान्तिकारी लोग इस बात

* ता० २१-८-'५५ के प्रातः-प्रवचन में।

में सहमत हैं, चाहे वे मूल्यों का नाम लें या न लें। जितने मूल्य निरपेक्ष हैं, वे पारमार्थिक हैं, आर्थिक और राजनीतिक नहीं।

निष्कर्ष

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विज्ञान के आविष्कारों और सत्ता के द्वारा मूल्यों की स्थापना नहीं हो सकती। शस्त्र, युद्ध, हिंसा का नाम मैं नहीं लेता, क्योंकि इस पर तो अब सब सम्मत हो गये हैं कि उनसे कुछ नहीं होता। विज्ञान इसलिए असमर्थ है कि वैज्ञानिक स्वयं कहते हैं कि वह तटस्थ है। विज्ञान सिर्फ शोध करता है, आविष्कार करता है। तो सवाल उठता है कि क्या विज्ञान का मूल्य-स्थापना में उपयोग नहीं है? उपयोग अवश्य हो सकता है। परंतु मूल्यों की स्थापना उसने न तो अब तक की है, न अब करेगा। यही विज्ञान की अपूर्णता है, और उसका गुण तथा विशेषता भी है।

एक वैज्ञानिक ने बड़े अभिमान से कहा है कि क्या कोई यह बतला सकता है कि आज तक कभी विज्ञान के लिए युद्ध हुआ है? हमें मानना होगा कि विज्ञान के नाम पर युद्ध नहीं हुए। धर्म, जाति, संस्कृति और ईश्वर के नाम पर युद्ध हुए हैं। विज्ञान एक ऐसा सार्वभौम अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्व है कि जिसके नाम पर कभी युद्ध नहीं हुआ। लेकिन इसीमें से दूसरी भी एक बात निकलती है कि केवल विज्ञान से मूल्य की स्थापना नहीं हो सकती। वह उपकरण बन सकता है। विज्ञान सार्वभौम है और रहेगा। बिजली और एटम बम सार्वभौम हैं, लेकिन राष्ट्रनीति, राजनीति और अर्थनीति राष्ट्रीय ही हैं। यह विरोध अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। इसीलिए असांप्रदायिक इतिहासवेत्ता एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास के उपसंहार के अध्याय में लिखा है कि अब वह युग आ रहा है, जब कोई राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय सत्ता के बल पर नहीं जी सकेगा। कम्युनिस्टों के द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन ने यह घोषणा की थी कि वह राष्ट्र की सीमाओं को मिटा देंगे। सिर्फ नक्शे से नहीं, मनुष्य के हृदय से भी सीमाओं को मिटा देना पड़ेगा। इसके लिए विज्ञान ने अनुकूल परिस्थिति उपस्थित कर दी है।*

• • •

* विचार-शिविर में २१-८-'५५ का सायं-प्रवचन।

धर्म और विज्ञान : ३ :

धर्म की क्या जरूरत है? मनुष्य की बुद्धि का यह एक लक्षण है कि वह यह सवाल पूछे। जो मेरी आकांक्षा के अनुरूप, भीतर की आकांक्षा के अनुरूप वस्तु है, वह मेरी इष्ट है। जो मेरी आकांक्षा के अनुरूप नहीं है, वह मेरी इष्ट नहीं है। इस दृष्टि से धर्म की आवश्यकता ही कहाँ है?

नित्य-धर्म का लक्षण

तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य ने इसी तरह का प्रश्न उठाया है। 'रोज संध्या करनी चाहिए, नहीं तो पाप लगेगा' एक विधि है। आचार्य की हमेशा यह रीति रही कि हर बात के बारे में वे 'क्यों' पूछते हैं। विज्ञान की यह मर्यादा है कि वह 'क्या', 'कब', 'कहाँ' का जवाब दे सकता है, पर 'क्यों' पूछा जाय, तो विज्ञान कुंठित हो जाता है। 'क्यों' का जहाँ आरम्भ होता है, वहाँ भौतिक शास्त्र समाप्त हो जाता है, अध्यात्मशास्त्र शुरू हो जाता है। ऐसा कुछ लोगों का कहना है, मेरा नहीं। मैं तो आरम्भ और अन्त कभी मानता ही नहीं। सब एक ही मानता हूँ।

तो आचार्य पूछते हैं, "संध्या, होम क्यों करूँ? मुझे उससे क्या मिलेगा?" जवाब मिलता है, "कुछ नहीं मिलेगा। करोगे, तो पुण्य नहीं मिलेगा, नहीं करोगे, तो पाप लगेगा।" तो आचार्य कहते हैं, "यह कोई बात हुई? यह तो जबरदस्ती है। यह क्या कोई धर्म है, जो नहीं करूँ, तो पाप लगेगा, और करूँ, तो कुछ भी नहीं मिलेगा। साक्षात् परमेश्वर भी यदि ऐसा अनियन्त्रित सत्तावादी और निरंकुश है, तो मैं उसकी अनियन्त्रित सत्ता मानने को तैयार नहीं हूँ।" उस समय के बुद्धिवादियों के लिए शंकराचार्य ने बड़ा गम्भीर प्रश्न उठा दिया। नित्यकर्म से पुण्य नहीं मिलता, पर नहीं करो, तो पाप मिलता है। नित्यधर्म का यही लक्षण है। लेकिन ऐसा 'क्यों'? शंकराचार्य ने ही स्वयं

इसका अच्छा जवाब दिया है। "नित्य-कर्म से फल नहीं मिलता है, फिर भी वह व्यर्थ नहीं होता। निष्फल भी नहीं होता।" उससे नया पुण्य नहीं मिलता। लेकिन वह निष्फल नहीं होता। जिससे कुछ होता ही नहीं, ऐसा कोई कर्म नहीं होता। तब उस कर्म का क्या फल ? जिन लोगों ने सन्ध्या-पूजा आदि की हो, उन्हें एक वाक्य की याद मैं दिलाता हूँ। **ममोपात्तदुरितक्षयद्वारा।** "नित्य-कर्म क्यों ?" "जो पाप हो गये हैं, जिनका मुझे ज्ञान भी शायद न हो, उनको क्षीण करने के लिए मैं समाज में नित्य-धर्म का पालन करता हूँ।"

समाज-धर्म

इसी प्रकार नागरिक समाज-धर्म का नित्य पालन करता है। उससे उसे प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता, परन्तु उससे समाज का स्वास्थ्य बना रहता है। समाज-धारणा होती है। **'धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।'**

समाज की धारणा का जो तत्त्व है, उसीको 'धर्म' कहते हैं। समाज में कुछ मूलभूत सिद्धान्त होते हैं, आधारभूत मूल्य होते हैं। ये निरपेक्ष, शाश्वत और सार्वत्रिक मूल्य होते हैं। ये ही समाज की धारणा के सिद्धान्त हैं। समाज-धारणा के जिन मूल्यों से समाज टिकता है, उन्हें 'धर्म' मानना चाहिए। बाकी सब सम्प्रदाय, पन्थ या वाद हैं।

कुछ उदाहरण लीजिये।

मैंने कभी चोरी नहीं की, शराब नहीं पी, हमेशा होश सँभाले रहा; लेकिन इसके लिए कोई मेरा सम्मान नहीं करता, गौरव या सत्कार नहीं करता। लेकिन थोड़ी देर के लिए समझ लीजिये कि पूर्वाश्रम में मैं एक प्रसिद्ध डाकू-चोर होता, जिसका नाम रोज अखबारों में निकलता रहता और जिसे पकड़ने के लिए सरकार इनाम रखती। ऐसी हालत में यदि मैं यह घोषणा करता कि आज से मैंने डाकू का धन्धा छोड़ दिया, तो मेरे लिए सभा की जाती और मेरा बड़ा गौरव होता। लोग कहते कि कितना भला आदमी है, यह आज से चोरी नहीं करेगा। शराबखोर एलान कर दे कि वह शराब छोड़ता है, तो उस बात को आप अखबार में देखेंगे। उसका सत्कार और गौरव होगा।

समाज में जो नित्य-धर्म होते हैं, उनका पालन नागरिक का स्वाभाविक

कर्तव्य है। उसके लिए प्रतिफल, पुरस्कार या पारितोषिक की आशा नहीं रहती। इसलिए नागरिक धर्म, सामाजिक धर्म निष्काम होने चाहिए। उनमें फल की इच्छा नहीं होनी चाहिए।

तो क्या निरुद्देश्य कोई काम हो सकता है ? मन में उद्देश्य ही नहीं होगा और काम करेंगे, तो वह तो उन्मत्त चेष्टा हो जायगी, जैसी शराबखोर की होती है या नींद में मनुष्य कभी बोल लेते हैं या हलचल कर लेते हैं। या फिर वह स्वाभाविक चेष्टा है, जिसमें हमारी कोई इच्छा या चेतना न हो। तब तो सारा-का-सारा सामाजिक कर्म ही व्यर्थ हो जायगा।

विना इच्छा के कोई मनुष्य कभी काम करता है ? **प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।** कोई प्रयोजन न हो, तो मूर्ख भी कुछ नहीं करता। लोग कहते हैं कि विना प्रयोजन के, फल की कामना रखे विना, काम करने की बात बहुत ही मूर्खतापूर्ण धर्म है। तो फिर निष्काम कर्म का क्या अर्थ है।

स्वार्थ-निराकरण की प्रक्रिया

कभी-कभी हम कहते हैं कि "यह मनुष्य निःस्वार्थ हो गया है। इसने स्वार्थ का त्याग किया है।" इसका क्या अर्थ होता है ? यदि वह कुटुम्ब में रहता हो, उसने अपना व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़ा हो और उसका स्वार्थ कुटुम्ब-व्यापी हो गया हो, तो हम कहते हैं कि वह 'निःस्वार्थ' है। कुटुम्ब में माँ सबसे अधिक निःस्वार्थ होती है। अर्थात् माँ का स्वार्थ कुटुम्बव्यापी होता है। सिर्फ अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर की भलाई से उसका स्वार्थ बाहर निकलकर कुटुम्ब तक फैल गया है, व्यापक हो गया है। इसलिए उसे निःस्वार्थ कहते हैं। जिसका स्वार्थ व्यापक है, वह निःस्वार्थ है। जिसका स्वार्थ क्षितिजव्यापी होता है, वह अत्यन्त निःस्वार्थ है। कुटुम्बव्यापी स्वार्थ है, तो वह कुटुम्ब में निःस्वार्थ है, ग्रामव्यापी स्वार्थ है, तो ग्राम में निःस्वार्थ है। देशव्यापी स्वार्थ है, तो देश में निःस्वार्थ है, विश्वव्यापी स्वार्थ है, तो विश्व में निःस्वार्थ और आकाशव्यापी स्वार्थ है, तो वह अत्यन्त निःस्वार्थ है। स्वार्थ में जब व्यापकता आती है, तो स्वार्थ मिट जाता है। यह स्वार्थ के निराकरण की प्रक्रिया है।

जिसकी कामना व्यापक है, वह निष्काम है। जिसकी कामना क्षितिज व्यापी है, वह अत्यन्त निष्काम है। जो सौ में सौ की भलाई चाहता है, वह अत्यन्त निष्काम, निःस्वार्थ है।

समाज में जो धर्म सामान्य है, नित्य है, वह सबका धर्म है, निष्काम धर्म है। उसका जो फल होता है, वह सबका है। फल अपने लिए हमें नहीं चाहेंगे, पर कर्तव्य हम निभायेंगे। निष्काम कर्म में यही होता है कि कर्तव्य मेरा और फल सबका, मेरे अकेले का नहीं।

यह सार्वत्रिक धर्म मानवव्यापी होता है। वही सनातन है। इस अर्थ में वह अपौरुषेय है। मनुष्य जो अपने नाप के धर्म और देवता गढ़ लेते हैं, वे शाश्वत तथा सनातन नहीं होते।

दो दृष्टिकोण

एक दूरबीन है। उसमें दो तरह के काँच हैं। एक आदमी एक काँच से देखता है, दूसरा दूसरे से। पहले से पूछते हैं कि "क्या देखा ?" तो वह कहता है कि "भगवान् वैकुंठ-लोक में बैठे हैं और अपनी आकृति के अनुसार मनुष्य का निर्माण कर रहे हैं।" दूसरे से पूछते हैं, तो वह कहता है कि "मैंने यह देखा कि जगह-जगह मंदिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों, अगियारियों और गिरजाघरों में मनुष्य बैठे हैं और अपने आकार में भगवान् को गढ़ रहे हैं।" पहले से पूछा, "कितने भगवान् हैं ?" तो वह बोला, "एक ही। मनुष्य बहुत हैं, आकृतियाँ बहुत हैं, बनानेवाला एक ही है।" दूसरे से पूछा, तो उसने कहा, "मनुष्य तरह-तरह के हैं, अनेक हैं और सब अपना-अपना भगवान् बना लेते हैं। हरएक का बनाया हुआ भगवान् उसकी शकल का है।" जैसे दर्जी हरएक मनुष्य की नाप के कपड़े बनाते हैं, वैसे ही हरएक मनुष्य अपनी नाप और सहूलियत के मुताबिक अपना-अपना भगवान् बना लेता है और फिर ये भगवान् आपस में झगड़ा करते हैं। इस तरह यह दुनिया मुर्गाबाजी का अखाड़ा बन जाती है।

सन् १९२३-२४ में एक महान् मुस्लिम नेता ने गांधीजी के बारे में कहा कि मनुष्य की दृष्टि से गांधी महान् है, पर धर्म की दृष्टि से गांधी किसी भी मामूली मुसलमान से भी छोटा है।

देखा, दो काँचों से क्या दिखाई दिया ?

हम नम्रतापूर्वक पूछते हैं कि गांधी से मामूली मुसलमान किस बात में श्रेष्ठ है ? क्या वह गांधी से ज्यादा ईश्वरपरायण है ?

'नहीं ।'

क्या वह ज्यादा मानवनिष्ठ है ?

'नहीं ।'

क्या ज्यादा सच्चा है ?

'नहीं ।'

क्या ज्यादा ईमानदार, दयानतदार है ?

'नहीं ।'

क्या ज्यादा दयाशील, करुणावान् है ?

'नहीं ।'

अब इस हालत में आप मुझे यह बतलाइये कि गांधी यदि यह कहे कि मैं कई मुसलमानों से अधिक अच्छा मुसलमान हूँ, तो वह कौन-सी गलत बात कहता है ?

धर्म कब अधर्म बनता है ?

'धर्म' जब व्यावर्तक हो जाता है, तब वह अधर्म या सम्प्रदाय बन जाता है। व्यावर्तक याने अलगावनवाला—'इतने हमारे, बाकी हमारे नहीं', यह बात जब आ जाती है, तब धर्म 'अधर्म' बन जाता है।

विनोबा ने एक दफा बड़े मजे की बात कही थी। किसीने उनसे पूछा कि "आप महाराष्ट्रीय ब्राह्मण हैं, तो कोकणस्थ हैं या देशस्थ ?" उन्होंने कहा, "मैं देश में रहता हूँ, इसलिए 'देशस्थ' हूँ। काया में रहता हूँ, इसलिए 'कायस्थ' हूँ और सबसे आखिर में मैं अपने में रहता हूँ, इसलिए 'स्वस्थ' हूँ। तो सब कुछ हूँ। ऐसा सवाल ही आप मुझसे क्यों पूछते हैं ? मैं हिन्दू हूँ, इसलिए मुसलमान नहीं हूँ, ऐसा नहीं है। मैं हिन्दुस्तान में रहता हूँ, इसलिए तुर्किस्तान मेरा नहीं, ऐसा नहीं है। हरिजन-आश्रम में हूँ, इसलिए अहमदाबाद और गुजरात में नहीं हूँ, ऐसा नहीं है।"

धर्म में व्यापक वृत्ति होती है। धर्म व्यापक होता है। सम्प्रदाय संकीर्ण होता है। हम कह चुके हैं कि विचार जब जम जाता है, तो उसका सम्प्रदाय बन जाता है। सम्प्रदायों में संघर्ष होता है। धर्म संघर्ष के लिए नहीं है। धर्म मनुष्य-से-मनुष्य को मिलाने के लिए है। मनुष्य-से-मनुष्य को अलग करने का रास्ता 'अधर्म' है।

पूछा जायगा कि अधर्म क्यों धर्म के रूप में आता है? बात साफ है। शैतान आयेगा, तो भगवान् के नाम से ही आयेगा। शैतान का अपना स्वरूप इतना विरूप, भद्दा है कि वह भगवान् का ही नाम-रूप लेगा। दुनिया में जितने धर्म हैं, जिनके कारण विरोध होता है, सख्य नहीं होता है, वे सब-के-सब 'अधर्म' हैं।

सम्प्रदाय-निराकरण

हम संकल्प कर लें कि हम जैसे वर्ग-निराकरण चाहते हैं, जाति-निराकरण चाहते हैं, वैसे ही हमें सम्प्रदाय-निराकरण भी करना है।

इस बारे में अब हमें एक कदम आगे चलना है। गांधी सर्वधर्म-समभाव तक आये। अब हमें आगे बढ़ना है। बाप से बेटा आगे न जाय, तो समझदार बाप नाराज होगा। कोई कहता है, मेरा बाप बड़ा है, तो उससे सब यही कहते हैं कि ठीक है, तुम उससे आगे बढ़ो। अगर मुझसे कोई आकर कहता है कि तुम्हारा बेटा ठीक तुम्हारे जैसा है, तो मुझे दुःख होगा। इससे अधिक नुकसान क्या हो सकता है? हर बाप की आकांक्षा रहती है कि मेरा बेटा मुझसे सवाया हो, मुझसे आगे बढ़े।

मार्क्सवादियों से मैं अक्सर कहा करता हूँ कि मैं तुमसे मार्क्स का अधिक भक्त हूँ। पर तुम लोग कहते हो कि मार्क्स से आगे कोई कुछ कहे, तो वह प्रतिगामी है। मैं कहता हूँ कि हम इतने बड़े आदमी के बाद पैदा हुए, फिर भी हम आगे नहीं बढ़ सकते, तब तो उसके बड़प्पन में बट्टा लगेगा। सारी प्रगति ही रुक गयी, ऐसा कहना होगा।

धर्म और धर्मान्तर

गांधी ने एक बहुत बड़े स्थान तक हमें लाकर छोड़ा है। उन्होंने सिखा

दिया कि सारे धर्मों को समान समझो। तो लोगों ने उसका अर्थ यह किया कि सब धर्म समान हैं, इसलिए किसी भी धर्म में जाओ, वह एक ही है। यह तो स्थूल अर्थ है।

यह बात संविधान-परिषद् में उठी थी। मूलभूत अधिकारों की चर्चा करते समय हरएक को अपने-अपने धर्म के अनुसार चलने का मौलिक अधिकार दिया जा रहा था। तब एक ईसाई सज्जन खड़े हुए और कहने लगे कि "हरएक को अपने धर्म का प्रचार करने का भी हक हो।" तो उनसे व्यक्तिगत रूप में मैंने कहा कि "आपने यह कैसी बात कही? सबको अपने धर्म के पालन का समान अधिकार हो, यहाँ तक तो बात दुरुस्त है; लेकिन उसका प्रचार करने की बात तो गलत है।" उन्होंने तो मेरी बात मान ली। लेकिन मेरे हिन्दू मित्र खड़े हो गये और कहने लगे कि "यह तो आपने भयानक बात कर दी। आप तो ऐसी बात करते हैं कि जिससे जो हिन्दू जबरदस्ती मुसलमान या ईसाई बनाये गये हैं, उन्हें हिन्दू-धर्म में वापस नहीं लाया जा सकेगा।" तो मैंने कहा कि "यह बात तो गलत हुई। धर्म की बात में संख्या से क्या मतलब? ऐसा लगता है कि आप चुनाव की या प्रतिनिधित्व की दृष्टि से बात कर रहे हैं। यह तो धर्म की बात नहीं है। यदि सारे धर्म समान हैं, तो दूसरे धर्म में जाने की जरूरत ही क्या? दूसरे धर्म में जाने के दो ही कारण हो सकते हैं—लोभ या मुमुक्षा। या तो मैं यह मानता हूँ कि दूसरा धर्म मुझे भगवान् की ओर ले जाने के लिए अधिक उपयुक्त है या फिर यह लोभ है कि दुनिया में सुविधाएँ पाने की दृष्टि से दूसरा धर्म अधिक लाभदायी है। सुविधा की बात तो धर्म-अधर्म की बात नहीं है। ईश्वर-भक्ति की, मुमुक्षा की दृष्टि से यदि कोई धर्म श्रेष्ठ और कोई कनिष्ठ है, तब तो सारे धर्म समान नहीं रह जाते।"

पुरी की घटना

मैंने गांधी से एक कदम आगे क्यों कहा? जगन्नाथपुरी की घटना है। डेलांग में गांधी सेवा-संघ का सम्मेलन था, तब नारायण देसाई की माँ और कस्तूरबा पुरी में दर्शन के लिए चली गयीं। उस समय उस बूढ़े ने बड़ा क्रोध किया। ऐसा क्रोध मानो आसमान फट गया। वह बापू का क्रोध था। लेकिन

बड़ों का क्रोध भी वरेण तुल्यः होता है—आशीर्वादरूप होता है। 'विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभंगव्यसनिनः।' जो सारी दुनिया के दोषों का निवारण करने के लिए आता है, उसका विकार भी श्लाघ्य हो जाता है। बड़े क्रोध से बापू ने पूछा कि "जिस मंदिर में हरिजन नहीं जा सकते हैं, उसमें तुम क्यों गयीं ? यह मेरे विरुद्ध है, केवल इसीलिए मुझे दुःख नहीं होता। लेकिन यह केवल हमारे ही लिए लज्जा का विषय नहीं है, यह तो मानवता का अपमान है, इसलिए मैं दुःखी हूँ !"

वह एक प्रसंग हुआ। दूसरा प्रसंग अभी आया, जब विनोबा ने कहा कि "यदि यह फ्रेंच बहन मन्दिर में नहीं जा सकती, तो मैं भी नहीं जा सकता।" गांधी ने यहाँ तक कहा कि मंदिरों में हिन्दू-मात्र को प्रवेश मिले, विनोबा अब यह कह रहे हैं कि उपासना का कोई तीर्थ या स्थल या क्षेत्र अब साम्प्रदायिक न रहने पाये। उपासना के सभी क्षेत्र मानव-मात्र के लिए खुल जायँ।

सम्प्रदाय में अदल-बदल होता है, धर्मान्तर होता है। धर्म में धर्मान्तर जैसी चीज हो ही नहीं सकती।

यदि आप वस्तुतः लोकसत्ता की स्थापना चाहते हैं, तो धर्मान्तर को यदि अधार्मिक नहीं, तो कम-से-कम गैरकानूनी तो करार ही देना होगा।

यह धर्म-परिवर्तन सामाजिक विधान के प्रतिकूल है, ऐसा विचार लोक-शासन में दाखिल करना होगा। यह ईश्वर के विधान के प्रतिकूल है, ऐसी भावना जनता में निर्माण करनी होगी। संविधान में ही धर्मान्तर का निषेध होना चाहिए, ताकि वह सर्वधर्म-समभाव के अपने सिद्धान्त से अधिक सुसंगत बन जाय। धर्म-परिवर्तन गैरकानूनी बन जाना चाहिए, क्योंकि अगर हम सारे धर्मों को समान मानते हों, तो एक से दूसरे में जाने की जरूरत नहीं है। मुहम्मद को मानते हैं, तो घर बैठे या मस्जिद में जाकर उसके ढंग से उपासना करें, कुरान पढ़ें। लेकिन लोग कहते हैं, "कुरान पढ़ो, तो अरबी में ही पढ़ो।" गुजराती में पढ़ना क्यों निषिद्ध माना जाय ? तो कहते हैं कि "धर्म-ग्रन्थ धर्म की भाषा में ही होना चाहिए, ईश्वर की भाषा में होना चाहिए।" संस्कृत को गीर्वाण-वाणी, देवभाषा कहते थे। तो ज्ञानेश्वर ने पूछा कि संस्कृत यदि भगवान् की है, तो मराठी क्या चोरों की भाषा है ? भाषाएँ सभी भगवान्

की होती हैं। तो कहते हैं, नहीं, कुरान तो अरबी में होगा। ग्रन्थ साहब गुरुमुखी में रहेंगे। इस तरह झगड़ा सम्प्रदाय में से भाषा में आया। कलि का प्रवेश हुआ। नल राजा के शरीर में पैर के अँगूठे से कलि का प्रवेश हुआ था न? फिर सारा शरीर कलिमय हो गया। वैसा ही हाल इस साम्प्रदायिक झगड़े का है। 'कलि' शब्द का अर्थ ही है 'कलह'। धर्म में असहिष्णुता आ जाती है, तो कलह का प्रवेश हो जाता है, जिसका नतीजा धर्मान्तर में होता है।

विज्ञान और धर्म

यह हुआ एक पहलू। अब दूसरा पहलू। आज एक तरफ विज्ञान है, दूसरी तरफ धर्म। विज्ञान अन्तर्राष्ट्रीय है, धर्म साम्प्रदायिक। हाँ, विज्ञान भी आजकल बहुत साम्प्रदायिक बनता जा रहा है, लेकिन उसमें दोष विज्ञान का नहीं है, सत्ताधारियों का है। मूलतः विज्ञान का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय ही रहा है। यह नहीं कि अमेरिका में एक विज्ञान है और रूस में दूसरा। गैलीलियो ने कहा कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर नहीं घूमता, पृथ्वी घूमती है। तो लोगों ने उसे बहुत सताया। तब तंग आकर उसने कहा कि "तुम कहते ही हो, तो मैं कह देता हूँ कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर नहीं घूमती। लेकिन मेरे कहने पर भी वह तो घूमती ही रहेगी, उसको मैं कैसे रोकूँगा? उसमें न मेरा कोई उपाय है, न आपका।"

विज्ञान वस्तुनिष्ठ होता है, उसका वस्तुस्थिति के साथ ही संबंध रहता है। इसलिए विज्ञान का स्वतः कोई दोष नहीं होता। लेकिन सत्तावादियों और सम्पत्तिधारियों ने विज्ञान को अपना अनुचर बनाने की कोशिश की है। वह पूरी सफल नहीं हुई है। विज्ञान फिर भी सार्वभौम रहा है। लेकिन धर्म सारे साम्प्रदायिक बन गये हैं। अब धर्म और विज्ञान का मुकाबला हो रहा है। विनोबा कहता है कि अब यह शुभ मुहूर्त आ गया है, जब कि अहिंसा का विज्ञान से विवाह हो जाना चाहिए और इसका पौरोहित्य भारत को करना है। भारत को विवाह का मंत्र-पाठ करना है और विवाह के मंगलाष्टक का उच्चारण करना है। कभी-कभी वे दूसरे शब्दों में कहते हैं कि आज अब

वेदान्त और विज्ञान एक हो जाने चाहिए। अध्यात्मविद्या और भौतिक विद्या, दोनों अब एक हो जायँ।

धार्मिक विज्ञान और वैज्ञानिक धर्म

धर्म मनुष्य को एक तरफ खींच रहा है, विज्ञान दूसरी तरफ। मनुष्य का व्यक्तित्व विदीर्ण हो रहा है, बिखर रहा है। क्योंकि मनुष्य की धर्माकांक्षा और विज्ञान का मेल नहीं है। इनके बीच खींचातानी हो रही है। मनुष्य की दुर्दशा हो रही है।

आवश्यकता है धार्मिक विज्ञान और वैज्ञानिक धर्म की। आज विज्ञान सार्वभौम है। तो जो वैज्ञानिक धर्म होगा, वह भी सार्वभौम होगा। सार्वभौम से मतलब यह नहीं कि वह एक सरीखा ही होगा। वैज्ञानिक धर्म के आविष्कार में स्थल, काल, व्यक्ति के भेदों के अनुसार अन्तर हो सकता है।

शुरू-शुरू में राष्ट्रीय शालाएँ खुलीं। हमें आदेश दिया गया कि कॉलेजों से निकल आओ, तो हम निकल आये। वहाँ भी हमें वही सिखाया गया, जो अब तक हम सीखते थे और कहा गया कि यही 'राष्ट्रीय शिक्षण' है। किसीने पूछा कि यह "राष्ट्रीय शिक्षण क्या है?" तो हमने कहा कि "यह तो गांधी जानें, हम क्या जानें?" तो वह सवाल करता है कि "दूसरी पाठशाला में २+२=४ होते हैं, तो क्या आपकी राष्ट्रीय शाला में २+२=४$\frac{१}{४}$ होता है?"

भला गणित और विज्ञान में 'राष्ट्रीय', 'अराष्ट्रीय' क्या हो सकता है? गणित और विज्ञान तो अंतर्राष्ट्रीय होते हैं। लेकिन हम तो 'राष्ट्रीय शिक्षण' का काम लेकर बैठे थे न! तो फर्क क्या? पहले हम जो गणित सीखते थे, वह किताब अंग्रेजी में रहती थी। उसमें ऐसा सवाल रहता था कि एक पैसे के दो अंडे, तो चार पैसे के कितने? अब गणित तो ठीक है, पर अंडे से हमें क्या मतलब? तो राष्ट्रीय शिक्षण के गणित में ऐसा हिसाब होगा कि एक पैसे के दो आम, तो चार पैसे के कितने? जब हम आम कहते हैं, तो एकदम हमारे सामने आम की आकृति खड़ी हो जाती है और जीभ में भी पानी आ जाता है। इसका हमारे जीवन के साथ अनुबंध है। शिक्षण हमारे विशिष्ट संस्कारों के

अनुरूप होना चाहिए। गणित और विज्ञान सार्वभौम हैं, लेकिन उनका विनियोग अलग-अलग ढंग से हो सकता है। सम्प्रदाय संकुचित होते हैं, लेकिन धर्म अपने में सार्वभौम है। जो वैज्ञानिक धर्म होगा, वह गणित और पदार्थ-विज्ञान से कहीं अधिक व्यापक होगा। धर्म भगवान्-सा व्यापक होना चाहिए। जो व्यापक है, वही 'धर्म' है, जो अव्यापक है, वह 'अधर्म' है।

'यो वै भूमा तत् सुखम्।'

अब इसको विज्ञान के साथ कैसे मिलायें? विज्ञान और धर्म—इनके जो विरोध हैं, उनका निराकरण करना है, क्योंकि हम देख चुके हैं कि विरोध का निराकरण ही समन्वय है, यही क्रांति का उद्देश्य है।

प्रभुत्व या तादात्म्य ?

एक दफा बापू ने कहा : "मेरे अगर बस की बात होती, तो मैं मक्खी को भी नहीं मारता।"

मैंने कहा : "बापू, आपकी बात ठीक होगी, लेकिन मेरे मन में यह प्रश्न उठता है कि भगवान् ने खटमल, मच्छड़ वगैरह पैदा ही क्यों किये ?" तो जवाब मिला : "अभी तो मेरे लिए इतना ही काफी होगा कि तुम मनुष्य को न मारो। लेकिन सोचो तो कि कहीं कल खटमल और मच्छड़ों की सभा हो और उनकी सभा में यह विचार आये कि हमारी समझ में नहीं आता कि इस दादा को भगवान् ने क्यों बनाया है? वह हमारे किसी काम का नहीं। तो शायद दूसरा कहेगा कि दादा का शरीर भगवान् ने इसलिए पैदा किया है कि हम उसका खून पी सकें। भगवान् की हर बात में योजना हुआ ही करती है।"

मनुष्य की यह जो मनोवृत्ति है कि भगवान् ने मुझे सुख देने के लिए ही सृष्टि का निर्माण किया है, उसका विकास सत्तावाद से हुआ है। प्रेम से तादात्म्य का विकास हुआ है। सृष्टि से हमारा सम्बन्ध तादात्म्य का रहे या प्रभुत्व का, विज्ञान और अध्यात्म की यह समस्या है। विज्ञान और धर्म का यह मूल विवाद है। क्या सृष्टि हमारी दासी है या वह भगवान् की संगिनी, हमारी माता है, जिसके साथ हमारा तादात्म्य होगा? एक तरफ काव्य का दृष्टिकोण है, दूसरी तरफ विज्ञान का। एक कवि है, एक वैज्ञानिक। कवि

वैज्ञानिक नहीं है और जो वैज्ञानिक है, वह कवि नहीं है। कवि कहता है : "सूर्य सारे जहाँ की आँख हैं", 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः।' विज्ञान ने कहा : "चक्षु कहाँ का, यह तो प्रकाश का गोला है—यह भी पता है कि प्रकाश को यहाँ आने में कितनी देर लगती है ?"

लेकिन संसार का जितना व्यवहार चलता है, उसमें स्नेह का प्रथम स्थान है। पहले स्नेह की भावना आती है, बाद में विज्ञान आता है।

बच्चा पैदा होते ही उसे माँ की गोद में देते हैं। माँ बच्चे को स्तन से लगा लेती है। तो वैज्ञानिक क्या यह कहता है कि अरे, जरा ठहर, पहले इसे सारा आहार-शास्त्र समझायें, बाद में स्तन से लगाना, नहीं तो दूध अवैज्ञानिक बन जायगा ? एक का नाम भावना रखा है और दूसरे को प्रत्यक्ष प्रमाण-वाद—प्रयोगवाद कहा है। जो सिद्धान्त प्रत्यक्ष प्रयोग से सिद्ध नहीं होते, उनको मानना गलत समझा जाता है।

विज्ञान और धर्म का यह निरन्तर विरोध चलता है। सवाल यह है कि क्या इन दोनों को मिलाया जा सकता है ? क्या कवि और वैज्ञानिक निकट आ सकते हैं ? विज्ञान जवाब देता है कि अब ऐसा संयोग हो सकता है। काव्यविहीन विज्ञान दुनिया को श्मशान बना देगा और विज्ञानहीन काव्य उसे स्वप्न से भी अधिक वस्तु-पराङ्मुख बन जायगा। अब इसे कोई निरी भावना नहीं कहता।

सृष्टि से तादात्म्य

औरंगजेब के जमाने में कला के अस्तित्व का ही सवाल पैदा हुआ था। इंग्लैंड में भी ऑलिवर क्रोमवेल के जमाने में ऐसा ही प्रश्न उठा था। औरंगजेब इतना कला-विरोधी था कि कुछ लोगों ने एक दिन संगीत की शव-यात्रा निकाली। औरंगजेब ने पूछा : "किसे ले जा रहे हो ?" लोगों ने कहा कि "यह तो संगीत का जनाजा है। अब आपकी हुकूमत में इसके लिए कोई जगह ही नहीं रह गयी, इसलिए इसे दफनाने जा रहे हैं।" तो औरंगजेब ने कहा : "हाँ, ठीक है। इसे इतना गहरा गाड़ो कि फिर से बाहर ही न निकल सके।" ऑलिवर क्रोमवेल के 'प्युरिटन' जमाने में भी संगीत-नृत्य आदि पर पाबन्दी

लगी थी। तब एक कलाकार ने कहा: "अच्छा है, मत गाने दो, चित्र मत खींचने दो, पर यह आकाश, यह चन्द्रमा, ये फूल, ये नदियाँ, ये कलकल करते हुए झरने और जल-प्रपात, क्या इन सबको देखने से तुम हमें रोक सकते हो? झरने का मधुर कलरव और हवा की धीमी-धीमी मीठी आवाज तुम जब तक नहीं रोक सकते, तब तक तुम इस दुनिया से कला को निर्वासित नहीं कर सकते।"

मनुष्य का सृष्टि से तादात्म्य अवैज्ञानिक नहीं है। सृष्टि-नियमों का जो आविष्कार लेबोरेटरी से बाहर होता है, वह विज्ञान से बाहर है, ऐसा जो कहते हैं, वे सबसे बड़े अवैज्ञानिक हैं। आजकल लोग ऐसा मानने लग गये हैं कि लेबोरेटरी में जो होता है, वही शोध है। प्रश्न है कि शोध किसका? जो लेबोरेटरी के अंदर है, उसका शोध करना है या जो बाहर है, उसका? सृष्टि से तादात्म्य होना अत्यन्त वैज्ञानिक है। कलाओं को वैज्ञानिक सत्यों से मिलाने की चेष्टा करनी होगी। धर्म में जितनी वस्तुनिष्ठा, सत्यनिष्ठा और व्यापकता आयेगी, उतना-उतना धर्म सार्वभौम बनता जायगा।

मैं साहित्य से दो उदाहरण दूंगा।

हिमालय के एक वृक्ष का वर्णन कालिदास करता है। यह कौनसा देवदारु है? 'पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।' भगवान् शंकर ने इसे अपना पुत्र मान लिया था और इसे दूध पिलाती थीं साक्षात् भगवती पार्वती। इसमें सृष्टि से जो तादात्म्य है, जो कोमल भावना है, उसे यदि आप अवैज्ञानिक कह देंगे, तो इससे अधिक अरसिक और अवैज्ञानिक क्या होगा?

दूसरा उदाहरण लीजिये। शकुन्तला श्वशुरगृह को जाने लगी, तब उससे कण्व ऋषि पूछते हैं: "तू जा रही है, इन पौधों से बिदा ली?" "कौनसे पौधे?" तो कण्व वर्णन करते हैं, "अलंकार से इतना प्रेम होते हुए भी तूने इन पौधों का एक पत्ता भी नहीं तोड़ा, जिन्हें पानी पिलाये बिना तूने स्वयं पानी भी नहीं पीया। 'पातुं न व्यवस्यति जलम्।' 'तुम्हारा एक पत्ता भी जिसने शृङ्गार के लिए नहीं तोड़ा', वह शकुन्तला आज जा रही है, तो बिदा लो।" सृष्टि के साथ यह जो तादात्म्य की भावना मनुष्य में होती है, वह अत्यन्त मंगलकारी है, सांस्कृतिक है। जीवन का विकास इसी भावना से होता है। विज्ञान को

इसका आदर करना चाहिए। विज्ञान मनुष्य को प्र भुत्ववादी न बनाय। बल्कि मनुष्य का सृष्टि से तादात्म्य बढ़ाये। अगर सृष्टि के सुसंवादी ताल से विज्ञान का कदम नहीं मिलेगा, तो विज्ञान का उपयोग संहार के लिए होगा।

औद्योगिक और यांत्रिक क्रांति

यंत्रवादियों ने कहा : "हम वैज्ञानिक यंत्रीकरण से मनुष्य का स्वभाव-परिवर्तन कर देंगे।" बाजारवालों ने, जिनके पास पैसा है, कहा : "हम विज्ञान का उपयोग मोक्ष के लिए कभी नहीं करेंगे, मुनाफे के लिए ही करेंगे। हम जब तक बाजार में बैठे हैं, तो धर्म का भी उपयोग मुनाफे के लिए करेंगे।"

हमने औद्योगिक क्रान्ति और यान्त्रिक क्रान्ति को एक मान लिया है। यह भारी गलती है। दोनों एक नहीं हैं। पूंजीवाद ने यंत्र-विज्ञान से लाभ उठा लिया, लेकिन यांत्रिक क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति या व्यापारिक क्रान्ति दो अलग चीजें हैं। दुनिया में लोहा, कोयला, पेट्रोल का आविष्कार न भी होता, वाष्पशक्ति का आविष्कार भी न हुआ होता, तो भी दुनिया में औद्योगिक क्रान्ति, व्यापार का युग और पूंजीवाद आता ही। हाँ, बिना यन्त्र के वह इतने भीमकाय रूप से नहीं आता, लेकिन आता ही नहीं, यह मानना गलत है। संक्रान्ति जैसे सवारी पर बैठकर आती है—कभी गधे पर, कभी घोड़े पर या कभी बैल पर, उसी तरह पूंजीवाद यन्त्र पर बैठकर आया। यन्त्र के कारण पूंजीवाद की गति और आकार बदल गया। लेकिन यन्त्र अलग आया और पूंजीवादी अलग आया। बाद में उन दोनों का सम्बन्ध हो गया। अब हमें लगता है कि दोनों का सम्बन्ध अविभाज्य है।

यन्त्र और विज्ञान

समाजवादियों के विचार में, मार्क्स और कम्युनिस्टों में एक सचाई है कि उन्होंने इन दोनों को मिलाया नहीं है। पूंजीवाद ने यन्त्र का दुरुपयोग किया। यन्त्र की प्रतिष्ठा समाज में पूंजीवाद के कारण नहीं है। बल्कि इसलिए है कि उसने मनुष्य को केवल परिश्रम से, गधा-मजूरी से बचाने का आश्वासन दिया। यन्त्र से पहले कुछ आदमियों को केवल गधा-मजूरी, सिर्फ मशक्कत करनी

पड़ती थी। उनके मस्तिष्क का विल्कुल उपयोग नहीं था। इस बात की सावधानी रखी जाती थी कि उनका दिमाग बिल्कुल ही काम न करे। उनके लिए शिक्षण का अभाव ही था। दिल और दिमागवाले अलग थे। कुछ गुलाम कहलाते थे, कुछ मालिक। कोशिश यह थी कि पशु और गुलाम के दिमाग न रहे, लेकिन शरीर में श्रम-शक्ति रहे। उनका उपयोग शरीर-शक्ति के लिए ही माना गया, बुद्धि के लिए नहीं। यन्त्र के रूप में यह आश्वासन आया कि अब गुलामों की जरूरत नहीं रहेगी। यह आश्वासन यन्त्र की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा का कारण हुआ। मनुष्य को यन्त्र द्वारा कष्ट-निवारण का यह जो आश्वासन था, उसने यन्त्र-विरोध को अवैज्ञानिक करार दिया। लेकिन यन्त्र के आने पर भी गधा-मजूरी क्यों नहीं गयी? इसलिए कि यन्त्र ने जो फुरसत पैदा की, उस पर कुछ लोगों ने एकाधिकार जमा लिया। कुछ लोग फुरसतखोर हो गये। इन लोगों के कारण यन्त्र की प्रतिष्ठा नहीं है। यन्त्र ने मनुष्य को निर्बुद्ध और कलाहीन परिश्रम से बचाने का आश्वासन दिया, फिर भी वह नहीं बचा सका। इसका मुख्य कारण यही है कि सम्पत्ति-वानों और सत्ताधारियों ने उसका दुरुपयोग किया।

उपकरणवाद

तो मैंने दो बातें कहीं। एक तो यह कि औद्योगिक क्रान्ति को यान्त्रिक क्रान्ति से मत मिलाइये और दूसरी बात यह कि यन्त्र को विज्ञान से मत मिलाइये।

अगर कोई मुझसे पूछता है, "आप मोटर में नहीं बैठते?" और अगर मैं कहता हूँ, "नहीं भाई, मैंने तो घोड़ा रखा है।" तो वह कहता है कि "यह क्या? इस विज्ञान के युग में आप यह कैसी अवैज्ञानिक बात कर रहे हैं?" तो क्या घोड़ा अवैज्ञानिक है? घोड़ा मनुष्य ने नहीं बनाया, इसलिए वह अवैज्ञानिक हो गया? आँख अवैज्ञानिक है और चश्मे में वैज्ञानिकता आ गयी है! तो कृपा करके यन्त्र को विज्ञान न समझ लें। ऐसा समझेंगे, तब तो यह आक्षेप भी हो सकेगा कि प्रकृति भगवान् की बनायी हुई है, इसलिए अवैज्ञानिक है और मनुष्य भी भगवान् का बनाया हुआ है, इसलिए मनुष्य भी अवैज्ञानिक

है। इधर वैज्ञानिक मनुष्य बनाने की बात भी करते हैं। तब भी बनानेवाले मनुष्य बने हुए मनुष्य से बड़े ही रहेंगे। यह जो भ्रम फैला है कि विज्ञान और यन्त्र एक है, वह गलत है। यन्त्र विज्ञान से बना है, विज्ञान अधिक व्यापक वस्तु है। यन्त्र उपकरण है। लोग जब कहते हैं कि यन्त्रीकरण से हम मनुष्य के स्वभाव को और मनुष्य की हर चीज को बदलेंगे, तो वह कहाँ तक सही या गलत है, यह हमने देख लिया। यदि मनुष्य ने हर चीज को यंत्र मान लिया, तो समाज यंत्रनिष्ठ हो जायगा और यंत्र देवता बन जायगा। अर्थात् मनुष्य उपकरणवादी बन जायगा। वैसे सभी कलाकार और कारीगर यंत्र-पूजक, अपने उपकरणों की पूजा करनेवाले होते ही हैं। लेकिन यह जो मैंने उपकरणवाद कहा, उसमें और इसमें फर्क है।

दशहरे के दिन घोड़े की पूजा करते हैं। मोटर की भी पूजा करते हैं। बढ़ई, लोहार सब अपने-अपने औजारों की पूजा करते हैं। लेकिन जिस मात्रा में यांत्रिक यंत्रनिष्ठ होते हैं, उस मात्रा में कारीगर कभी उपकरणनिष्ठ नहीं होते। नारायण मुझसे कहता है कि प्रार्थना सुबह ४॥ बजे होगी। तो मैं कहता हूँ कि ये प्रबोध भाई मुझे जगा देंगे। लेकिन प्रबोध भाई की आँख ठीक समय पर खुल जायगी? यंत्र चूकता नहीं, मनुष्य चूकता है। प्रबोध भाई प्रमाद कर सकते हैं, लेकिन घड़ी तो ठीक समय पर बजेगी ही। तो आखिर मनुष्य यंत्र पर ज्यादा भरोसा रखता है। यंत्र कभी प्रमादशील नहीं बन सकता। यंत्र मनुष्य की जगह कैसे धीरे-धीरे लेता है, यह इससे देखने को मिलता है। यंत्रीकरण के साथ समाज यंत्रनिष्ठ हो जाता है। यंत्र पर इतना भरोसा न हो कि वह मनुष्य की जगह ले ले। यंत्र में इतना विश्वास न हो कि मनुष्य के ऊपर भरोसा ही न रहे। आर्थिक संयोजन में यंत्र हों, यह अलग बात है; लेकिन मनुष्य की जगह यंत्र ही न आ जाय, इसकी सावधानी रखनी चाहिए।

यंत्र और मानवीय मूल्य

यही बात धार्मिक और सामाजिक मूल्यों के बारे में भी हमने कही थी। हमारा परम मूल्य मनुष्य है। मानवीय मूल्यों की जगह यंत्र कभी ले नहीं सकता। दुनियाभर के सब क्रांतिवादियों के सामने यह समस्या है। रूस के

विचारकों ने यही कहा है कि रूस की समस्या आर्थिक या औद्योगिक नहीं है, वल्कि सांस्कृतिक है। मनुष्य को यंत्र-निष्ठा से मानव-निष्ठा की तरफ कैसे मोड़ा जाय, यही सवाल है। क्रांति की प्रक्रिया में हमें इसकी सावधानी रखनी चाहिए। आगे चलकर यह सवाल उठे, इसके वनिस्बत हम यह कहना चाहते हैं कि क्रांति की हमारी प्रक्रिया ही मानवनिष्ठ हो। आगे चलकर हमारे सामने वे ही सवाल न खड़े हों। इसलिए आज तक के क्रांतिकारियों के प्रयत्नों से क्या नतीजा आया, हम लोग कहाँ तक आये हुए हैं, यह देख लेना चाहिए।

यंत्र के साथ मानव-जीवन में बाहरी एकरूपता आयी। यंत्रीकरण ने मनुष्य का 'प्रमापीकरण' किया। यंत्र के साथ सबको वाहर से समान बनाने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है, क्योंकि यंत्र एक ही छाप की चीज बना सकता है। एक ही यंत्र अलग-अलग तरह की चीजें तो नहीं वनायेगा। अच्छा हुआ कि भगवान् के पास मनुष्य बनाने का यंत्र नहीं था, नहीं तो सब मनुष्य एकदम एक-से ही होते। हम सब 'स्टैंडर्ड' माल वनते। जैसे आजकल यंत्र-युग में हो रहा है। एक-सी टोपियाँ, वाटा के जूते सब एक-से वनने लगे हैं। ऐसा कोई साँचा भगवान् के पास नहीं रहा होगा। इसलिए भगवान् को अवैज्ञानिक माना जाता है। इसीलिए विज्ञान के क्षेत्र में बेचारे भगवान् को स्थान नहीं। यंत्रीकरण के साथ 'स्टैंडर्डाइजेशन' 'प्रमापीकरण' आता है। मनुष्य का वाह्य रूप जहाँ तक हो सके, समान बनाने की ओर प्रवृत्ति होती है। ऐसी वाह्य समानता से लाभ भी हैं और हानि भी है। यंत्रीकरण की क्या मर्यादा है, यंत्रीकरण इससे आगे क्यों नहीं जाना चाहिए, यहाँ तक कैसे आया और किस मर्यादा से आगे उसे रुकना चाहिए, इसका विचार हमें करना होगा। क्यों करना होगा? क्योंकि हमारी प्रतिज्ञा है कि हमें अब 'धार्मिक विज्ञान' और 'वैज्ञानिक धर्म' की स्थापना करनी है। दोनों को अब सार्वभौम बनाना होगा और उसका मंदिर सारे विश्व को बनाना होगा। उपासना में विविधता भले ही हो, लेकिन आज जैसा विरोध है, जैसी विषमता है, वह नहीं रहनी चाहिए।

प्रमापीकरण और विशिष्टीकरण

विज्ञान के कारण हमारे जीवन में सबसे बड़ा जो परिवर्तन हो जाता है,

उसके दो लक्षण हैं—एक तो है प्रमापीकरण और दूसरा है विशिष्टीकरण। विज्ञान के पहले मनुष्य के सब औजार बहुधंधी थे, जैसे कि हँसिया। उससे फसल काटी जा सकती है और झगड़ा हो जाय, तो गर्दन भी काटी जा सकती है। हाँ, तलवार में ऐसा नहीं है, वह सिर्फ गर्दन काटने का औजार है। विज्ञान के आने से औजार में विशिष्टीकरण हो गया। विशिष्ट यंत्र बन गये। एक यंत्र एक ही काम करता है। ०००

चार प्रश्न : पुनर्जन्म, प्रेरणा, वर्ण और आश्रम : ४ :

हर सिद्धान्त का, हर तत्त्व का विचार मैं सामाजिक मूल्य के नाते करता हूँ और समाज-परिवर्तन में हम जो क्रान्ति उपस्थित करना चाहते हैं, उस क्रान्ति में उसका कितना उपयोग है, इस दृष्टि से विचार करता हूँ।

"पहले समाज हुआ या पहले व्यक्ति हुआ? पहले राज्य हुआ या पहले नागरिक हुआ? पहले स्त्री हुई या पहले पुरुष हुआ?" ये सब वृक्ष-बीज न्याय के प्रश्न कहलाते हैं। इन प्रश्नों को हमें पण्डितों के लिए छोड़ देना चाहिए।

१. पुनर्जन्म और पुरुषार्थवाद

पुनर्जन्म का मैंने एक तथ्य याने वास्तविकता के नाते कभी विचार नहीं किया। पुनर्जन्म एक उपपत्ति है। उसका अनुमान किया जा सकता है। मैं इस विषय में शास्त्र में से कुछ दृष्टान्त भी दूँगा।

नागरिक संधिपत्र

राज्यशास्त्र में रूसो का नाम आता है। रूसो ने सामाजिक संधिपत्र का सिद्धान्त रखा है। उस सिद्धान्त का मतलब यह है कि नागरिकों के बीच और राजा के बीच एक इकरारनामा हुआ और उस इकरार के मुताबिक आगे समाज चलने लगा। राज्यशास्त्र की पुस्तकों में कई अध्याय इस विषय पर लिखे गये हैं कि क्या यह एक ऐतिहासिक घटना है। क्या किसी दिन राजा और प्रजा के बीच ऐसा इकरारनामा सचमुच हुआ था? सारे राज्यशास्त्री इस नतीजे पर पहुँचे कि यह ऐतिहासिक घटना नहीं है। यह एक उपपत्ति है। समाज के व्यवहार को समझाने के लिए एक सिद्धान्त है। हम नहीं जानते कि सामाजिक इकरार कभी हुआ था या नहीं। लेकिन यह तो मानना ही होगा कि यह तत्त्व आज की हमारी समाज-व्यवस्था में छिपा हुआ है।

पुनर्जन्म की कल्पना में तत्त्व की बात सिर्फ इतनी ही है कि मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कामों के लिए जिम्मेवार है। जिसे हम दैव कहते हैं, वह भी मानव-निर्मित होता है, कर्म-जन्य होता है। मेरे लिए पुनर्जन्म-सिद्धान्त का इतना ही महत्त्व है। अपने अच्छे और बुरे कामों के लिए मनुष्य स्वयं जिम्मेवार है। यह मनुष्य का कर्तृत्व कहलाता है। पुरुषार्थ और दैवाधीनता के सम्बन्ध में पुराने शास्त्रों में अत्यधिक चर्चा है। हमें उसमें से समाज के अपने व्यवहारों के काम की जो चीज है, उसे ही उठा लेना है। वह चीज यह है कि हम मनुष्य को, नागरिक को, जिम्मेवार मानते हैं। उसे उसके अच्छे कामों के लिए भी हम जिम्मेवार मानते हैं और बुरे कामों के लिए भी। इसे मैं मनुष्य की 'मनुष्यता' कहता हूँ।

पशु, देवता में और मनुष्य में यह भेद है। देवयोनि भोगयोनि है और पशुयोनि भी भोगयोनि है। देव अपने कर्मों के लिए जिम्मेवार नहीं होते। वे तो पुण्य का उपभोग करने के लिए स्वर्ग में जाते हैं। पुण्य क्षीण होता है, तो फिर कर्म करने के लिए यहाँ मृत्युलोक में ही आते हैं। हमारा मानव-देह कर्म-प्रधान है। यह कर्मयोनि कहलाती है। अन्य देव और पशुयोनियाँ हैं। पशु भी अपने कामों के लिए जिम्मेवार नहीं होता। आपकी गाय अगर मेरा खेत चर जाय, तो सजा आपको होती है, गाय को नहीं। वह अपने अच्छे-बुरे कामों के लिए जिम्मेवार नहीं है। देव भी अपने अच्छे-बुरे कामों के लिए जिम्मेवार नहीं हैं। पर मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कामों के लिए जिम्मेवार है।

फिर विषमता क्यों है? तब यह कहा जाता है कि मनुष्य की सारी परिस्थिति उसके कर्मों का परिणाम है। इसीलिए पिछले जन्म के कर्म इस जन्म की परिस्थिति के लिए जिम्मेवार हैं। ऐसी एक उपपत्ति उसमें से निकाल ली। अब आप इसमें से यह जन्म, अगला जन्म और पिछला जन्म, इतना निकाल दीजिये; सिर्फ इतना ही सिद्धान्त ग्रहण कीजिये कि हर मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कामों के लिए जिम्मेवार है और यही मनुष्य-योनि की विशेषता है।

क्रान्ति और पुनर्जन्म

अब जिस क्रांति को हम उपस्थित करना चाहते हैं, उसके साथ इस विचार का क्या अनुबन्ध है? एक भाई ने सवाल किया था कि "तुम मार्क्सवाद की

बात करते हो, तो क्या यह नहीं मानते कि आज की परिस्थिति, आज की हमारी विषमता मनुष्य की आर्थिक परिस्थिति का, अर्थ-रचना का परिणाम है?" मैं मानता हूँ। परिणाम अर्थ-रचना का है, मनुष्यों की अर्थ-रचना का है; लेकिन सिर्फ परिस्थिति का परिणाम नहीं है। इसमें मनुष्यों का अपना कर्तृत्व भी कुछ है। इतनी बात उसमें और जोड़ देना चाहता हूँ। यह केवल ऐतिहासिक नियति नहीं है। ऐतिहासिक नियति में मनुष्य के पुरुषार्थ का भी कुछ हिस्सा रहता है। सवाल यह है कि क्या केवल ऐतिहासिक नियतिवाद सही है? समाज की जो प्रगति होती है, समाज में जो परिवर्तन होता है, वह क्या केवल प्राकृतिक नियमों के अनुसार होता है? जैसे खेती है। युधिष्ठिर से पूछा था कि "तेरी खेती क्या सिर्फ बारिश पर निर्भर है? जब बारिश आयेगी, तब खेती होगी, जब बारिश का मौसम होगा, तभी खेती होगी?" इसका मतलब यह था कि बारिश पड़ना या न पड़ना किसान के हाथ की बात न थी। बारिश जब होगी, तब उसकी खेती हो सकेगी, जब बारिश नहीं होगी, तब खेती नहीं हो सकेगी। प्राकृतिक नियमों का एक विशिष्ट परिस्थिति में संयोग होगा, तब तो हमारी क्रांति हो सकेगी। उन प्राकृतिक नियमों का संयोग नहीं होगा, तो ऐतिहासिक घटना भी नहीं घट सकेगी। क्या हम इतना ही मानें या इससे अधिक कुछ मानें?

यह सवाल सिर्फ आपके-मेरे सामने नहीं है। वैज्ञानिक समाजवाद के सामने भी यह सवाल आया। उसके प्रवक्ताओं ने लिखा कि जिस तरह से जड़ प्रकृति के नियम होते हैं, उसी तरह से मानवीय प्रकृति के नियम होते हैं। प्रकृति में हम जो सिद्धान्त पाते हैं, जिस तरह की रचना पाते हैं, उसी तरह से मानवीय समाज का भी विकास होता है, उसमें परिवर्तन होता है।

सवाल यह उठता है कि तो फिर मनुष्य के करने के लिए कुछ रह जाता है या नहीं? जिसे आप क्रांतिकारी पक्ष कहते हैं, उसकी कोई भूमिका है या नहीं? यह सवाल उसमें से पैदा होता है। मार्क्स, एंगल्स को कहना पड़ा, "क्रांतिकारी पक्ष वह है, जो इस संयोग को, प्राकृतिक नियमों के संयोग को, देख सकता है और ऐतिहासिक आवश्यकता से फायदा उठा सकता है।" यहाँ पर पुरुष का कर्तृत्व आ जाता है।

मैंने इसे पुनर्जन्म के साथ कैसे जोड़ा? पुनर्जन्मवादी पहले कहता था, "जैसी नियति होगी, वैसा काम हमसे होगा। भगवान् जिस तरह से हमसे करायेगा, उस तरह से हम कर लेंगे।" तो फिर सवाल यह होता है कि "करानेवाला भी भगवान्, करनेवाला भी भगवान्, तो बुरे कामों की सजा भी भगवान् को ही मिलनी चाहिए।" कुछ ईसाई ईमानदार निकले। उन्होंने कहा कि "हाँ, हमारी सजा तो ईसा ने भुगत ली, अब हमको भुगतने की आवश्यकता नहीं रह गयी है।" तब विवेकी मनुष्य ने कहा कि "यह तो मेरे ईमान के खिलाफ है। मेरी प्रतिष्ठा के खिलाफ है। मैं बुरा काम करूँ और उसकी सजा कोई दूसरा भुगते, यह बात मेरी इज्जत के, मेरी प्रतिष्ठा के, प्रतिकूल मालूम होती है। मैं अपने लिए किसी दूसरे को सजा नहीं भुगतने दूँगा।" यह जो कर्म-विपाक का, पुनर्जन्म का सिद्धान्त है, वह सिद्धान्त मनुष्य को भाग्यवादियों से और नियतिवादियों से ऊपर उठा देता है। पुरुष को वह पुरुषार्थ के लिए प्रेरित करता है। हम जिस क्रान्ति का विचार कर रहे हैं और जिन सामाजिक मूल्यों का विचार कर रहे हैं, उन सामाजिक मूल्यों की स्थापना में पुरुषार्थ के लिए अवसर है। पिछले समाज के पाप इस समाज को भुगतने पड़ते हैं। सामुदायिक पाप का मतलब है सामूहिक दुष्कर्म। इससे अधिक कुछ न समझिये। पूँजीवादी समाज में जितने दोष हैं, उन दोषों के परिणाम हम सबको भुगतने पड़ते हैं। इसमें किसीका व्यक्तिगत दोष और व्यक्तिगत पाप नहीं है। जो गरीब है, उसने पिछले जन्म में पाप किया होगा, यह पुनर्जन्मवादी कहेगा। पर मैं सामाजिक सिद्धान्त का निरूपण आपके सामने कर रहा हूँ। उसके अनुसार मैं यह कहूँगा कि पिछले समाज में जो दोष थे, उन दोषों का परिणाम आज के समाज के व्यक्तियों को भुगतना पड़ रहा है। इसलिए जो क्रांतिकारी पक्ष होगा, उसे उन कारणों का, जिन कारणों का यह परिणाम है, अध्ययन करना होगा।

२. प्रेरणा का प्रश्न

प्रेरणा का प्रश्न लीजिये। सवाल है कि सबका स्वार्थ विलीन हो जायगा, तो क्या 'प्रेरणा' समाप्त नहीं हो जायगी? 'प्रेरणा' का अर्थ है—काम करने

की प्रेरणा। प्रेरणा की समस्या आज तक आप लोगों को तंग कर रही है। सारे क्रांतिकारियों को, सारी राज्य-संस्थाओं को, सारी सामाजिक संस्थाओं को, यह हमेशा से तंग करती आ रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि पूंजीवाद ने हमारे मन में यह भ्रम उत्पन्न कर दिया है कि बगैर फायदे के मनुष्य कोई काम कर ही नहीं सकता। विनोबा का एक प्रसिद्ध लेख है—'फायदा क्या है?'* किसीने पूछा, "इससे क्या फायदा? उससे क्या फायदा?" तो विनोबा ने कहा, "एक सवाल अंतिम पूछ ले कि फायदे से भी क्या फायदा है? यह आखिरी सवाल तू नहीं पूछता है!"

उपयोगितावाद

स्वार्थ जब व्यापक हो जाता है, तो वह निःस्वार्थ में परिणत हो जाता है। अब इसे आज के समाजशास्त्र की परिभाषा में देखिये।

'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' यह सिद्धान्त आया उपयोगितावाद से। विनोबा ने इसका नाम रखा है—फायदावाद। उपयोगितावादी बड़े बुद्धिवादी और व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादी थे। उन्होंने एक सिद्धान्त बना दिया, "हरएक को अपना फायदा चाहिए। संसार में यदि हर व्यक्ति अपने फायदे का विचार करे, तो सबका फायदा अपने-आप हो जायगा।" कुछ शास्त्रियों ने, जो जीवन से विमुख थे, इसका विचार गणित की परिभाषा में इस प्रकार रखा—अ + ब + क = अ × ब × क। याने मेरे, प्रबोध के और नारायण के, तीनों के अलग-अलग फायदों के जोड़ का नाम है तीनों का सम्मिलित फायदा। याने व्यक्तियों के स्वार्थों के जोड़ का नाम समाज का स्वार्थ है, समाज का हित है। उनका मत है कि जब तक फायदा न हो, तब तक आदमी कोई काम नहीं करेगा और एक आदमी दूसरे के फायदे के लिए काम नहीं करेगा। इसलिए हरएक का अपना फायदा ही काम की प्रेरणा हो सकती है। यहाँ तक आदमी पहुँचा किस कारण? पूंजीवाद के कारण। परिस्थिति में जो मूल्य प्रचलित हो जाते हैं, उनके अनुरूप मनुष्यों के संस्कार बन जाते हैं।

---

* विनोबा के विचार, पहला भाग, पृ० २८-३१।

पूँजीवादी के पास जब बहुत धन हो जाता है, तो यह सवाल उसके सामने होता है कि इस धन का क्या करें? कोई उन्हें स्वर्ग का, मोक्ष और वैकुण्ठ-लोक का आश्वासन न दे, तो भी धनवानों के पास ज्यादा धन हो जाने के बाद उनके मन में उस धन को बाँटने की आकांक्षा स्वतः पैदा होती है। हमने अब तक मनुष्य की लाभ की ही प्रेरणा की ओर ध्यान दिया है, जो उसकी प्रधान प्रेरणा नहीं है।

मानव की सामाजिकता

मनुष्य की प्रधान प्रेरणा यह है कि वह दूसरों को अपने जीवन में शामिल करना चाहता है। इसीको हमने उसकी 'सामाजिकता' कहा है। यह हमने गलत मान लिया है कि मनुष्य अपने जीवन में दूसरों को शामिल नहीं करना चाहता, वह स्वयं ही उपभोग करना चाहता है। यही यदि एकमेव सत्य होता, तो मनुष्य ने कभी सहजीवन को अपना आदर्श नहीं माना होता। मनुष्य जिस आदर्श को मान्य रखता है, वह आदर्श उसकी नैसर्गिक प्रेरणा के अनुकूल अवश्य होता है। नहीं तो आदर्श की पूजा ही नहीं हो सकती। आदर्श की पूजा क्यों होती है? आखिर मैं आदर्श को मानता क्यों हूँ? मेरे अपने भीतर कोई-न-कोई एक नैसर्गिक आकांक्षा होती है, वह आदर्श का रूप लेकर मेरे सामने खड़ी हो जाती है। कृष्णमूर्ति तो कहने लगे हैं कि यह सारा आत्मा का आरोप ही है। हमारे जो आदर्श और ध्येय होते हैं, उनकी आकांक्षाएँ हमारे भीतर ही होती हैं। जैसे, मरते हैं, मरना नहीं चाहते तो स्वर्ग की कल्पना कर ली, जहाँ जीते ही रहेंगे और मरने का कभी मौका ही नहीं होगा। काम करते हैं, खाने को नहीं मिलता, तो स्वर्ग की कल्पना कर ली, जहाँ काम करना ही नहीं पड़ेगा और अपने-आप खाने को मिल जायगा। ऐसी कुछ आकांक्षाएँ, जो चित्त में होती हैं, उनके अनुरूप मनुष्य अपने आदर्श निर्धारित कर लेता है।

सामुदायिक प्रेरणा

इसका अर्थ यह है कि मनुष्य में एक अन्य प्रेरणा भी है। वह दूसरे जीवों को अपने जीवन में दाखिल कर लेना चाहता है। यही मनुष्य की मुख्य प्रेरणा

है और अन्य सब प्रेरणाएँ गौण हैं। सारा समाज मनुष्यों की गौण प्रेरणाओं का, उनकी व्यक्तिगत प्रेरणाओं का नियमन करना चाहता है और सामाजिक प्रेरणाओं का विकास करना चाहता है।

मान लें कि कल संयोग से एक शहर की म्युनिसिपैलिटी में सब-के-सब सदस्य चोर ही हैं। अब एक चोर यह प्रस्ताव लाता है कि चोरी करना हम सबका धर्म है, तो ऐसा प्रस्ताव कभी पास नहीं होगा। वे सब चोर हैं, लेकिन जो माल वे चुराकर लाते हैं, उसका वे संरक्षण चाहते हैं। हर व्यक्ति यही चाहता है कि दूसरे का धन अरक्षित रहे, पर मेरा अपना धन सुरक्षित रहे। सब लोग अपने-अपने धन का संरक्षण चाहते हैं। इसलिए चोरों की म्युनिसिपैलिटी में भी प्रस्ताव यही होगा कि चोरी नहीं करनी चाहिए, चोरी करना पाप है। राज्यशास्त्र में इस विषय की बहुत चर्चा हुई है कि 'सार्वजनिक इच्छा', जनता का मत, क्या है, और उसका स्वरूप क्या है।

हम जो यह समझते हैं कि मनुष्य की मूल प्रेरणा, असत् प्रेरणा है, वह हमारी एक बहुत बड़ी भूल है। वह ज्ञान मिथ्या है और उसे ज्ञान ही यदि कहना है, तो वह 'अधूरा ज्ञान' है। समाज में मनुष्य की मूल प्रेरणा कभी इस प्रकार की स्वार्थी प्रेरणा नहीं रही है। संसार में जितने भी बड़े काम हुए हैं, वे सब-के-सब मनुष्य की स्वार्थी प्रेरणा को छोड़कर हुए हैं। विज्ञान का शोध प्रायः किसी मनुष्य के स्वार्थ के लिए नहीं हुआ है। वैज्ञानिक संशोधक अधिकांश गरीब और विपद्ग्रस्त थे। कोई भी सद्-ग्रन्थ स्वार्थी प्रेरणा के लिए, मुनाफे या बदले के लिए आज तक नहीं लिखा गया।

विनोबा अक्सर कहते हैं कि तुलसीदास को **रामचरित मानस** के लिए क्या किसीने मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया था? और क्या किसीने ईसा से यह कहा था कि तुम बाइबिल लिख दोगे, तो हम तुम्हें नोबेल प्राइज दे देंगे? मनुष्य में यह प्रेरणा हमेशा से रही है कि जब तक वह अपने आनन्द में और अपने दुःख में दूसरों को शामिल नहीं कर लेता, तब तक उसे संतोष नहीं होता। यह सामाजिक प्रेरणा कहलाती है। इसी पर मार्क्सवाद खड़ा है, इसी पर समाजवाद स्थित है और इसी पर कम्युनिज्म भरोसा रखता है। यह सारी प्रेरणा आयेगी कहाँ से? उन लोगों का कहना है कि मनुष्य की मुख्य प्रेरणा

सामाजिक है। आज की अर्थ-रचना उसकी मुख्य प्रेरणा में वाधक होती है, इसलिए सिर्फ वाधाओं का निराकरण करना है। सामाजिक प्रेरणा मनुष्य में स्वाभाविक है। जितने भी सामाजिक व्रत हैं, जिनका कोई सामाजिक मूल्य है, उन सब व्रतों का आधार, उन सारे संकल्पों का आधार भी मनुष्य की यह सामाजिक प्रेरणा है। मनुष्य की इस प्रेरणा के मूल में यह सामाजिक वस्तु-स्थिति है कि समाज में यदि मुझे जीना है, तो दूसरों को जिलाना होगा। दूसरों को जिलाना है, तो अपने जीवन में मुझे अन्य सारे जीवों को शामिल करना होगा। मनुष्य की यह जो सांस्कृतिक या सामाजिक प्रेरणा है, यही मुख्य प्रेरणा है। इस प्रेरणा में वाधक होनेवाली अर्थ-व्यवस्था का हमें निराकरण करना है। क्रांति सिर्फ इतना ही करती है कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा के लिए अवसर उपस्थित करती है। इसके समर्थन में कम्युनिज्म में से एक उदाहरण लीजिये।

मुक्त प्रेम

रूस में जव पहले-पहल कम्युनिज्म की स्थापना हुई, तो वहाँ पर 'मुक्त प्रेम' की बात चली। मुक्त प्रेम से मतलब, स्त्री और पुरुष के वीच कोई बन्धन न हो, नीति का वन्धन न हो, सदाचार का बन्धन न हो, उनका संबंध प्रेम से ही हो और उन्मुक्त संबंध हो। यह देखकर दुनिया में जितने नीतिवादी लोग थे, वे सव घवड़ा गये। उनके दिल में वहुत चोट लगी कि रूस में यह सब क्या हो रहा है। कम्युनिज्म क्या कभी नीति और सदाचार का विचार कर सकता है? ये तो बिलकुल भोगवादी लोग हैं। इन लोगों ने यह क्या कर दिया? तव कम्युनिस्ट समाजशास्त्रियों ने जवाव दिया कि "हमने क्या किया? पहले स्त्री-पुरुष की शादी अवान्तर कारणों से होती थी। अवान्तर कारणों से मतलव यह है कि स्त्री संरक्षण चाहती थी, सामर्थ्यवान् पुरुष से शादी कर लेती थी। स्त्री आर्थिक सुरक्षितता चाहती थी, इसलिए धनवान् पुरुष से शादी कर लेती थी। समाज में प्रतिष्ठा चाहती थी, इसलिए सुशिक्षित पुरुष से शादी कर लेती थी। इस शादी के लिए उसे तरह-तरह की कीमत चुकानी पड़ती थी—कुलीनता की कीमत, शिक्षण की कीमत, धन की कीमत, सम्पत्ति

की कीमत, पुरुषार्थ की कीमत, वैभव की कीमत! नतीजा यह था कि स्त्री और पुरुष का परस्पर संवंध समान भूमिका पर से हो ही नहीं सकता था। हम कम्युनिस्ट या मार्क्सवादी यह मानते ही नहीं हैं कि स्त्री और पुरुष दोनों को अतिभोग का शौक हो सकता है। स्त्री और पुरुष के संवंध में जो कृत्रिम मर्यादाएँ आ गयी थीं, उन कृत्रिम मर्यादाओं का निराकरण करने के बाद ही हम उन दोनों का संबंध स्वाभाविक नीति के आधार पर, सदाचार के आधार पर किस प्रकार हो सकता है, इसका विचार कर सकेंगे।" मैंने कम्युनिस्टों के यहाँ से यह एक उदाहरण इसलिए दिया है कि उन्हें प्रेरणा के प्रश्न के बारे में जव-जव सोचना पड़ा, तब-तब वे इस परिणाम पर पहुँचे कि मनुष्य स्वभावतः सत्-प्रवृत्त है। दुष्प्रवृत्ति विकार है, सत्-प्रवृत्ति ही उसका मूल स्वभाव है। इसे मैं आस्तिकता कहता हूँ। कम्युनिस्टों ने कहा कि असत्-प्रवृत्ति परिस्थिति-जन्य है। परिस्थिति के परिवर्तन के वाद मानव की सद्-प्रवृत्ति तो उसका स्वभाव ही है।

हमारा यह डर व्यर्थ है कि प्रेरणा निकल जायगी। वह बिलकुल नहीं निकलेगी। मुनाफे की प्रेरणा समाप्त होगी, तो उसकी जगह स्नेह की प्रेरणा आ जायगी। याने होटलवाले की प्रेरणा चली जायगी और माँ की प्रेरणा आ जायगी। बस, इतना ही इसमें फर्क है।

३. वर्णव्यवस्था का प्रश्न

मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि वर्णव्यवस्था का विधिपूर्वक और सम्मानपूर्वक अंत कर देना चाहिए।

हम जिस समाज का निर्माण करना चाहते हैं, वह समाज व्यवसायनिष्ठ नहीं होगा, समन्वयात्मक होगा। व्यवसायनिष्ठ समाज में व्यवसायवादी बस्तियाँ, उपनिवेश होते हैं। मनुष्यों की बस्तियाँ उनके व्यवसाय के अनुरूप वनती चली जाती हैं। मैं इससे इनकार नहीं करता कि वर्णव्यवस्था ने किसी जमाने में हमारा बहुत बड़ा उपकार किया होगा। लेकिन वर्णव्यवस्था में से एक महान् अनर्थ निकला है और वह यह कि मनुष्यों के रोजगारों के अनुरूप उनकी बस्तियाँ बनी हैं। छोटे-छोटे गाँवों में कुम्हारों का मुहल्ला है, मालियों

का मुहल्ला है, तेलियों का मुहल्ला है, ब्राह्मणों का मुहल्ला है, चमारों का मुहल्ला है। जगह-जगह, हर गाँव में, ये तेलिस्तान, मालिस्तान वन गये हैं। यह वर्णव्यवस्था का प्रताप है। वर्णव्यवस्था के कारण समाज व्यवसायनिष्ठ वन गया और व्यवसायनिष्ठ समाज वन जाने के कारण, एक व्यवसाय करनेवाले को दूसरे किसी व्यवसाय का ज्ञान रखना गलत ही नहीं मालूम होता, वल्कि उसने उसे 'पर-धर्म' समझा है—'**परधर्मो भयावहः**'। दूसरे किसी व्यवसाय की जानकारी कर लेना भी उसके लिए एक महान् भय है।

व्यवसाय-संकरता

मुझे याद है कि कोई २०-२५ साल पहले मैं एक गाँव में गया था, तो मैंने एक लड़के से कहा कि "तुम्हारे गाँव में तो बहुत साइकिलें दिखाई देती हैं, अव तो मोटर-साइकिल भी आ गयी!"

कहने लगा, "हाँ, यहाँ मुसलमान का घर है और एक सिक्ख का घर है। वे मोटर-साइकिल और साइकिलें हमेशा लाया करते हैं और उनकी मरम्मत किया करते हैं।"

"मुसलमान और सिक्ख करते हैं, और तुम क्यों नहीं करते?"

"हमारा तो", कहने लगा, "रोजगार वना हुआ है। बढ़ई हैं हम, और अव हम बढ़ई का रोजगार छोड़कर थोड़े ही दूसरा कोई रोजगार कर सकते हैं!"

"मुसलमान और सिक्ख क्यों कर सकते हैं?"

लड़का वोला, "उनकी कोई जाति थोड़े ही है? उनके यहाँ कोई रोजगार थोड़े ही होता आया है? वह तो जो रोजगार करेंगे, वही उनका रोजगार है।"

वंवई, कलकत्ता और मद्रास में जितने यांत्रिक हैं, उनमें से बहुतेरे या तो सिक्ख हैं या मुसलमान। ऐसा क्यों है? वर्णव्यवस्था के कारण हिन्दू-धर्म में एक तरफ से तो प्रतियोगिता गयी, और दूसरी तरफ से संकीर्णता आ गयी। लोग कहते हैं कि हिन्दू-धर्म वड़ा सहिष्णु है। मैं कहता हूँ, "सहिष्णु नहीं है, वह संकीर्ण है।" सहिष्णुता के लिए वहाँ कोई अवसर ही नहीं। वह बहुत संकीर्ण

हो गया है। एक व्यवसाय करनेवाला व्यक्ति यदि दूसरा व्यवसाय करने लगता है, तो वह व्यवसाय-संकर, वर्णसंकर हो जाता है। लोग वर्णसंकर से बहुत घबराते हैं। एक दफा एक सनातनी ने मुझसे कहा था कि "इससे वर्णसंकर हो जायगा।" मैंने कहा, "अब आप हिन्दुस्तान में वर्णसंकर की बात करते हैं? जहाँ पर चार जातियों की चार हजार जातियाँ हो गयीं, वहाँ अब और वर्णसंकर के लिए क्या कोई गुंजाइश रह गयी है? इन चारों हजार का कहना है कि हम सबका खून पवित्र है। यह दावा तो हिटलर से भी एक कदम आगे है।"

वर्ण-व्यवस्था का आधुनिक रूप

समन्वयात्मक समाज-रचना के लिए वर्णव्यवस्था अत्यन्त प्रतिकूल व्यवस्था है। वर्णव्यवस्था का आधुनिक रूप भी देख लीजिये। यहाँ अहमदाबाद में कितने प्रकार की मिलें हैं? शायद एक ही तरह की हैं—कपड़े ही कपड़े की। तो स्पष्ट है कि अहमदाबाद में जितने मजदूर हैं, वे सिर्फ कपड़े की मिलों में काम करनेवाले हैं। टाटा के जमशेदपुर में जितने मजदूर हैं, वे लोहे की मिल में काम करनेवाले मजदूर हैं। डालमिया की सीमेण्ट फैक्टरी में काम करनेवाले जितने हैं, वे सब सीमेण्ट का काम करनेवाले हैं। अब ये कुछ जुलाहे, कुछ लोहार, कुछ कुम्हार हो गये न? और वे टाटा आइल मिलवाले तेली हो गये।

हमसे लोग कहते हैं कि तुम बड़े पैमाने पर यंत्रीकरण के क्यों खिलाफ हो? हम 'विकेन्द्रीकरण-केन्द्रीकरण' शब्दों के पीछे बिलकुल नहीं जाना चाहते। हम कहना यह चाहते हैं कि उत्पादन यदि बड़े पैमाने पर होगा, तो एक कारखाने में काम करनेवाले मजदूरों की एक बस्ती बनेगी और सारा समाज व्यवसाय-निष्ठ बन जायगा। वर्णव्यवस्था में जो बुराई आयी, वही बुराई बड़े पैमाने के केन्द्रीकरण के उत्पादन में आनेवाली है। अमेरिका, रूस और चीन आज यदि इस बात को नहीं पहचान रहे हैं, तो वह दिन बहुत जल्दी आनेवाला है, जब संसार के सारे अर्थशास्त्रियों को यह विचार करना होगा कि हमें समाज समन्वयात्मक बनाना है, तो उसमें केन्द्रित उत्पादन के लिए जगह नहीं हो सकती। समन्वयात्मक समाज के लिए बड़े पैमाने पर उत्पादन काम का ही नहीं है। बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है, तो मनुष्य व्यक्तित्वहीन हो जाता

है। उसका व्यक्तित्व क्षीण हो जाता है, समाप्त हो जाता है। उसका व्यक्तित्व उत्पादन में भी नहीं रहता और वितरण में भी नहीं।

व्यक्तित्व की समाप्ति

एक दफा वड़ा मजा हुआ। यह जो हमारी विमल है, इससे विनोवा ने कहा कि "मैं जैसा जूता पहनता हूँ, वैसा जूता तुम वनवा लो, तो वहुत अच्छा रहेगा।" चमार को वुलवाया और उसे पैर का नाप दे दिया। उसने बहुत सुन्दर जूता वनाया। देखकर तवीयत खुश हो गयी। लेकिन वह लड़की के पैर में ही नहीं आता था! तो हमने चमार से कहा कि "यह जूता तो लड़की के पैर में आता ही नहीं।"

वह वोला—"नाप के वरावर नहीं है? देख लीजिये।"

हमने कहा, "नाप के वरावर तो है।"

उसने पूछा, "अच्छा है कि नहीं?"

"अच्छा भी है!"—मैंने कहा—"लेकिन पैर में नहीं आता।"

तो कहने लगा, "पैर गलत है। नाप के मुताविक नहीं है पैर। मेरे वनाने में तो कोई गलती नहीं है। नाप जैसी थी, वैसा जूता मैंने वना दिया है।"

तो मैंने कहा, "आखिर तुम चाहते क्या हो?"

"हम कुछ नहीं चाहते। हमने जूता वनाया है, तो आप दाम दे दीजिये।"

मैंने कहा—"हम दाम भी दे देते हैं और जूता भी दे देते हैं। यह पहनने के काम का तो रह नहीं गया है।"

वह वोला, "कोई हर्ज नहीं। आप पहनते हैं या नहीं, इससे हमको ज्यादा मतलव नहीं। हमने जूता वनाया है, उसके दाम हमें मिल जाने चाहिए।"

इस प्रकार से उत्पादन भी व्यक्तित्वहीन हो गया और जिसे आप उपयोग कहते हैं, वह भी व्यक्तित्वहीन हो गया।

विशिष्टता बनाम एकांगिता

उत्पादन में मनुष्य के व्यक्तित्व का जितना ह्रास होगा, उतना ही मनुष्य के सत्त्व का भी ह्रास होगा। हम तो नहीं चाहते कि मनुष्य एकांगी बने।

हमारा सबसे बड़ा आक्षेप आज के विज्ञान पर यही है न कि इसमें व्यक्तित्व का विकास नहीं होता, यह मनुष्य को एकांगी बनाता है। आज का विज्ञान वैशिष्टीकरण के नाम पर मनुष्य को एकांगी बना रहा है। नाम 'विशिष्ट' का लेता है, लेकिन मनुष्य बन रहा है, एकांगी। मनुष्य का विकास सर्वांगीण होना चाहिए, मनुष्य एकांगी नहीं रहना चाहिए। सर्वांगीण विकास के लिए यह आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न व्यवसाय करनेवाले लोग एक ही बस्ती में रहें और एकत्र रहें। इनका सह-भोजन भी होना चाहिए और सह-विवाह भी। लोग कहते हैं कि जाति नहीं रहनी चाहिए और वर्ण रहने चाहिए। वर्ण रहेंगे और जाति नहीं रहेगी, ऐसी व्यवस्था कल्पना में ही हो सकती है। उसके लिए पहला कदम यह होगा कि भिन्न-भिन्न व्यवसाय करनेवाले लोग एक बस्ती में रहें, अड़ोस-पड़ोस में रहें, उनमें सह-भोजन भी हो और सह-विवाह भी।

व्यवसाय और वर्ण

बापू से पूछा गया, तो उन्होंने कहा कि चरखा हरएक को चलाना चाहिए। यहाँ अहमदाबाद की अदालत में उनसे उनका पेशा पूछा गया, तो उन्होंने कहा—"मैं जुलाहा हूँ और किसान हूँ।" वे जुलाहे भी थे, किसान भी थे, झाड़ू लेकर भंगी का भी काम करते थे। तो अब इनका वर्ण क्या रहा? वे जितने काम करते थे, क्या उतने वर्ण होंगे? उसमें से एक युक्ति निकाल ली गयी कि हर व्यक्ति में चारों वर्ण होंगे और हर व्यक्ति चारों वर्णों का होगा। इतनी जटिल भाषा में घुमा-फिराकर द्राविड़ी प्राणायाम क्यों करते हैं? कह दीजिये कि वर्ण नहीं रहेगा। इसका यही मतलब हुआ कि हर आदमी चारों वर्णों का होगा! **सर्वं ब्राह्मम् इदं जगत्।** इसका अर्थ अन्ततः यही होता है कि वर्ण नाम की कोई वस्तु नहीं रहेगी। वर्ण जातिनिष्ठ ही रह सकता है, व्यवसायनिष्ठ रह नहीं सकता।

व्यवसाय के अनुसार वर्ण, यह बात सुनने में बहुत सुहावनी लगती है, लेकिन यह असम्भव वस्तु है। उसमें वर्ण का निर्णय नहीं हो सकता। अब कल्पना करें कि मैंने तय कर लिया कि मैं जुलाहे का काम करूँगा, कपड़े बुनूँगा। मैं अपने बेटे को क्या काम सिखाऊँगा? प्रतियोगिता तो है नहीं। जितने भी

रोजगार हैं, समान रूप से प्रतिष्ठित हैं। उनके लिए जो वेतन या समाज से प्रतिमूल्य मिलता है, वह भी समान है। तो अब कोई ऐसा लोभ तो है नहीं कि लड़के का रोजगार बदलूं। अपना ही रोजगार उसे सिखा देता हूँ। उसकी शादी किससे कराऊँ? सुनार की लड़की से कराता हूँ, तो फिर घर में ऐसी लड़की आ जाती है कि जो रोजगार नहीं जानती। इसलिए जुलाहे का काम करनेवाली लड़की से ही उसकी शादी करानी होगी। यह भी देखना पड़ेगा कि उसका बाप भी जुलाहे का काम करता था कि नहीं? तो पीढ़ियों तक जिसने जुलाहे का काम किया हो, उसकी लड़की मेरे लड़के के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योंकि आनुवंशिक कला उसमें अधिक आ सकती है। 'वर्ण' 'जाति' में बदल गया।

पड़ोसी के लिए उत्पादन

जाति का निराकरण और वर्ण का संरक्षण एक असंभव परिस्थिति है। इसलिए तीन संकल्पों में एक संकल्प मैंने आपके सामने यह रखा था कि जाति-निराकरण भी होना चाहिए।

दूसरे को जिलाने के लिए जियेंगे, तो उत्पादन भी पड़ोसी के लिए होगा, अपने लिए नहीं। मैं जो कुछ उत्पादन करूँगा, वह पड़ोसी के लिए करूँगा। पड़ोसी के लिए उत्पादन का अर्थ क्या है? उसका एक उदाहरण मैंने आपको चमार का दे दिया। दूसरा उदाहरण बाटा का। बाटा की दूकान में मैं पहुँचता हूँ। दूकानदार पूछता है, "कितने नंबर का जूता चाहिए?"

"पाँच नंबर का।"

वह ढीला होने लगा, तो मैं चार नंबर का माँगता हूँ। पर वह तंग होता है!

मैंने कहा, "साढ़े चार नंबर का चाहिए।"

"साढ़े चार नंबर का भी जूता होता है? इतना भी नहीं जानते?"

मैंने कहा, "लेकिन पाँच नंबर का बड़ा होता है, और चार नंबर का छोटा होता है।"

वह कहता है—"जूते तो हमने सब आकार के बनाये, अब तुम्हारा पैर अगर दुनिया के बाहर का हो, तो मैं क्या करूँ? इसमें जूते बनानेवाले का क्या

दोष? हमने सबके नाप के जूते बनाकर रख दिये हैं। तुम्हारे आकार का ही जूता नहीं है, इसमें हमारा कोई दोष नहीं है।"

अब समन्वयात्मक समाज की कल्पना कर लीजिये। इसमें परिचय की घनिष्ठता है। जूता बनानेवाला हम तीनों—दादा, नारायण, प्रबोध को जानता है। अब इससे पूछिये कि यह जूता किसके लिए बनाया है? कहता है, "इस जूते का एक पैर कुछ बड़ा है, एक पैर कुछ थोड़ा-सा छोटा है! यह दादा के लिए बनाया है।"

"और यह जूता?"

"ये दोनों पैर कुछ एक-से हैं, लेकिन एक की चौड़ाई में कुछ फर्क आ जाता है। यह नारायण के लिए बनाया है।"

"यह तीसरा जूता?"

"यह प्रबोध के लिए बनाया है।"

शहर : देहात और घनिष्ठता

इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ जूता बनाने में भी दिलचस्पी है। आपका जो समाज होगा, आपकी जो बस्ती होगी, उसका आकार इतना छोटा होना चाहिए कि उसमें घनिष्ठता रह सके और नागरिकों का एक-दूसरे के साथ इतना निकट संबंध हो सके कि वे एक-दूसरे को पहचान सकें। बम्बई जैसा न हो।

नारायण मुझे बम्बई ले गया था। बोला, "भाषण करो।" मैंने कहा, "बम्बई में सबसे पहली बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि यहाँ आदमी के लिए स्थान नहीं। यहाँ आदमी आता है या तो खोने के लिए या छिपने के लिए। मान लें कि अहमदाबाद के किसी सेठ का लड़का भाग गया। बाप सोचता है कि कहाँ खोजूँ? चलूँ, बम्बई में खोजूँ। छिपने के लिए वही जगह है। बम्बई में आदमी खो ही जाता है या छिप जाता है। वह बिलकुल व्यक्तित्व-शून्य बन जाता है।

पंजाब में मैं गया, तो देखा कि कुछ स्त्रियाँ मुँह खोले घूमती थीं। परन्तु कुछ तरुण स्त्रियाँ और कुछ बूढ़ी स्त्रियाँ घूँघट निकालती थीं। मैंने उनसे पूछा, "यह क्या तमाशा है कि कुछ स्त्रियाँ तो घूँघट डाले हैं, और कुछ मुँह खोले

घूमती हैं।" मुझे बताया गया कि गाँव की जो बहुएँ, भौजाइयाँ हैं, वे घूँघट डालकर घूमती हैं और गाँव की जो लड़कियाँ हैं, वे मुँह खोले रहती हैं।

मैंने पूछा—"यह 'गाँव की लड़की' क्या होती है?"

बोले—"गाँव की लड़की ? इस गाँव में एक आदमी की लड़की सबकी लड़की है। एक आदमी का दामाद सबका दामाद है।"

अब बंबई में कौन किसकी लड़की है और कौन किसका दामाद है? वहाँ कोई किसीको पहचानता ही नहीं है। किसी परीक्षा की बात ले लीजिये :

"कितने लड़के बैठे हैं परीक्षा में ?"

"दस हजार।"

"पास कितने हुए ?"

"आठ हजार, दो हजार फेल हुए।"

"अरे, उनमें हमारा भाई भी है।"

"लेकिन वह दो हजार में एक है। हम क्या जानें ? होगा तुम्हारा भाई।"

गाँव की परीक्षा की बात लीजिये :

"कितने लड़के परीक्षा में बैठे थे ?"

"पचीस।"

"कितने फेल हुए ?"

"पाँच फेल हुए।"

"कौन-कौन फेल हुए ?"

"फलाने-फलाने के लड़के फेल हुए। बहुत बुरा हुआ !"

गाँव में सब व्यक्तिगत हो गया। सबको सभी पहचानते हैं।

मान लीजिये, बंबई में आग लगी :

"उत्तर की तरफ लगी है। मालूम होता है, फलानी जगह आग लगी है।"

पर गाँव में आग लगी :

"अरे, फलाने के घर में लगी है, दौड़ो।"

मनुष्य गाँव में व्यक्ति होता है, व्यक्तिहीन प्राणी नहीं। लोग हमारा मजाक करते हैं कि तुम शहरों को बर्बाद करना चाहते हो, गाँव को जिलाना चाहते हो। देहात और शहर, ऐसा कोई झगड़ा हमारा नहीं है। हमारी एक

छोटी-सी माँग है कि मनुष्य की वस्ती इतनी छोटी होनी चाहिए कि नागरिक एक-दूसरे को पहचान सकें। तव आपके सामने यह सवाल नहीं आयेगा कि चुनाव कैसे हो या चुनाव की प्रक्रिया क्या हो?

समन्वयात्मक देहात कैसा होगा?

क्रांति में मुख्य बात है 'सन्दर्भ वदलना'। लोग आज के संदर्भ में हमसे पूछते हैं कि चुनाव नहीं होगा, तो लोकशाही कैसे चलेगी? यह नहीं होगा, वह नहीं होगा, तो कैसे चलेगा? सवका उत्तर यह है कि लोकशाही का संदर्भ वदल देना पड़ेगा। तो वे आज के देहात का नक्शा दे देते हैं। आज का जो देहात है, यह हमारी आदर्श वस्ती नहीं है। इसे हम देहात नहीं मानते। आज का देहात तो अलग तरह का देहात है। वह किसी काम का देहात नहीं है। जिस वस्ती की हमने कल्पना की है, उस वस्ती में तीन बातें होनी चाहिए :

१. वह वस्ती समन्वयात्मक होनी चाहिए, व्यवसायनिष्ठ नहीं होनी चाहिए। व्यवसायनिष्ठ का अर्थ है—अलग-अलग रोजगार करनेवालों के लिए अलग-अलग मुहल्ले या वस्तियाँ। ऐसा न हो। समन्वयात्मक का अर्थ है—अलग-अलग व्यवसाय करनेवालों के लिए एक ही मुहल्ला और एक ही वस्ती हो और उनका एक वहुत वड़े अंश में समान शिक्षण भी हो। उनमें सह-भोजन हो, सह-विवाह भी हो। समन्वयात्मक वस्ती का यह पहला लक्षण है।

२. वह वस्ती इतनी वड़ी हो कि भिन्न-भिन्न व्यवसायों के लोग उसमें रह सकें, और छोटी इतनी हो, मर्यादित इतनी हो, कि नागरिक एक-दूसरे को पहचान सकें। नागरिक व्यक्तित्वहीन न वन जायँ। आदमी का व्यक्तित्व विलीन न हो जाय, वह खो न जाय।

३. जब सारे नागरिक एक-दूसरे को जानेंगे, तो उत्पादन मनुष्य के लिए होगा, सिर्फ उपयोग के लिए नहीं।

पहला कदम : **पूँजीवादी**। उत्पादन मुनाफे के लिए हो।

दूसरा कदम : **समाजवादी**। उत्पादन उपयोग के लिए और आवश्यकता के लिए हो।

तीसरा कदम : इससे आगे। इसे मैं **गांधी के विचार का कदम** कहता

हूँ। गांधी हमें यह विचार दे गये कि उत्पादन पड़ोसी के लिए हो। उत्पादन मेरे भाई के लिए हो, जो वहाँ रहता हो, जिसे मैं जानता हूँ। गांधी का यह 'स्वदेशी-व्रत' कहलाता है।

गांधीजी ने अपने स्वदेशी-व्रत की जो व्याख्या की है, उसका आशय यह है कि मैं जो उत्पादन करूँगा, वह उत्पादन केवल आवश्यकता के लिए नहीं, केवल उपयोग के लिए नहीं, वह मनुष्य के लिए उत्पादन होगा। याने उस उत्पादन में भी एक विशेषता आ जाती है और एक नयी प्रेरणा दाखिल हो जाती है।

खेद की बात है कि हमारे देश के वड़े-वड़े धुरंधर विचारक भी वर्ण-व्यवस्था का किसी-न-किसी रूप में समर्थन करते और उसके समर्थन में बापू का प्रमाण भी दे दिया करते थे। मैं मानता हूँ कि वर्ण-व्यवस्था के विषय में गांधीजी के विचारों का विकास होता रहा। उस विकास की आज की परिणति इस विचार में हो जानी चाहिए कि वर्ण-व्यवस्था अव गुण-कर्म पर भी नहीं रहेगी। वर्ण-व्यवस्था ही नहीं रहेगी। अव का जो समाज वनेगा, वह समन्वयात्मक समाज वनेगा।

४. आश्रम-व्यवस्था

मैं सामाजिक मूल्य के रूप में ही आश्रम-व्यवस्था का विचार करूँगा। अपने समाज में स्त्री-पुरुषों का सह-जीवन और सह-शिक्षण हमने शुरू कर दिया है। आपने सुना होगा कि आज हर शिक्षण-संस्था और शिक्षण-शास्त्री के सामने यह समस्या है कि लड़के और लड़कियों को साथ तो पढ़ाते हैं, लेकिन उनके जीवन में सह-जीवन से पावित्र्य नहीं आता।

ब्रह्मचर्य-आश्रम

लड़के-लड़कियों का विद्यार्थी-जीवन जब तक ब्रह्मचर्य की बुनियाद पर आधार नहीं रखेगा, तब तक उसमें पवित्रता नहीं आ सकेगी। इसलिए विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य होना चाहिए। ब्रह्मचर्य-आश्रम विद्यार्थी-जीवन के लिए अत्यावश्यक है।

एक बार कॉलेज के एक छात्र ने मुझसे पूछा—"हमें यह तो बताइये कि हमारी बहन रास्ते से जा रही है और कोई गुंडा उसे छेड़ रहा है, तो क्या हम अहिंसक रह जायँ? चुप रह जायँ?"

मैंने कहा—"चुप क्यों रहो? पर यह तो बताओ कि आज तक ऐसे मौके कितने आये?"

उसने कहा—"मौके नहीं आये, लेकिन आ सकते हैं।"

मैंने कहा—"ठीक है, अगर कभी मौका आये, तो तुम क्या चाहते हो?"

बोला—"हम चुप कैसे बैठ सकते हैं?"

मैंने कहा—"हाँ, चुप मत बैठो।"

बापूजी उस समय जीवित थे। बापू के आधार पर मैंने उसे कुछ समझाया और कहा—"पहले से ऐसा विचार मत करो। लेकिन अगर देखो भी कि ऐसा हो रहा है, तो उसकी गर्दन उतार लो। मैं गांधी से तुम्हारे लिए अहिंसा का प्रमाण-पत्र ला दूँगा।"

वह बहुत खुश हुआ कि यह 'गांधीवाला' कहता है कि गांधी से भी अहिंसा का सार्टिफिकेट ला दूँगा।

मैंने उससे कहा—"पर, एक शर्त है।"

बोला—"वह क्या?"

"यही कि जिन लड़कियों के साथ तुम स्कूल में उठते-बैठते हो, खेलते-कूदते हो, पढ़ते-लिखते हो, उनकी तरफ देखने की तुम्हारी अपनी दृष्टि कैसी है? और उस दृष्टि में यदि फर्क है, तो गर्दन उतारने के कार्यक्रम का आरंभ अपने से कर दो।"

बस, इतनी शर्त उसने सुनी और वह बैठ गया।

शिक्षालयों में वर-वधू की खोज!

इसे मैं '**ब्रह्मचर्य**' कहता हूँ। शिक्षण के केन्द्र तो आज वर-वधू-मृगया के लीला-क्षेत्र बन गये हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। याने एक तरफ पढ़ भी रहे हैं और दूसरी तरफ लड़का लड़की खोज रहा है, लड़की लड़का खोज रही है। शिक्षण के क्षेत्र और विद्यालय यदि वर-वधू-मृगया के लीला-क्षेत्र बन

जायँगे, तो आप गाँठ बाँध लीजिये कि इस देश में से सारी संस्कृति और सारी मर्यादा का अन्त होनेवाला है।

ब्रह्मचर्य जैसे सारे व्रत सामाजिक मूल्य हैं, इसलिए यावज्जीवन चलने चाहिए। लेकिन इनका विशिष्ट आचरण एक विशेष अवधि में होता है और वह अवधि शिक्षण की अवधि होनी चाहिए। ब्रह्मचर्य-आश्रम पहले भी विद्यार्थी के लिए ही माना जाता था। ब्रह्मचर्य के लिए कहते भी थे—**'ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यां'**—तीनों ऋणों में से ब्रह्मचर्य के आश्रम में ऋषियों का ऋण दिया जाता था। विद्यार्जन में ब्रह्मचर्य का मुख्य स्थान होना चाहिए।

धन्यो गृहस्थाश्रमः !

चारों आश्रमों में गृहस्थ-आश्रम को धन्य माना है। इसका मुख्य कारण यह है कि कुटुम्ब-संस्था सामाजिक मूल्यों का प्रतीक और सामाजिक जीवन की मुख्य इकाई मानी गयी। समाज में जिस सह-जीवन का विकास हमें करना है और जिस दंडहीन अनुशासन को हम सारे समाज में चरितार्थ करना चाहते हैं, उसकी वह प्रयोगशाला है। अभ्युदय अर्थात् भौतिक सुखोपभोग का आयोजन निःश्रेयस सिद्ध करने की दृष्टि से किस प्रकार किया जाय, इसका आदर्श उपस्थित करना कुटुम्ब-संस्था का प्रधान उद्देश्य है। चार पुरुषार्थों में अर्थ और काम का भी समावेश किया गया है। अर्थ और काम अपने में मनुष्य के स्वाभाविक विकार हैं। जब ये धर्ममूलक और मोक्षप्रवण होते हैं, तब उन्हें पुरुषार्थ का रूप प्राप्त होता है और वे सामाजिक मूल्य में परिणत हो जाते हैं।

आज मनुष्य के कौटुम्बिक जीवन के साथ उसके उद्योग और नागरिकता का कोई प्रत्यक्ष अनुबन्ध नहीं रह गया है। दूकान की नीति अलग है, मकान की नीति अलग है और नागरिक नीति अलग है। इसलिए एक सामाजिक मूल्य के रूप में कौटुम्बिकता क्षीण होती चली जा रही है और अब तो यह भय होने लगा है कि कुटुम्ब-संस्था का ढाँचा भले ही बना रहे, लेकिन उसकी सुभगता और पवित्रता तितर-बितर हो रही है। आज हम नये रूप में कौटुम्बिकता और कुटुम्ब-संस्था की पुनः स्थापना तथा संवर्धन करना चाहते हैं।

कुटुम्ब-संस्था की विशेषता : सह-जीवन

कुटुम्ब-संस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें संविधान, दंड-योजना और सैनिक अनुशासन के बिना सह-जीवन और सहयोग सम्पन्न होता है। कुल-धर्म, कुल-परम्परा और आनुवंशिक संस्कार ही ऐसे होते हैं कि परिवार के सारे सदस्य एक-दूसरे के साथ रहने में अपनी प्रतिष्ठा और कल्याण मानते हैं और जब एक-दूसरे से अलग होते हैं, तो उसमें अपनी विवशता समझते हैं। इसीलिए तो अलग होते समय एक-दूसरे को दोष देकर अलग होते हैं। हरएक यह बतलाने की कोशिश करता है कि इस अलगोझे की जड़ में नहीं हूँ। मैं तो सबको सँभालकर, हिला-मिलाकर रहना चाहता हूँ। सह-जीवन के लिए अपने व्यक्तिगत सुख और सुविधा का उत्सर्ग करना कौटुम्बिक जीवन की बुनियाद है।

इसके दो आधार हैं। एक है खून की रिश्तेदारी और दूसरा है विवाह की नातेदारी। इसलिए समाज में कुटुम्ब-संस्था एक स्वयंसिद्ध संस्था है। उसका निर्माण सदस्यों के संकल्प से या उनकी इच्छा से नहीं होता। मैं अपने माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री चुन नहीं सकता। ये सब मुझे यदृच्छा से प्राप्त होते हैं। जैसा कि कर्ण ने कहा, "कुटुम्ब में हमारा जन्म दैवायत्त है।" परिणाम यह है कि परिवार में जितने व्यक्ति रहते हैं, उन सबकी एक-दूसरे के लिए सहज आत्मीयता होती है। कृत्रिम नियन्त्रण और औपचारिक नियमों की वहाँ आवश्यकता नहीं रहती। मनुष्यों के जो स्वायत्त सम्बन्ध होते हैं, उनकी अपेक्षा ये कौटुम्बिक सम्बन्ध अधिक स्थायी और अभेद्य माने जाते हैं। अंग्रेजी में कहावत है कि पानी से खून गाढ़ा होता है। इसलिए एक ही जलाशय के पास रहनेवाले पड़ोसियों की अपेक्षा एक परिवार के व्यक्तियों के सम्बन्ध उत्कट माने जाते हैं। जो बड़े हैं, वे पहले छोटों की चिन्ता करें। जो छोटे हैं, वे बड़ों का आदर करें। इसके लिए हम कुटुम्ब में कोई दण्ड-विधान लिखकर नहीं रखते। चिरकालीन संस्कारों के कारण यह सब अपने-आप होता चला जाता है। मानवीय समाज में कुटुम्ब-संस्था एक अनुपम कलाकृति है।

गृहस्थाश्रम का प्रयोजन

कामोपभोग जब एक सांस्कृतिक संस्कार बन जाता है, तब वह सामाजिक मूल्य बनता है। कुटुम्ब-संस्था का आधार विवाह-संस्कार है। स्त्री और पुरुष विवाह-संस्कार से एक-दूसरे के जीवन में जब प्रवेश करते हैं, तब वे 'गृहस्थाश्रमी' कहलाते हैं। तब सवाल यह होता है कि क्या गृहस्थाश्रम काममूलक होता है और स्त्री-पुरुषों को अनिर्बन्ध कामोपभोग का लाइसेंस देना उसका प्रयोजन है? हरगिज नहीं। बल्कि विवाह-संस्कार का प्रयोजन है—कामवासना का संयम और गृहस्थाश्रम का प्रयोजन है—स्त्री-पुरुषों का संयुक्त जीवन। स्त्री की पुरुष के लिए और पुरुष की स्त्री के लिए जो निष्ठा वैवाहिक जीवन का मेरुदण्ड मानी जाती है, वह मनुष्य को शारीरिकता से ऊपर उठा देती है। निष्ठा जितनी उत्कट और दृढ़ होती जाती है, शारीरिकता उतनी ही कम होती चली जाती है। मेरी माँ संसारभर में सबसे गुणवती स्त्री नहीं है, किन्तु मेरे लिए ईश्वर के विश्वव्यापी वात्सल्य की वही प्रतिमूर्ति है। मेरा बेटा सारे गाँव में सबसे खूबसूरत नहीं है, लेकिन मुझे तो वह दुनियाभर के सारे लड़कों से अधिक प्रिय है। मेरी स्त्री अधिक रूपवती नहीं है, लेकिन मेरे लिए तो उसके रूप में सृष्टि की सारी मनोज्ञता साकार होकर आयी है। इस प्रकार कौटुम्बिकता मनुष्य को एक स्नेहमय दिव्यचक्षु प्रदान करती है। इसी स्नेह के आधार पर किसी भी प्रकार के बाह्य नियन्त्रण और औपचारिक संविधान के बिना सारा व्यवहार चलता है।

एक बार हमारे एक मित्र का विवाह निश्चित हुआ। वे दीर्घ काल तक अविवाहित रहे और लोगों का यह खयाल हो गया था कि वे आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे। संसारभर की सभी स्त्रियों को वे अपनी माताएँ मानते थे। जब उनके विवाह का समाचार हमारे दूसरे मित्रों ने सुना, तो वे मुझसे आकर ठठोली करने लगे: "देखिये न, आज तक तो ये हजरत दुनियाभर की स्त्रियों को माँ मानते थे, अब उन्हींमें से एक के साथ शादी करने जा रहे हैं!"

उन्होंने बात हँसी उड़ाने के लिए कही। लेकिन मैंने उनसे कहा कि आइये, इसका थोड़ी गहराई से विचार करें। यदि यह व्यक्ति विवाह करने

के बदले केवल किसी स्त्री से शरीर-सम्बन्ध कर लेता, तव तो आपके आक्षेप में कुछ सचाई रही होती। लेकिन यह तो विवाह-संस्कार कर रहा है। एक स्त्री के जीवन के साथ अपने जीवन को जोड़ रहा है और उसके प्रति एकनिष्ठ रहने की प्रतिज्ञा करता है। यह एक स्त्री को माता से पत्नी नहीं बनाता, बल्कि स्त्री-जाति के लिए अपनी व्यापक मातृ-भावना का संरक्षण करने के उद्देश्य से अपनी कामवासना और पत्नीत्व-भावना को स्थानवद्ध कर देता है। विवाह और गृहस्थाश्रम संयम के पालन के लिए हैं। इसलिए वह ब्रह्मचर्यमूलक है। विवाह के बाद इनमें से कोई बीमार, अपंग, असमर्थ या विरूप हो जाता है, तो भी दूसरे का उसके लिए प्रेम कम होने के वदले बढ़ता चला जाता है। उसकी आत्मीयता शरीरनिष्ठ या रूपनिष्ठ नहीं रह जाती। इस प्रकार प्रेम जितना शुद्ध होता है, उतनी ही कामुकता कम होती चली जाती है। सन्तान-प्राप्ति के वाद माता और पिता दोनों का संयुक्त जीवन एक तरह से संतान के परिपालन और पोषण के लिए समर्पित हो जाता है। अपने जीवन को दूसरे के जीवन के लिए उत्सर्ग करने की प्रेरणा कौटुम्बिकता में से अनायास उत्पन्न होती है। गृहस्थाश्रम समर्पण-योग का तीर्थ-क्षेत्र है।

विवाहितों के लिए ब्रह्मचर्य

गांधी ने तो विवाहित स्त्री-पुरुषों के लिए भी ब्रह्मचर्य का विधान किया। अच्छे-अच्छे समाजशास्त्रियों और धर्मवेत्ताओं ने इस पर बहुत आपत्ति की। लेकिन गांधी ने कहा कि गृहस्थाश्रम और कुटुम्ब-संस्था मनुष्य को इन्द्रिय-परायणता की ओर से मानव-परायणता की ओर ले जाने के लिए हैं। वहाँ सर्वथा सहज भाव से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लिए अपने आराम और सुख का यज्ञ कर देता है। इसलिए कुटुम्ब तो स्वार्थ की आहुति देने के लिए बनायी गयी यज्ञ-शाला है। विवाहित ब्रह्मचर्य का गांधी का आदर्श हमारे चिरकालीन कुसंस्कारों के कारण व्यवहारान्वित नहीं हो सका। फिर भी किशोरलाल भाई और गोमती बहन जैसे नैष्ठिक गृहस्थाश्रमियों के जीवन में उसका उदात्त उदाहरण देखने को मिलता है।

पुराने जमाने में गृहस्थाश्रम पुरुष-सत्ताक था और कुटुम्ब-संस्था तो

आज तक पितृ-सत्ताक रही है। जो मुख्य पुरुष होता था, वह परिवार के दूसरे सारे व्यक्तियों का पालक और स्वामी होता था। परिवार के चाहे जिस सदस्य को दान में देने का, बेचने का, कुर्बान करने का और मार डालने का अधिकार उसे होता था। कुटुम्ब के सारे सदस्य उसकी सजीव सम्पत्ति के भाग होते थे। स्त्रियों का स्थान गौण होता था और सभी पुरुषों की सत्ता किसी-न-किसी रूप में सभी स्त्रियों पर चलती थी।

कुटुम्ब क्रान्तिकारी संस्था बने

अब हम कुटुम्ब-संस्था के आधारों को ही बदल देना चाहते हैं। कौटुम्बिक सम्पत्ति का विसर्जन तो हम अपने आर्थिक संयोजन से करना ही चाहते हैं, आनुवंशिक सम्पत्ति और कौटुम्बिक सम्पत्ति जब नहीं रहेगी, तो पुत्र और कन्या, स्त्री और पुरुष की सम्पत्ति के अधिकारों का झगड़ा समाप्त हो जायगा। लेकिन इसके बाद भी कुटुम्ब में स्त्री और पुरुष को समान भूमिका पर लाने की आवश्यकता होगी। इसके लिए नागरिक जीवन में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का जो मूल्य है, उसे कौटुम्बिक जीवन में दाखिल करना होगा। कुटुम्ब न केवल पुरुष का होगा और न केवल स्त्री का होगा। वह दोनों के संयुक्त व्यक्तित्व और संयुक्त जीवन के आधार पर स्थापित एक नवीन क्रान्तिकारी संस्था होगी।

जिस कुटुम्ब की वृत्ति और व्यवहार घर की चहारदीवारी लाँघकर व्यापक बन जाता है, वह कुटुम्ब समाज के लिए भूषणरूप माना जाता है। इसका संकेत आतिथ्य धर्म में है। कुटुम्ब के सारे व्यक्तियों को भोजन कराने के बाद हम भोजन करें, इतना ही काफी नहीं है। हर गृहस्थाश्रमी व्यक्ति को—चाहे वह पुरुष हो या स्त्री—यह भी देखना चाहिए कि हमारे पास-पड़ोस में और गाँव में भूखा कोई न रहे। कोई व्यक्ति या पथिक गाँव में पूर्वसूचना के बिना आ पहुँचा हो, तो उसे बिना भोजन के न रहना पड़े। यह धर्म सारे गृहस्थाश्रमियों के लिए लागू है। यहाँ तक कि हमारे पुराने धर्मशास्त्रकारों ने लोगों के प्राण हरण करनेवाले यमराज के लिए भी उसे लागू किया है। नचिकेता जब यमराज के यहाँ तीन दिन तक बगैर खाये-पीये रहा, तो यमराज ने घर लौटते ही उससे माफी माँगी और प्रायश्चित्त के रूप में उसे मुँह-माँगे वरदान देने के लिए वे

तैयार हुए। गृहस्थाश्रमी के लिए उसका घर अतिथिशाला है और वह यजमान है। उस यज्ञ-भूमि में बैठकर अतिथियों की आकांक्षा करता है। वह उत्पादक परिश्रम का यज्ञ करता रहता है। गृहस्थाश्रम में आतिथ्य धर्म का पालन हो सकता है, इसलिए 'धन्यो गृहस्थाश्रमः' कहा गया।

क्रान्तिकारक मूल्यों का अनुष्ठान परम्परागत कुटुम्ब-संस्था में नहीं किया जा सकता, इसलिए मार्क्सवादी क्रांतिकारियों ने 'कम्यूनों' की स्थापना की। इन कम्यूनों में जो रहते थे, उनका जीवन समान होता था और वे सब एक-दूसरे के संगी-साथी कहलाते थे। उनकी पहचान का शब्द, प्रत्यभिज्ञा का संकेत, 'कामरेड' था। हमारे यहाँ पहले उसका अनुवाद 'भाई' शब्द से किया गया, क्योंकि हम कौटुम्बिकता के संस्कारों में पले थे। अब भाई की जगह 'साथी' कहते हैं। यह अनुवाद नहीं, भाषान्तर है। हमारे देश में बंगाली भाषा में 'बन्धु' शब्द का अर्थ 'मित्र' है। जब दो मित्रों में बहुत घनिष्ठता होती है, तो हम उनकी उपमा सगे भाइयों से दिया करते हैं। असल में मित्रता का सम्बन्ध स्वेच्छा का सम्बन्ध होता है। मित्र-प्रेम स्वायत्त होता है, इसलिए अधिक शुद्ध भी होता है। लेकिन सगे भाइयों का नाता कोई जोड़ नहीं सकता और कोई तोड़ भी नहीं सकता। वह नित्य सम्बन्ध होता है। इस नित्यता के तत्त्व को मित्रत्व में दाखिल करने के लिए मित्रों की उपमा सगे भाइयों से दी गयी। इस प्रकार कौटुम्बिक नातेदारी को सामाजिक मूल्य बनाने की कोशिश हुई। 'कम्यून' में रहनेवाले साथी जब एक-दूसरे के भाई-बहन बन जाते हैं, तो कुटुम्ब के भीतर स्त्री-पुरुषों के तथा पुरुष-पुरुष और स्त्री-स्त्री के सहजीवन में जो स्वाभाविक आत्मीयता और पवित्रता होती है, वह क्रान्तिकारी संस्थाओं में प्रविष्ट हो जाती है। कुटुम्ब-संस्था जब क्षीणप्राण और प्रगतिशून्य बन गयी, तब अहिंसा के प्रणेता को आश्रम की स्थापना करनी पड़ी। आश्रम में व्रताचरण है, संयम है। सभी आश्रमवासी एक-दूसरे के सहसाधक हैं, परन्तु कुटुम्ब-संस्था की स्वाभाविक आत्मीयता और परस्पर-समर्पण बुद्धि का वहाँ यदि अभाव नहीं, तो न्यूनता अवश्य है। आश्रम में हम जिन विशिष्ट गुणों का विकास करते हैं, उनका प्रवेश अगर कौटुम्बिक जीवन में न हुआ, तो कुटुम्ब-संस्था नष्ट हो जायगी। कौटुम्बिक सम्बन्धों में जिन मूल्यों का विकास सहज भाव से

होता चला जाता है, उनका प्रवेश यदि आश्रम-संस्थाओं में न हुआ, तो आश्रम-संस्थाएँ समाज-विमुख होती चली जायँगी और कौटुम्बिकता सामाजिक मूल्य में परिणत नहीं हो सकेगी।

नागरिक जीवन के मूल्यों का विकास हो

इसका एक ही उपाय है। उसके दो पहलू हैं। एक तो यह कि नागरिक जीवन के मूल्यों का प्रवेश हमारे गृह-जीवन में होना चाहिए। स्त्री और पुरुष, भाई और बहन, बेटे और बेटियाँ, सबका रुतबा और सबकी इज्जत मनुष्य की हैसियत से परिवार में भी समान होनी चाहिए। कुटुम्ब-संस्था सबके लिए सहजीवन के पवित्र और प्रिय प्रयोग-तीर्थ में परिणत हो जानी चाहिए। दूसरा पहलू यह है कि कौटुम्बिक सहजीवन के आधारभूत तत्त्व क्रान्तिकारी संस्थाओं में तथा नागरिक जीवन में प्रविष्ट होने चाहिए। इस प्रकार गृहस्थाश्रम सामाजिक मूल्यों से समृद्ध होगा और समाज-व्यवस्था कौटुम्बिकता के मूल्यों से पावित्र्य तथा शाश्वत सौंदर्य से सम्पन्न होगी। इसे हम गृहस्थाश्रम का सामाजिक मूल्य मानते हैं।

वानप्रस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम के बाद की स्थिति को विनोबा **'वानप्रस्थाश्रम'** कहा करते हैं। विनोबा का कहना है कि यथासमय विधिपूर्वक वानप्रस्थाश्रम ले लेना चाहिए। लोग ऐसी कोई विधि करें या न करें, एक बात मैं चाहता हूँ और वह यह कि स्त्री और पुरुष के जीवन में एक ऐसी वयोमर्यादा आ जानी चाहिए कि जिसके बाद उनमें विवाह की भावना न रहे।

आज कभी-कभी हम पढ़ते हैं कि ७० साल का चर्चिल शादी कर लेता है। लोग कहते हैं कि ७० साल का पुरुष २०, २५, ३० साल की लड़की से शादी करता है, तो यह अनाचार है। पर ७० साल का पुरुष यदि ६० साल की स्त्री से शादी कर लेता है, तो क्या यह सदाचार है? लोग कहते हैं, "हाँ, फिर तो कोई हर्ज नहीं है।" हमारे यहाँ चाहे परम्परा से ही क्यों न हो, एक मर्यादा थी। यह मर्यादा स्त्री के विषय में थी, पुरुष के विषय में नहीं। स्त्री के विषय

में यह मर्यादा थी कि एक उम्र के बाद कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि अब इस स्त्री का विवाह हो सकता है। आज तो ५५ साल की स्त्री भी शादी कर लेती है। साठ साल की स्त्री भी शादी कर लेती है।

मनुष्य के जीवन से इस विवाह-भावना का निराकरण किसी मर्यादा पर पहुँचकर होना चाहिए या नहीं? यदि ऐसा नहीं होगा, तो स्त्री और पुरुष के जीवन में पवित्रता कभी आ नहीं सकती। आज कॉलेजों में २०-२०, २५-२५, ३०-३० साल की लड़कियाँ पढ़ती हैं। नवजवान लड़कों के साथ वे एक मर्यादा में रह सकती हैं। परिवार में भाई के साथ रहती हैं, पिता के साथ रहती हैं, लेकिन उनके साथ जो सम्बन्ध होता है, वह कौटुम्बिक मर्यादाओं के कारण अपनी हृदय की गुप्त बातें बतलाने का सम्बन्ध नहीं होता। परिणाम यह है कि उनके लिए समाज में, परिवार के बाहर, पितृत्व की भावना कहीं है ही नहीं। परिवार के बाहर क्या तरुण स्त्री के लिए समाज में ऐसा कोई संकेत है कि उसके लिए पुरुष के बाहुबल का नहीं, पितृत्व का संरक्षण उपलब्ध हो, जहाँ वह विश्वास से अपनी भावनाएँ व्यक्त कर सके? ऐसे पुरुषों की तरफ क्या वह देख सकती है? कहाँ से देखे? ऐसा पुरुष उसका प्रोफेसर होता है, उसका गुरु होता है, और उससे वही शादी कर लेता है!

विवाह की आयु-मर्यादा हो

फलतः पुरुष की विवाह-भावना का कहीं अंत ही नहीं आता। और उल्टे इसमें उसे गर्व मालूम होता है! कहता है—"देखो, यह ८० साल का है, शादी कर ली। पाँचवीं शादी हुई है और उसके बाद भी उसे सन्तान हुई।" अब भला पुरुषार्थ की कोई सीमा रह गयी है? यह कोई नैतिक संकेत है? यह कोई सांस्कृतिक संकेत है? और ऐसे देश में, जिसमें ब्रह्मचर्य की बात जमाने से चली आयी है? इसलिए विनोबा का वानप्रस्थाश्रम आप मानें या न मानें, इस देश के सारे पुरुषों को अपने मन में यह एक पवित्र संकल्प कर लेना चाहिए कि एक आयु-मर्यादा के बाद पुरुष की विवाह-भावना क्षीण होती चली जानी चाहिए।

आज मुझसे यह प्रबोध कह रहा था कि "आप कुछ भी कहिये, स्त्री को

बच्चा हो जाता है, तो उसकी दृष्टि और भावना में ही फर्क पड़ जाता है।" मैंने कहा, "बात तो दुरुस्त है, क्योंकि वह अपने बच्चे की माँ बनी, तो पहली कल्पना उसके दिल में यह आती है कि मैं तो पुरुष की माँ हूँ। यह जो पुरुष इतना अहंकारी है, इसकी मैं माँ हूँ!" यह कल्पना आ जाती है, तो उसकी भूमिका ही बदल जाती है। पर, क्या पुरुष के लिए कभी यह भावना नहीं आयेगी कि मैं भी स्त्री का पिता हूँ? और यह वयोमर्यादा से भी नहीं आयेगी?

वानप्रस्थ-वृत्ति

ब्रह्मचर्य के संरक्षण के लिए, ब्रह्मचर्य को सामाजिक मूल्य बनाने के लिए, इसकी बहुत आवश्यकता है। आप वयोमर्यादा चाहे जितनी मान लीजिये। थोड़ा-बहुत फर्क तो व्यक्ति में भी हो सकता है। किसी व्यक्ति में यह भावना जल्दी आ जायगी और किसीमें थोड़ी देर में। इसकी कुछ-एक मर्यादा आप बाँध सकते हैं। लेकिन एक मर्यादा आनी ही चाहिए, जब पुरुष का जीवन पितृत्व-सम्पन्न हो और उसका सारा पुरुषार्थ उसकी पितृत्व भावना में ही प्रकट हो, जिससे तरुण स्त्रियों का जीवन समाज में सम्पन्न हो सके। मैं यहाँ पर केवल 'सुरक्षित' शब्द का प्रयोग नहीं करता। मैं कहता हूँ कि उनका जीवन समृद्ध हो सके, सम्पन्न हो सके। तरुण स्त्रियों के लिए समाज में निरापद अवसर रहे, इसकी बहुत आवश्यकता है। इसीको मैंने 'वानप्रस्थ-वृत्ति' कहा है।

वानप्रस्थ से मर्यादित कौटुंबिक भावना का निरास होकर व्यापक कौटुंबिक भावना उसकी जगह ले लेती है। अपनी स्त्री, अपने पुत्र की भावना से आदमी ऊपर उठ जाता है। घर की चहारदीवारी पार करके उसकी कौटुंबिक भावना व्यापक बन जाती है। कौटुंबिक भावना की ऐसी व्यापकता का विकास हमारे जीवन में होने के लिए वानप्रस्थ-वृत्ति की आवश्यकता है।

संन्यास-आश्रम

अन्तिम आश्रम है—संन्यास-आश्रम, जिसको 'नागरिकत्व की मृत्यु' कहते हैं। नागरिक के नाते उसका जीवन समाप्त हो जाना चाहिए, इसका तात्पर्य क्या? यही कि फिर वह राज्यातीत स्थिति में चला जाता है। राज्य का

शासन उस पर नहीं चलता। नागरिक धर्म उसके लिए सहज हो जाते हैं। कानूनों का अनुशासन उस पर नहीं चलता। जिसे लोग कहते हैं न कि वही अपना शासक और कानून बन जाता है। 'निस्त्रैगुण्यो पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।' भाषा आध्यात्मिक है, लेकिन हम अध्यात्म की भाषा से अपनी भूमिका के अनुरूप अर्थ निकाल लें। हमारे अनुरूप अर्थ यह है कि हर नागरिक के जीवन में एक ऐसी अवस्था आनी चाहिए कि जब उसे राज्य-शासन की आवश्यकता न रहे। राज्य-शासन के बिना उसकी नागरिकता के सारे धर्मों का पालन सहज रूप से होगा। इस राज्यातीत स्थिति को मैं नागरिकता में 'संन्यास' की स्थिति कहता हूँ, जिसमें उसने उत्पादन के भी कर्तव्य का आग्रह छोड़ दिया है, प्रतिमूल्य का तो लोभ सर्वथा छोड़ ही दिया है।

"तुम क्या कमाते हो ?"

"मैं कुछ नहीं कमाता।"

"तुम क्या करते हो ?"

"समाज में रहता हूँ, जो कुछ करना पड़ता है, वह इस शरीर से हो जाता है। मैं करता हूँ, यह मैं नहीं कहता।"

"समाज से क्या लेते हो ?"

"जितना कम-से-कम ले सकता हूँ, उतना लेता हूँ। उसको भी कम करता चला जा रहा हूँ।"

यह 'संन्यासी वृत्ति' कहलाती है, जिसे मैं नागरिक की राज्यातीत स्थिति कहता हूँ। यदि कुछ नागरिकों के जीवन में राज्यातीत अवस्था आयेगी, तो शासनमुक्त समाज का विकास हम समाज में कर सकेंगे।*

---

* विचार-शिविर, अहमदाबाद में २२-८-'५५ को अपराह्ण में किये गये प्रश्नों का उत्तर।

हम भेद में से अभेद की ओर जाना चाहते हैं। पुरानी परिभाषा में कहें, तो हम द्वैत में से अद्वैत की ओर जाना चाहते हैं, अथवा आधुनिक परिभाषा में कहें, तो हम विरोध का निराकरण करना चाहते हैं। स्वार्थों का संघर्ष जिसे कहा जाता है, उन सारे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक विरोधों का निराकरण हम करना चाहते हैं। क्या इसके लिए कहीं आधार है? यह मूल प्रश्न है। मनुष्य के जीवन का मूलभूत प्रश्न और मूलभूत समस्या आर्थिक भी नहीं, राजनैतिक भी नहीं, वह आध्यात्मिक है। मैंने उसे 'पारमार्थिक' कहा है। आखिर हम जो कुछ करना चाहते हैं, उसका अध्यात्म के साथ क्या अनुबन्ध है? हमारे सदाचार में, हमारी अर्थ-व्यवस्था में, हमारी राज्य-व्यवस्था में आध्यात्मिकता कहाँ आती है?

सम्वाद और विवाद

मनुष्य को प्रेम में आनन्द आता है, द्वेष में आनन्द नहीं आता। सम्वाद में आनन्द आता है, विवाद में आनन्द नहीं आता। आपका और मेरा मतभेद हो, तो मैं बेचैन रहता हूँ। आपका और मेरा मतैक्य हो जाय, दोनों का एकमत हो जाय, तो मुझे बहुत आनन्द आता है। सहमति में आनन्द होता है और जिसे मीमांसकों ने 'विप्रतिपत्ति' याने मतविरोध कहा है। जहाँ पर मतभेद होता है, वहाँ मनुष्य बेचैन हो जाता है। उसकी बुद्धि भी अस्पष्ट रहती है और जब तक सम्वाद की स्थापना नहीं हो जाती, तब तक बुद्धि का समाधान नहीं होता।

बुद्धि का धर्म सम्वाद की स्थापना है। तो क्या इसका कहीं कारण हो सकता है? यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। इसमें तर्क का कोई विषय ही नहीं। एक कुत्ता प्यास से छटपटाता हो, तो उसे देखकर कभी-कभी बिलकुल स्वाभाविक रूप से मेरी आँखों में आँसू आ जाते हैं, अगर मैं बहुत निर्घृण, निष्ठुर, हो गया हूँ, संवेदनाशून्य हो गया हूँ और कुत्तों को जहर पिलाकर मरते देखने

की आदत मुझे हो गयी है, तो बात अलग है। नहीं तो यों अगर कुत्तों को मैं छटपटाते हुए देखूँ, तो हठात् मेरी आँखों में से आँसू निकल आते हैं। ये आँसू क्यों आते हैं? यह संवेदना कहाँ से आती है? मुझे दूसरों के साथ जोड़नेवाला कोई सामान्य तत्त्व जीवन में होना चाहिए, जो हमारा आधारभूत तत्त्व है, अन्यथा मैं दूसरे के दुःख से दुःखी नहीं होता, दूसरे के सुख से सुखी नहीं होता।

आध्यात्मिकता और नैतिकता

जब शास्त्रकारों ने कहा कि "वह ब्रह्म तू है", तो उन्होंने अपने ढंग से समझाया कि "तेरा 'तू-पन' मिथ्या है, उसका 'वह-पन' मिथ्या है और दोनों की एकता ही सत्य है।" उन्होंने एक महावाक्य तो यह बताया, "मैं ब्रह्म हूँ" और दूसरा महावाक्य यह बताया कि "सब कुछ ब्रह्म ही है।" "सब कुछ ब्रह्म है और मैं ब्रह्म हूँ।"—इसे अध्यात्म कहते हैं। "सब कुछ ब्रह्म है"—यहीं से नैतिकता का, सामाजिकता का, चारित्र्य का आरम्भ होता है। चारित्र्य का आरम्भ अकेले में कभी नहीं होता। अकेले आदमी को चारित्र्य की जरूरत ही नहीं है। जो जंगल में बैठा है, उसे चारित्र्य की क्या जरूरत है? जहाँ दूसरे के साथ सम्बन्ध आता है, वहाँ से चारित्र्य का आरम्भ होता है। नीति का आरम्भ ही वहीं से होता है, जब मेरा सम्बन्ध दूसरे के साथ आता है।

गीता-रहस्यकार लोकमान्य तिलक ने अध्यात्म पर एक प्रकरण लिखा। इस प्रकरण में बड़े पते की एक बात उन्होंने लिखी है। ईसा ने कहा कि "अपने पड़ोसी से प्रेम कर।" मैं पूछता हूँ कि "मैं अपने पड़ोसी से प्रेम क्यों करूँ?" इसका जवाब ईसा के पास नहीं है, नीति-शास्त्र के पास नहीं है। इसका जवाब अध्यात्म-शास्त्र देता है। "इसलिए कि तेरा पड़ोसी 'तू' है। तेरा 'पड़ोसी' और 'तू' एक ही है, इसलिए।"

"यह कैसे जाना?"

"दूसरे के दुःख से तू दुःखी होता है। दूसरे के सुख से सुखी होता है।" और एक बात। परमेश्वर ने यह सृष्टि इतनी भद्र, मंगलकारी और सुंदर बनायी है कि यहाँ परिचय के बिना झगड़ा ही नहीं होता। यहाँ अगर युद्ध होता है, तो भी निकटता की आवश्यकता होती है, परिचय की आवश्यकता

होती है। और जिन बातों को लेकर झगड़ा होता है, उन बातों में दोनों में समानता होती है। तब झगड़ा होता है। अगर समानता न हो, तो वह झगड़ा ही नहीं होता। जिसे आप 'गाली' समझते हैं, उसे मैं गाली समझूँ, तो मेरा आपका झगड़ा होगा। आप जिसे गाली समझते हैं, उसे अगर मैं गुण-वर्णन समझूँ, तो झगड़ा हो नहीं सकता। झगड़े में भी एक समानता की आवश्यकता होती है।

यह आदमी मुझे मारने आया है, यह आदमी इस वक्त क्रोध कर रहा है, यह मैं कैसे जानता हूँ? क्रोध के वक्त मेरी आकृति जैसी होती है, वैसी ही इस वक्त इसकी आकृति है। इस समानता पर से मैं जानता हूँ कि यह मनुष्य इस वक्त क्रुद्ध है। यह जो एक एकता है, इस एकता के अधिष्ठान का नाम किसीने 'आत्मा' रख दिया है, किसीने 'ब्रह्म' रख दिया है। यह कोई रासायनिक द्रव्य नहीं है। कोई अणुवादी हमको यह बतलाना चाहे कि इसके भी कुछ परमाणु होते हैं और इसकी भी कुछ तरंगें होती हैं तो उसकी बात मैं मानने के लिए तैयार नहीं हूँ। कोई वैज्ञानिक इसे कभी सिद्ध कर सकेगा, इस पर मेरी बुद्धि विश्वास नहीं करती।

कुछ बातें तर्क से याने युक्तिवाद से सिद्ध नहीं हो सकतीं। वे अनुभव की होती हैं। जहाँ अनुभव का विषय आ जाता है, वहाँ अनुमान कुंठित हो जाता है। यह रासायनिक द्रव्य नहीं है। प्रयोगशाला में बनाये हुए विज्ञान से यह चीज सिद्ध नहीं हो सकेगी।

एकता में आनन्द

आपके दुःख से मैं दुःखी होता हूँ, आपके सुख से मैं सुखी होता हूँ। "क्यों?" इसका जवाब विज्ञान के पास कुछ नहीं है। "क्यों?" का जवाब विज्ञान के पास नहीं है। वह जवाब इतना ही हो सकता है कि मुझमें और आपमें कहीं कोई मूलभूत एकता है, जो आपके दुःख के साथ मुझे दुःखी करती है और आपके सुख के साथ मुझे सुखी बना देती है। आप यदि इसे मनुष्य की प्रकृति कहें, तो भी मैं मानने को तैयार हूँ और आप यदि यह कहें कि मनुष्य की यह प्रकृति भी सृष्टि के विकास में उसे प्राप्त हुई है, तो भी मैं मानने को तैयार हूँ। मैं

आपसे यह झगड़ा नहीं करूँगा कि जड़ से चेतन निकला या चेतन से जड़। आप इतना मान लें कि जड़ यदि एक सत्य है, तो आज की स्थिति में चेतन भी एक सत्य है। आपको यह वस्तुस्थिति माननी होगी कि मनुष्य को एकता में आनन्द होता है और विषमता या विरोध में दुःख होता है। विविधता में आनन्द होता है। पर भेद या विविधता बिलकुल अलग चीज है। जिसे विरोध या विषमता कहते हैं, उसमें मनुष्य को सदा दुःख होता है।

शैतान का शिष्य

एक था 'शैतान का शिष्य'। वह 'शैतान का शिष्य' उम्रभर लोगों की भलाई करता रहा। कोई दुःखी हुआ, इसे चैन नहीं। कहीं आग लगी, वह दौड़ा। किसी पर कोई संकट आया और वह दौड़कर न गया हो, ऐसा कभी हुआ ही नहीं। उस वक्त जो प्रचलित नीति-नियम थे, उनके खिलाफ भी उसे काम करना पड़ा। उसे फाँसी की सजा दी गयी। वह जब टँगने के लिए फाँसी पर जा रहा था, तो पुरोहित आया। उसने कहा, "अपने पापों की कैफियत इस वक्त देनी है। तू अपने पाप स्वीकार कर ले और भगवान् से क्षमा माँग ले।"

वह बोला, "मैं तो भगवान् को जानता ही नहीं। किस भगवान् से मैं क्षमा माँगूँ और किसलिए क्षमा माँगूँ ?"

"अरे, तूने तो उम्रभर सत्कर्म किये हैं। अब भगवान् को मान ले।"

"मैं क्या जानूँ सत्कर्म और दुष्कर्म ? मुझे खबर ही नहीं कि सत्कर्म आदि होते क्या हैं और कैसे किये जाते हैं। जहाँ-जहाँ दुःख देखता था, मैं दौड़ जाता था। क्योंकि मुझसे दुःख नहीं देखा जाता था, न सहा जाता था।"

वह शैतान का शिष्य भगवान् का भक्त था। वह जो पुरोहित था, वही शैतान का भक्त था।

आस्तिक कौन है ?

हम नामों को छोड़ दें। जितने क्रान्तिवादी होते हैं, वे अगर आस्तिक न हों, तो वे क्रान्तिकारी हो ही नहीं सकते। वे नाम लें या न लें, यह बात दूसरी है। विनोबा कहते हैं न, कि जानकी रामचन्द्र का नाम नहीं लेती थी,

लेकिन राम का काम करती थी। कौशल्या राम को जितना प्यार करती थी, उतना ही जानकी भी राम को प्यार करती थी। भगवान् का नाम जो नहीं लेता, वह निरीश्वरवादी, नास्तिक नहीं होता। निरीश्वरवाद अलग वस्तु है, नास्तिकता अलग। कोई भी व्यक्ति, भले ही वह आत्मा को और ब्रह्म को न मानता हो, यदि दूसरे के दुःख से दुःखी होता है, दूसरे के सुख से सुखी होता है और विषमता को सह नहीं सकता, तो वह 'आस्तिक' है; क्योंकि वह विषमता का निराकरण और समता की स्थापना करना चाहता है।

नियति और पुरुषार्थ

विषमता के निराकरण के लिए, समता की स्थापना के लिए, केवल एतिहासिक नियति, सृष्टि-नियम ही पर्याप्त नहीं हैं, उसमें पुरुष के पुरुषार्थ की भी आवश्यकता है। यदि प्रकृति के नियमों से ही अपने आप समाज-परिवर्तन होता हो और ऐतिहासिक घटना-चक्र के अनुसार ही समाज-परिवर्तन होता हो, क्रांति होती हो, तो फिर पुरुष के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। वह नियति का एक पुर्जा, एक उपकरण बन जाता है और फिर उसे आप जिम्मेवार नहीं मान सकते। पुनर्जन्म का मुझे प्रत्यय नहीं है। इसलिए मैंने उसे 'उपपत्ति' कहा। लेकिन उस उपपत्ति में से जो सबसे बड़ी बात मैंने सीखी, वह यह कि अपने दैव का निर्माता और अपनी नियति का नियन्ता मनुष्य है।

प्रश्न है कि मनुष्य यदि भोगयोनि नहीं है, तो क्या वह प्रकृति के नियमों के अनुसार नहीं चलता? इसका उत्तर यही है कि जो प्रकृति का अनुसरण करता है, उसे हमने मनुष्य कभी नहीं माना।

मनुष्य प्राकृत नहीं है, मनुष्य सुसंस्कृत है। मनुष्य-स्वभाव संस्कारजन्य है। पशु-स्वभाव केवल प्रकृतिसिद्ध है। स्वभाव भूतमात्र का, प्राणि-स्वभाव, प्राणिमात्र का। मनुष्य-स्वभाव=मनुष्य का विशिष्ट स्वभाव।

मानव और क्षुधा पिपासा

इस सम्बन्ध में उपनिषद् की एक आख्यायिका है कि भगवान् ने सृष्टि का निर्माण किया और सारे जीव पैदा किये। उनके साथ बहुत-सी आकांक्षाएँ पैदा

कीं। दो प्रवल विलकुल मूलभूत वासनाएँ पैदा कीं—एक का नाम 'अशना' और दूसरी का नाम 'पिपासा'। 'अशना' अर्थात् खाने की इच्छा और 'पिपासा' अर्थात् पीने की इच्छा! 'खाने की इच्छा' अलग चीज है और 'भूख' अलग चीज है। 'पीने की इच्छा' अलग चीज है और 'प्यास' अलग चीज है।

ये दोनों—खाने की इच्छा और पीने की इच्छा—विधाता से कहने लगीं, "हमें रहने के लिए कहीं जगह दो।" विधाता ने गाय लाकर खड़ी कर दी। उन्होंने कहा, "देखो, यह मेरा सवसे अशराफ जानवर है। इतना गरीब, इतना नम्र, इतना सौम्य, इतना निरुपद्रवी मैंने दूसरा जानवर नहीं बनाया। इसलिए पृथ्वी को भी जव रूप लेना होता है, वह इसीका रूप लेती है। ऐसी यह हमारी गाय है। यह गाय में रहने के लिए तुम्हें देता हूँ।"

अशना-पिपासा ने उसे इधर-उधर से देखा और कहा, "यह हमारे काम की नहीं है। माना कि यह है वहुत अच्छी, लेकिन हमारे काम की नहीं है।"

"क्यों ?"

"इसके तो एक ही तरफ दाँत हैं। दोनों तरफ तो दाँत ही नहीं हैं। यह क्या खायेगी? और दूसरी बात यह है कि यह खाया हुआ दुवारा खाती है, यह जुगाली करती है, रौंथती है। यह हमारे काम की नहीं है।"

भगवान् ने घोड़ा लाकर खड़ा किया। सारे जानवरों में सबसे सुंदर! उसका वह तुर्रा और खड़े रहने की उसकी वह अकड़, उसकी शान देखकर अशना-पिपासा हैरान रह गयीं कि यह भी कोई जानवर है!

दो ही तो नर कहलाते हैं न?—एक अर्जुन और दूसरा घोड़ा। इनके स्तन नहीं होते। इसलिए दुनिया में ये दो ही नर माने गये।

अशना-पिपासा ने घोड़ा देखा, बहुत खुश हुईं। कहने लगीं, "हाँ, यह वहुत ठीक है। दोनों तरफ दाँत हैं। ऊपर भी हैं और नीचे भी। जुगाली भी नहीं कर सकता। लेकिन इसमें भी एक ऐव है।"

"कौन-सा ऐव ?"

"भूख लगेगी तो यह खायेगा और प्यास लगेगी तो पीयेगा। हमारे लाभ का क्या होगा ?"

तो होते-होते मनुष्य लाकर खड़ा कर दिया।

"बस, यह है बिल्कुल वैसा, जैसा हम चाहती हैं।" **सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्।**

"क्यों?"

"यह बगैर भूख के खा सकता है, बगैर प्यास के पी सकता है। इसमें यह विशेषता है, जो दूसरे प्राणियों में नहीं है।"

मानवता का आरम्भ

मनुष्य के विषय में अशना-पिपासा ने यह जो बात कही, इसके लिए मुझे अभिमान है, शर्म नहीं; क्योंकि यहाँ से मेरी मानवता का आरम्भ होता है। मुझे भूख नहीं है, आपके घर आया। आप कहेंगे, "यहाँ कुछ नहीं पीयेंगे आप? हम भंगी हैं, इसलिए नहीं पीते हैं?"

"नहीं-नहीं, ऐसी बात तो नहीं है। हम अस्पृश्यता को नहीं मानते।"

"तो फिर, और कुछ नहीं, तो हमारे यहाँ शरबत ही पी लीजिये।"

"प्यास नहीं है।"

"अरे भाई, शरबत पीने के लिए प्यास की क्या जरूरत है? और कुछ नहीं है, तो हमारे यहाँ चाय पी लीजिये।"

आज सह-पान है, अस्पृश्यों के साथ मिलकर हम चाय पीनेवाले हैं। हमको प्यास नहीं है, लेकिन अस्पृश्यता-निवारण करना है। इसलिए बगैर प्यास के पीता हूँ, बगैर भूख के खाता हूँ। इसीमें से सह-भोजन का आरम्भ होता है। मनुष्य का भोजन स्वायत्त है। सह-पान, सह-भोजन सामाजिक मूल्य बन गये।

क्रान्ति के लिए तीन बातें

अब एक बात आपके ध्यान में आ गयी होगी। मनुष्य के जितने सांस्कृतिक संस्कार हैं और जितने धार्मिक व्रत हैं, उन सबको सामाजिक मूल्यों में परिणत कैसे किया जा सकता है। क्रान्ति के लिए तीन बातों को सामाजिक मूल्यों में परिणत करना होता है:

१. व्यक्तिगत गुण और व्यक्तिगत शक्ति।

२. नैसर्गिक व्यवस्था और

३. सामाजिक संकट या सामाजिक विवशता।

इन तीनों को जब हम क्रान्ति के अवसर में वदल लेते हैं, तव मनुष्य पुरुषार्थ कर सकता है।

सह-भोजन कहाँ आरम्भ हुआ ? मैं वगैर भूख के खा सकता हूँ, मैं वगैर प्यास के पी सकता हूँ, यहाँ से मेरे सह-भोजन और सह-पान का आरम्भ होता है। लेकिन यहीं से संयम का भी आरम्भ होता है। सहभोजन का आरम्भ ही संयम का आरम्भ है।

मैं सौराष्ट्र में पहुँचता हूँ। मेरी थाली लगी हुई है। वजूभाई खिला रहे हैं। कहता हूँ, "आप भी क्यों नहीं वैठ जाते ?"

कहते हैं, "नहीं, आपको खिला लूँगा, वाद में वैठूँगा।"

"क्यों आपको भूख नहीं लगी है ?"

"भूख तो आपसे ज्यादा लगी है। हो सकता है, इस वक्त आपकी भूख इतनी ज्यादा न हो, जितनी मुझे लगी है।"

"आपको भूख लगी है, फिर भी नहीं खाते। हमने तो वैद्यक-शास्त्र में पढ़ा है, जव भूख लगे तो खाओ और भूख न हो, तो खाओ ही मत। आप शास्त्र के खिलाफ काम कर रहे हैं।"

वजूभाई मुझसे कहते हैं—"भूख तो वहुत लगी है। लेकिन इस वक्त मेरा धर्म है कि आपको पहले खिला दूँ, वाद में मैं खाऊँ।"

सह-भोजन में संयम का आरम्भ होता है, जिसे आप 'आतिथ्य' कहते हैं। दूसरे को खिलाऊँगा, तव खाऊँगा। दूसरे को पिलाऊँगा, तव पिऊँगा। एक ही कदम आगे वढ़ना है। दूसरे को सुखी वनाऊँगा, तव सुख से जिऊँगा। दूसरे को जिलाऊँगा, तव जिऊँगा। यहाँ से मनुष्य की सभ्यता का आरम्भ होता है।

एकता के आधार पर समानता

इसका आधार कहाँ है ? नीति का अधिष्ठान कहाँ है ? आध्यात्मिकता। वह हमको दूसरों के साथ जोड़नेवाली कड़ी है। वह इस एकता का नाम है, जो दूसरे व्यक्तियों के साथ मेरा संबंध स्थापित कर देती है।

मनुष्य में जो मूलभूत एकता है, उस एकता के आधार पर हम समानता स्थापित करना चाहते हैं। सह-जीवन के लिए सम-जीवन की आवश्यकता है। सह-जीवन के लिए सह-भोजन की आवश्यकता है और सह-भोजन के लिए सम-भोजन चाहिए। सम-भोजन का अर्थ है—जीवनमान सबका करीब-करीब एक-सा चाहिए। जीवनमान में बहुत अन्तर या विषमता नहीं होनी चाहिए। इसे 'आर्थिक विरोध का निराकरण' हम लोग कहा करते हैं। सह-जीवन से सह-भोजन की प्रेरणा। सह-भोजन की प्रेरणा में से हम दूसरी प्रेरणा पर पहुँचे। वह प्रेरणा है—सम-भोजन की प्रेरणा।

यह जो सह-भोजन और सम-भोजन की प्रेरणा है, इसीमें से आगे चलकर सह-उत्पादन की प्रेरणा पैदा होती है। सह-उत्पादन की प्रेरणा में से सम्यक् वितरण की प्रेरणा आती है। सह-जीवन, सह-भोजन, सम-भोजन, सह-उत्पादन और सह-वितरण, ऐसी ये प्रेरणाएँ एक के बाद एक आती हैं। अब सवाल यह है कि यह परिस्थिति हमें पैदा करनी है, तो उसका उपाय क्या हो? सबसे पहले मैं मुख्य साधन का विचार कर लेता हूँ कि हमें भेद का निराकरण करना है। भेद का मतलब विविधता नहीं, विरोध है। भेद शब्द कुछ ढीला पड़ गया है, अचूक शब्द नहीं है, फिर भी दुनिया में रूढ़ शब्द है, इसलिए मैंने उसे वैसा ही ले लिया। आप उसका अर्थ 'विषमता' या 'विरोध' कर लीजिये।

मार्क्स के तीन संकल्प

"हमें भेद का निराकरण करना है, अभेद की स्थापना करनी है।" यह प्रतिज्ञा दुनिया के सभी क्रान्तिकारियों की है। हमने भिन्न विचारों में सम्वाद अधिक खोजा है, विवाद कम खोजा है, क्योंकि विवाद का निराकरण करना है, सम्वाद को अपनाना है। दूसरों में और हममें जितना सहमत है, उसका तो हमें संग्रह करना है और जो भेद है, उसका निराकरण करना है। इसलिए हमने भेद खोजने की कोशिश नहीं की। भेद अपने-आप प्रकट होगा। जहाँ समानता है, उतनी ही हमने खोजी है। अध्यात्म के साथ समानता कहाँ है, यह मैंने बता दिया। अब हम देखें कि दूसरे क्रान्तिकारियों की क्या प्रतिज्ञा है।

उन्होंने हमारे साथ यह प्रतिज्ञा की है कि हमें भेद का निराकरण करना है और अभेद की स्थापना करनी है। सारे क्रान्तिकारियों की यह प्रतिज्ञा है। इसलिए मार्क्स ने तीन संकल्प किये।

१. क्रान्ति वैज्ञानिक हो।

संस्कृति और सम्प्रदाय तो सार्वभौम रह नहीं गये हैं, पर विज्ञान के आविष्कार, विज्ञान के शोध आज भी सार्वभौम हैं। विज्ञान सार्वभौम है, इसलिए जो क्रान्ति हो, वह वैज्ञानिक होनी चाहिए याने समाज-विकास के नियमों के अनुरूप हो। इसे वैज्ञानिक समाजवाद कहते हैं। स्वप्नवादी या आदर्शवादी अलग और विज्ञानवादी अलग। आज समाज में आदर्शवादी और वैज्ञानिक में वहुत बड़ा फर्क नहीं रह गया। अब ये झगड़े रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट जैसे पुराने हो गये हैं।

२. क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय हो।

३. क्रान्ति में वर्ग-संघर्ष हो।

"वर्ग-संघर्ष क्रान्ति की धाय होगी।"

क्रान्ति की ये तीन बातें मार्क्स ने हमारे सामने रखीं।

मार्क्स ने हमें क्या सिखाया ?

१. द्वन्द्वविकासी भौतिकवाद,

२. ऐतिहासिक भौतिकवाद और नियतिवाद और

३. एक वर्ग का संगठन। ये तीन बातें एक सिलसिले में मार्क्स ने हमें सिखायी थीं।

दूसरे एक सिलसिले में उसने हमें अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त सिखाया।

मार्क्स नास्तिक नहीं था, निरीश्वरवादी था, अवैदिक था। बाइबिल और कुरान के खिलाफ था। लेकिन उसने जो बात कही, वह किसी धर्म-संस्थापक ने, किसी ऋषि-मुनि ने, दस अवतारों में से किसी भी अवतार ने उससे पहले नहीं कही थी। इसलिए दलित और पिछड़ी हुई मानवता का वह पहला मसीहा हुआ।

क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय हो

हम अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति के प्रश्न को लें। विश्व में सबसे पहली अंतर्राष्ट्रीय क्रान्ति लेनिन की क्रान्ति हुई। लेनिन से पहले विश्व में कोई अंतर्राष्ट्रीय क्रान्ति हुई ही नहीं। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय हुए। लूथर के धर्म-संशोधन के परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय हुए। पुनर्जागरण के, सांस्कृतिक पुनर्जीवन आन्दोलन के, परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय हुए। अमेरिका की क्रान्ति के परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय हुए। लेकिन ये सारी क्रान्तियाँ स्थानीय थीं, राष्ट्रीय थीं। आधुनिक विश्व में केवल एक ही क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय हुई और वह है—रूस की क्रान्ति। उसकी भूमिका ही अन्तर्राष्ट्रीय थी। उन्होंने कहा था कि "दुनियाभर के मजदूरो, तुम एक हो जाओ!" आज तो अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति के बिना कोई चारा ही नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति अनिवार्य है। स्टॉलिन के बाद अन्तर्राष्ट्रीयता बदल गयी। 'समाजवाद एक देश में' आ गया। बहु-राष्ट्रवाद का सिद्धान्त आ गया। स्टॉलिन दूसरी तरह का विचार रखता था। उसका साम्यवादी राष्ट्रवाद था। लेनिन ने जो क्रान्ति की थी, उस क्रान्ति की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय थी। आज भी क्रान्ति की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय होनी चाहिए। यदि वह अन्तर्राष्ट्रीय नहीं होगी, तो क्रान्ति का कोई मूल्य नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति का अर्थ क्या है? यही कि उसकी प्रक्रिया ऐसी हो कि उस प्रक्रिया का अनुकरण तो नहीं हो सकता, लेकिन उस प्रक्रिया का स्वीकार हो सकता है। 'अनुकरण' और 'स्वीकार' में अन्तर है। मार्क्स और एंगिल्स में से एंगिल्स ने उस जमाने में साम्यवादी घोषणा-पत्र का जो संस्करण फ्रांस में निकाला, उसकी भूमिका लिखते हुए लिख दिया था कि यह कोई जरूरी बात नहीं है कि जिस पद्धति से, याने जिस कार्यक्रम से, किसी एक जगह पर क्रान्ति हुई, उसी कार्यक्रम के अनुसार दूसरी जगह क्रान्ति हो। क्रान्ति की प्रक्रिया का अनुकरण नहीं हो सकता। क्रान्ति की प्रक्रिया का **अनुसरण** हो सकता है। याने हम अपनी विशिष्ट परिस्थिति के अनुरूप उसके सिद्धान्तों को अपना सकते हैं।

आज सशस्त्र क्रान्ति असम्भव

राममनोहर लोहिया ने हाल में एक किताब लिखी है—'द व्हील आव हिस्टरी' ('इतिहास का चक्र')। उसमें लेखक ने काफी गंभीरता और गहराई के साथ विचार किया है कि किस तरह क्रांति की प्रक्रियाओं में भी और क्रांति की पद्धति में भी विकास होना चाहिए। आज यदि अंतर्राष्ट्रीय क्रान्ति हो, तो वह सशस्त्र क्रान्ति नहीं हो सकती। यह आज की ऐतिहासिक परिस्थिति है।

आप किसी भी सरकार से पूछिये कि "फौज क्यों रखते हो ?" तो उत्तर मिलेगा कि "कहीं हमारे यहाँ पर-चक्र न आ जाय, इसलिए हम फौज रखते हैं।" अब उल्टा हो गया है। फौज का उपयोग पर-चक्र में नहीं होता है, स्व-चक्र में होता है। यानी देश के भीतर फौज का उपयोग बहुत होता है। नागरिक शासन लगभग समाप्त हो गया है। विद्यार्थियों का बलवा होता है, तो गोली चलाते हैं। यहाँ तक बातें आनेवाली हैं कि कल यदि पनघट पर स्त्रियाँ एक-दूसरे की चोटियाँ पकड़ने लगें, तो वहाँ भी गोली चलेगी ! नागरिक शासन क्षीण होने का यह लक्षण है। मूल प्रतिज्ञा हमारी यह थी कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उपयोग करने के लिए सेना रख रहे हैं। पर, आज की परिस्थिति क्या है ? यही कि अंतर्राष्ट्रीय मामलों में सेना का और शस्त्रों का उपयोग न किया जाय। रूस की शान्ति-परिषदें चल रही हैं। अमेरिका की सांस्कृतिक परिषदें चल रही हैं। इधर जवाहरलालजी लगातार कोशिश कर रहे हैं। नतीजा यह है कि अंतर्राष्ट्रीय नीति में से युद्ध निषिद्ध करार दिया गया है। जहाँ पहले युद्ध की सबसे अधिक प्रतिष्ठा थी, वहाँ से युद्ध निषिद्ध करार दिया गया है। जिनके पास अधिकतम शस्त्रास्त्र होते हैं, आज उन्हींकी सरकार होती है। यह क्यों ?

रूस में क्या हुआ ? बेरिया और मेलेनकोव—ये दोनों स्टॉलिन के साथी थे। फौज बेरिया के साथ नहीं थी, मेलेनकोव के साथ थी और पुलिस बेरिया के पीछे थी। इसलिए पहले दोनों एक हुए—याने फौज और पुलिस, दोनों जिसके साथ थी, वे दोनों एक हुए। दोनों में जब मतभेद हुआ, तो सत्ता किसकी हुई ? जिसके पास फौज थी, उसकी। आज भी फौज का जो सेनापति

है, वह सबसे प्रभावशाली मंत्री माना जाता है। अमेरिका में तो अध्यक्ष ही सेनापति है। आज दुनिया का रुख कुछ यह हो रहा है कि जिसके हाथ में आधुनिकतम शस्त्रास्त्र हैं, उसकी सत्ता हो जाती है और उसके खिलाफ प्रतिकार का कोई सशस्त्र साधन जनता के हाथ में नहीं रह गया है।

जन-प्रतिकार का सशस्त्र साधन नहीं रह गया है, इसलिए जनता की क्रांति शस्त्रों से नहीं हो सकती। जनता के लिए क्रांति शस्त्रों से हो सकती है। याने मैं और नारायण देसाई, दोनों यदि क्रांति का ठीका ले लें, तो हम क्रांति के ठीकेदार हो सकते हैं और आपके लिए क्रांति होगी। लेकिन वह क्रांति 'आपके द्वारा' नहीं होगी। जनतंत्र में इस बात की आवश्यकता है कि जो क्रान्ति हो, वह केवल जनता के लिए न हो, 'जनता की क्रान्ति' 'जनता के द्वारा' हो। आज क्रांति भी जनतांत्रिक होनी चाहिए, अन्यथा दुनिया में जनतन्त्र की कुशल नहीं है। क्रान्ति की प्रक्रिया ही जनतांत्रिक हो जानी चाहिए।

क्रान्ति की प्रक्रिया

आज तक क्या था? यही कि क्रांति की प्रक्रिया भी तानाशाही की हो, क्रान्ति के बाद की सत्ता भी तानाशाही की हो और उसमें से फिर जनतन्त्र का विकास हो।

अब जब क्रान्ति में से शस्त्र का निषेध हो गया है, तब कैसी प्रक्रिया की आवश्यकता है? जब तक आप सरकारी फौज को अपनी तरफ नहीं मिला लेते, तब तक सशस्त्र क्रान्ति नहीं हो सकती। अब देखिये कि फौज को मिला देने का क्या परिणाम होता है? अपने देश की ही बात ले लीजिये, यहाँ की फौज जिस सरकार के हाथ में है, वह लोक-नियुक्त सरकार है। वह जार की सरकार नहीं है, अंग्रेजों की सरकार नहीं है, किसी नवाब या राजा की भी सरकार नहीं है। याने किसी ऐसी सत्ता की सरकार नहीं है, जो लोक-नियुक्त सत्ता न हो। सत्ता लोक-नियुक्त है और उसकी यह सेना है। अब कल मैं जाता हूँ और सेना में बगावत कर देता हूँ, तो सेना को मैं क्या सिखाता हूँ? यही कि, जो लोक-नियुक्त सत्ता हो, उसके प्रति भी वफादार और ईमानदार रहने की जरूरत नहीं है।

गांधी साधन-शुद्धि की बात किया करते थे, पर हम समझते थे कि ये तो पारमार्थिक बातें हैं, व्यवहार में इनका कोई स्थान नहीं।

व्यवहार ऐसी वस्तु है कि वह किसीके हाथ कभी लगनेवाली ही नहीं है। हर कोई उठता है और कहता है कि यह अव्यावहारिक है। अव्यावहारिक का अर्थ ? व्यवहार के अनुरूप नहीं है। जो नित्य बदलता रहता है, जिसको हम रोज बदलना चाहते हैं, वह कभी जीवन के सिद्धान्तों का नियामक नहीं हो सकता। इसलिए यह व्यवहारवाद बिलकुल ही अव्यावहारिक है।

हमारे देश में आज दो तरह के प्रवाह चल रहे हैं। प्रान्तवाद, भाषावाद और संप्रदायवाद। ये आज हमारे देश की लोकशाही को कलुषित कर रहे हैं। पूँजीवाद तो उसे कलुषित कर ही रहा है, ये जातिवाद, संप्रदायवाद, भाषावाद उसे अत्यधिक कलुषित कर रहे हैं। आज हमारे यहाँ पक्ष-निष्ठा, भाषा-निष्ठा, और जाति-निष्ठा—तीनों का दौरदौरा है। ये बातें यदि सेना में गयीं, तो जाने क्या अनर्थ होगा ?

स्पष्ट है कि इस देश में जो व्यक्ति सशस्त्र क्रांति का प्रयास करेगा, वह देश में अराजकता पैदा करेगा। अराजकता शासन-मुक्ति नहीं है। अराजकता और वस्तु है, शासन-मुक्ति और। यहाँ पर जो लोग सशस्त्र क्रांति की बात करते हैं, उन्होंने परिस्थिति का सम्पूर्ण विचार नहीं किया है और परिस्थिति को बाद में काबू में रखने की शक्ति भी उन लोगों ने प्राप्त नहीं की।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आज सशस्त्र क्रान्ति के लिए जनता में शक्ति नहीं रह गयी है। हमारे यहाँ सशस्त्र क्रान्ति अनुपयुक्त ही नहीं, अवांछनीय है। हमारी क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय होनी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति का अर्थ मैं बता ही चुका हूँ कि वह हमारे राष्ट्र के लिए सुलभ होनी चाहिए और दूसरे राष्ट्र के लिए अनुसरणीय होनी चाहिए। ऐसी क्रांति की प्रक्रिया का विकास आज करना आवश्यक था। मार्क्स के बाद भगवान् की कृपा से गांधी आया, जिसने प्रतिकार की एक ऐसी प्रक्रिया बतलायी, जो सम्पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है।

वैज्ञानिकता का अर्थ

यहाँ हम यह भी देख लें कि वैज्ञानिकता का अर्थ क्या है ? विज्ञान केवल

पदार्थ-विज्ञान या रसायनशास्त्र ही नहीं है। इनके सारे नियम मनुष्य के लिए लागू करना अवैज्ञानिक है।

एक वार वैज्ञानिकों के सामने एक 'निर्जीव' शव रखा गया और एक 'सजीव' मनुष्य लाकर खड़ा कर दिया गया और उनसे कहा गया कि इनकी परीक्षा करो, इनमें क्या अन्तर है?

कहने लगे, "इनमें कुछ भी अन्तर नहीं है। जो उसमें है, वह इसमें है।"

"सो कैसे? वह मरा हुआ है, यह जिन्दा है। दोनों में कोई अन्तर कैसे नहीं है?"

वोले—"एक प्रतिशत अन्तर है और क्या?"

अर्थात् ९९ प्रतिशत तो एक ही है!

यह एक प्रतिशत का अन्तर तुम्हें वहुत ज्यादा मालूम होता है?

लेकिन इतने में ही तो सारा अन्तर पड़ गया। मानवीय विज्ञान और पदार्थ-विज्ञान, जीव-विज्ञान और पदार्थ-विज्ञान में वहुत वड़ा अन्तर है। पदार्थ-विज्ञान वहुत कुछ पूर्णता की ओर कदम वढ़ा चुका है। पर मनोविज्ञान और मानवीय विज्ञान अभी अविकसित विज्ञान है। जितने मनोवैज्ञानिक हैं, उनमें वहुत से प्रतिवर्तनवादी हैं। परिस्थिति में से मनुष्य का जो मन वनता है, उसीके विचार तक पहुँचे हैं। परिस्थिति का परिवर्तन करनेवाला मन कैसा होता है, वह कहाँ से आता है?

मानवीय विज्ञान क्या है? मानवीय विज्ञान है—भेद का निराकरण, अभेद की स्थापना। इसी दिशा में हमें जाना है। अतः हमें इस दिशा में जो ले जायगा, वह विज्ञान है। इस दिशा में हमें जो नहीं ले जाता, वह विज्ञान नहीं है।

संघर्ष नहीं, सहयोग

मैं थोड़ी देर के लिए मान लेता हूँ कि हाँ, संघर्ष ही जीवन का नियम है। लेकिन यह नियम किसलिए है, जीवन सम्पन्न करने के लिए है या जीवन का नाश करने के लिए? अन्ततः संघर्ष में से भी तो जीवन ही सम्पन्न होना चाहिए न? जिस संघर्ष में से जीवन सम्पन्न होता है, उसे संघर्ष नाम भले ही दे दीजिये, लेकिन असल में वह सहयोग ही है।

ताश के खेल में जब तक खिलाफ खेलनेवाला नहीं होता, तब तक खेल ही पूरा नहीं होता। सरकार और विरोधी पक्ष मिलकर पार्लमेण्ट का विधान पूरा होता है। खेल में दो पक्ष होते हैं। वे परस्पर सहयोगी होते हैं। 'वे संघर्ष में खड़े हुए' कहलाते अवश्य हैं, लेकिन खेल पूरा होने के लिए वे दोनों एक-दूसरे के सहयोगी पक्ष होते हैं। आप अगर संघर्ष को इस दृष्टि से देखें, तो मुझे कोई शिकायत नहीं है।

हिंसा अनिवार्य नहीं

मार्क्सवादी क्रान्ति की व्याख्या करते हुए एक ने लिखा है—एक आकस्मिक सामाजिक उथल-पुथल, जिसमें रक्तपात अनिवार्य नहीं है।

मार्क्सवादी क्रान्ति में रक्तपात होगा ही, ऐसी बात नहीं है। यानी हिंसा अनिवार्य नहीं है। फिर इस अहिंसात्मक संघर्ष का क्या अर्थ है? यह भी विरोधाभास ही है। अहिंसात्मक भी है और संघर्ष भी है! इसका अर्थ यही है कि यह प्रतिकार सहयोगात्मक है। प्रतिकार में जिस दिन अहिंसा जोड़ दी जाती है, उस दिन प्रतिकार भी सहयोगात्मक बन जाता है। यह जो सहयोगात्मक प्रतिकार, सेवात्मक प्रतिकार होता है, इसीका नाम है 'सत्याग्रह'। सत्याग्रह की प्रक्रिया सहयोगात्मक प्रतिकार की प्रक्रिया है। जैसे खेल में दो पक्षों को मिलाकर खेल होता है। आप सारी सृष्टि को ही लीला मान लें। लीला का अर्थ यही है। लीला याने खेल। कोई स्वपक्षीय नहीं, कोई प्रतिपक्षीय नहीं। हम एक-दूसरे को परास्त करना नहीं चाहते, एक-दूसरे से सहयोग इसलिए करना चाहते हैं कि दोनों में गुणात्मक परिवर्तन हो। यही तो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है कि दोनों में गुणात्मक परिवर्तन हो। इसलिए हम कहते हैं कि सहयोगात्मक संघर्ष होगा।

अब सवाल इतना ही है कि यह संघर्ष यदृच्छा से होगा या बुद्धिपूर्वक होगा। यदृच्छा से होगा, तो मनुष्य नियति का एक अंश बन जाता है। उसमें उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। मनुष्य की मानवता ही समाप्त हो जाती है। यदि पुरुषार्थ है, तो उसमें मनुष्य की अपनी बुद्धि होनी चाहिए। इस चेतना का 'सशस्त्र क्रान्ति' में अभाव पाया जाता है। सशस्त्र क्रान्ति

की अन्तिम प्रतिष्ठा, अन्तिम शक्ति कहाँ होती है ? शेक्सपियर का दूसरा रिचर्ड कहता है न—"हमारी जो कलाई की ताकत है, वही हमारी सदसद्विवेकवुद्धि है और हमारी तलवार ही हमारा कानून है।" सशस्त्र युद्ध चाहे कैसा भी हो, अन्त में यहाँ आकर वह रुक जाता है। शस्त्र-शक्ति ही उसका मुख्य अधिष्ठान है।

शक्ति का अधिष्ठान कहाँ ?

रामदास स्वामी ने कहा, "भगवान् का अधिष्ठान हो !" लेकिन भगवान् का अधिष्ठान कहाँ हो? हृदय में हो? और हाथ में ? तलवार हो? "क्या भगवान् काफी नहीं है ?" तो कहते हैं, "नहीं, भगवान् के संरक्षण के लिए तलवार की जरूरत है।" तब तो तलवार ही बड़ी है, भगवान् तो बड़ा नहीं हुआ। और फिर जिसकी तलवार वड़ी हुई, वही भगवान् हो गया।

अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः ।

हिन्दू महासभा के जमाने में एक नेता कहा करते थे कि "आगे-आगे वेद चलेगा और पीछे-पीछे धनुष-बाण। वेद का संरक्षण करने के लिए धनुष-बाण की जरूरत है।"

तब तो वेद का प्रामाण्य ही समाप्त है। धनुष-बाण ही प्रमाण है, क्योंकि वेद तो धनुष-बाण की शरण आ गया।

दूसरे ने कहा कि "एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में कुरान।" तो फिर कुरान बड़ा है या तलवार वड़ी है ?

तीसरे ने कहा कि "एक हाथ में क्रूसेड की बन्दूक—धर्म-युद्ध की तोप और दूसरे हाथ में बाइबिल।" तो बाइबिल का स्वतः कोई मूल्य ही नहीं !

चौथा कहता है कि "कमर में कृपाण और सिर पर ग्रंथ साहब !" तो कृपाण की महिमा है।

प्रश्न यह है कि हम अंत में शक्ति का अधिष्ठान कहाँ मानते हैं। हम अपने आदर्श को श्रेष्ठ मानते हैं या बाहुबल को ? सशस्त्र क्रान्ति यहाँ आकर रुक जाती है। इसलिए सशस्त्र क्रान्ति जैसी अवैज्ञानिक और अव्यावहारिक प्रक्रिया संसार में आज दूसरी है ही नहीं। यह गांधी और मार्क्स का सवाल

नहीं है। हमें तटस्थ होकर विचार करना है और सोचना है कि आज के जागतिक संदर्भ में कौन-सी क्रान्ति वैज्ञानिक और व्यावहारिक हो सकती है।

भेद का निराकरण ही हमारी कसौटी

हमारी कसौटी क्या है? हम भेद का निराकरण करना चाहते हैं, अभेद की ओर बढ़ना चाहते हैं। यही हमारी कसौटी है। इसके अनुरूप हमारी क्रान्ति की प्रक्रिया होनी चाहिए। गांधी ने कहा, "सहयोगात्मक प्रतिकार करो।" तब यह प्रश्न उठा कि क्या प्रतिकार भी सहयोगात्मक हो सकता है? गांधी ने उसे 'हृदय-परिवर्तन' नाम दिया।

"दूसरे की बीमारी को अपनी बीमारी समझो, उसकी सेवा करो।" "बीमारी में मैं शुश्रूषा करता हूँ, इसलिए कि 'तेरा' दुःख 'मेरा' दुःख है।" समाज और संसार आज यहाँ तक पहुँच गया है।

अज्ञानी के साथ हमें सहानुभूति है। "तेरा प्रश्न मेरा प्रश्न है। तेरा अज्ञान मेरा अज्ञान है। दोनों मिलकर उसका निराकरण करेंगे।" शिक्षण और विद्या के क्षेत्र में हम यहाँ तक पहुँच गये।

गांधी कहता है; "और एक कदम आगे बढ़ो। दूसरे के अपराधों को भी अपने अपराध मानो। तुम्हारी सहृदयता, तुम्हारा तादात्म्य दूसरों के साथ यहाँ तक हो। तुम्हें अपराध में सहयोग नहीं करना है, अपराध की क्षमा भी नहीं करनी है; लेकिन जिसने अपराध किया हो, उस अपराधी को अपना दूसरा स्वरूप मान लेना है। "वह भी 'मैं हूँ', ऐसा मान लो।"

कोई सन्त ही ऐसा कर सकता था! यह करुणा की प्रक्रिया है। इस क्रान्ति में करुणा की प्रक्रिया क्यों है? इतना व्यापक हृदय भगवान् ने केवल संत को ही दिया है कि वह पापी, अपराधी और अन्यायी के लिए भी अपने हृदय में करुणा रख सके। यह संत की ही भूमिका होती है।

लेनिन का अनुभव

रूस की क्रान्ति के कुछ साल के बाद जब लेनिन की नयी आर्थिक नीति आयी, तो लोगों ने पूछा कि तुम्हारी पहली योजना तो अच्छी थी, पर तुम्हारी

यह जो नयी योजना है, उसमें समाजवाद कहीं दिखाई ही नहीं देता। उसने जवाव दिया, "हाँ, मैं जानता हूँ। इसमें समाजवाद नहीं है।"

लोगों ने पूछा, "तो तुम समाजवादी योजना क्यों नहीं वना रहे हो ?"

उसने जवाव दिया, "आज मेरी परिस्थिति नहीं है। वह संदर्भ नहीं है।"

लोगों ने चकित होकर कहा, "अरे! समाजवाद के नाम पर तुमने क्रांति की और वहुसंख्य जनता ने समाजवादी क्रांति में, कम्युनिस्ट क्रांति में, तुम्हारा साथ दिया। फिर भी तुम कहते हो कि समाजवाद की स्थापना नहीं हो सकती ?"

लेनिन ने कहा, "वहुसंख्य जनता क्रांति में शामिल होती है, पर इतने से वह साम्यवादी और समाजवादी नहीं वन जाती।"

"क्यों नहीं वन जाती ?"

उसने जवाव दिया, "क्रांति उसके स्वार्थों के अनुकूल होती है, इसलिए वहुसंख्य वर्ग क्रांतिकारी वन जाता है। प्रतिष्ठित वर्ग समाज-परिवर्तन नहीं चाहता। समाज में जो वर्ग विपन्न, दरिद्री और अप्रतिष्ठित होता है, वही समाज-परिवर्तन चाहता है।"

ब्राह्मण भला क्यों जाति-भेद का निराकरण चाहेगा ? उसका तो चरणोदक पीते हैं लोग ! चमार चाहता है जाति-निराकरण। मार्क्स ने आखिर यह क्यों कहा कि एक ही वर्ग का, श्रमजीवी किसान और मजदूरों का, ही संगठन करूँगा। ऐसा उसने इसीलिए कहा कि जो गरीव, दरिद्र और अप्रतिष्ठित वर्ग होता है, उसकी भूमिका क्रांति के लिए अनुकूल होती है। गरीव गरीवी का निराकरण करना चाहता है, पर अमीर अमीरी का निराकरण करना नहीं चाहता। इसलिए गरीवों का संगठन होता है, क्योंकि उनका स्वार्थ क्रान्ति के अनुकूल होता है।

क्रान्ति कब सफल होती है ?

वहुजन का स्वार्थ वड़ा स्वार्थ है, वह निःस्वार्थ नहीं। स्वार्थ विशाल हो जाने से व्यापक नहीं वनता। सर्वोदय वहुसंख्यावाद नहीं है। सर्वोदय का संकल्प सवके उदय का है। केवल वहुसंख्या का स्वार्थ होने से ही

वह निःस्वार्थ नहीं बन जाता। साम्यवादी घोषणा-पत्र में मार्क्स और एंगिल्स ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि बहुजनों की क्रांति तभी सफल होती है, जब बहु-जनों का स्वार्थ और सर्व-जन का स्वार्थ एक हो जाता है। बहु-जन का स्वार्थ ही जब सर्व-जन का स्वार्थ हो जाता है, तब वह ऐतिहासिक परिस्थिति प्राप्त होती है, जिस परिस्थिति में क्रांति सफल होती है।

बहुजन के स्वार्थ और बहुजन के द्वेष पर भी जो क्रांति आधार रखेगी, उसके सामने हमेशा प्रति-क्रांति की विभीषिका बनी रहेगी। आखिर प्रति-क्रांति का जन्म कहाँ से होता है? प्रति-क्रांति के बीज कहाँ होते हैं?

लेनिन ने कहा कि किसान और मजदूरों के स्वार्थ के अनुकूल मेरी क्रांति थी, इसलिए किसान और मजदूर मेरे साथ आये, लेकिन इतने से वे समाज-वादी नहीं बन गये। स्वामित्व और संपत्ति की भावना का उनके मन में से निराकरण नहीं हुआ। उन्हें समाजवादी बनाने के लिए मुझे कुछ भावरूप प्रक्रियाओं का आश्रय लेना पड़ेगा। एक शिक्षण की प्रक्रिया है और दूसरी प्रक्रिया है श्रमदान की।

लेनिन से पूछा गया, "तो समाजवादी योजना तुम्हारे पास नहीं है?"

उसने कहा, "राज्य के कानून में नहीं है।"

"संविधान में है?"

"संविधान में भी नहीं है।"

"तुम कहते हो कि कानून भी समाजवादी नहीं और संविधान भी समाज-वादी नहीं बना सकते। तो फिर तुम समाजवाद का विकास करोगे कैसे?"

उसने कहा, "मेरी योजना में एक ही समाजवादी वस्तु है, उसका नाम है—'सेबॉटनिक'। 'सेबॉटनिक' का अर्थ है, प्रति शनिवार को नागरिकों द्वारा स्वेच्छा से श्रमदान। इसीमें से आगे चलकर काम की प्रेरणा का सवाल हल होनेवाला है। नागरिकों में स्वयंप्रेरणा और स्वयंकर्तृत्व, दोनों इसीमें से जाग्रत होनेवाले हैं।"

अपराध का प्रतिकार : अपराधी को क्षमा

हमारी मूल बात यह थी कि हमारी क्रान्ति की प्रक्रिया में जो प्रेरणा होगी,

वह बहुजनों के स्वार्थों की भी न हो और द्वेष की भी न हो। क्रान्ति की प्रेरणा जब मानवीय प्रेरणा होगी, तभी वह क्रान्ति वैज्ञानिक हो सकती है, अन्यथा नहीं। मानवीय प्रेरणा सहानुभूति की प्रेरणा होती है, जिसे विनोबा ने 'करुणा की प्रेरणा' कहा है और गांधी ने 'अहिंसा की प्रेरणा' या 'प्रेम की प्रेरणा' कहा था। इसकी व्यक्तिगत भूमिका क्या है? यही कि दूसरे के अपराधों को अपना अपराध मानो। हम कहते हैं कि सन्त अपराध की क्षमा करते हैं, लेकिन गांधी ने यह नहीं कहा कि 'बुराई का प्रतिकार मत करो'। उसने हमें बुराई का अप्रतिकार नहीं सिखाया।

गांधी ने कहा, "जैसे रोग हैं, जैसी बीमारियाँ हैं, वैसे ही अपराध हैं।" हम कहते हैं कि बीमारी का प्रतिकार करो, आग का प्रतिकार करो, ज्वालामुखी का विस्फोट हो, तो मनुष्यों को हटा लो। गांधी कहते हैं कि "मनुष्य के अन्दर की बुराई का भी प्रतिकार क्यों नहीं? मेरे अन्दर भी अपराध हैं, तो दूसरे के अपराध भी मेरे अपराध हैं, इसलिए दूसरे के और मेरे, सबके, अपराधों का प्रतिकार करना है, निराकरण करना है।" दोष, त्रुटियों और अपराधों की क्षमा नहीं होती, उनका प्रतिकार ही होना चाहिए। वह धर्म भी है, कर्तव्य भी है। अपराध का प्रतिकार करना है, पर अपराधी को क्षमा करना है।

हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया

गांधी और तिलक, दोनों ने गीता पर लिखा है। तिलक ने अपने प्रतिसहयोग के सिद्धान्त का आधारभूत श्लोक माना है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (४-११) 'जो जिस भाव से मेरे पास आता है, उसी भाव से मैं उसे प्राप्त होता हूँ, उसी भाव से उसके साथ पेश आता हूँ।' इसमें से तिलक ने सिद्धान्त निकाला—**'शठं प्रति शाठ्यम्'**। अर्थात् 'जो शठभाव से आपके पास आये, उससे आप शठ ही बनिये।'

परन्तु ऐसे प्रसंग पर गांधी कहते हैं कि मनुष्य के लिए शुद्ध दया ही शुद्ध न्याय है।

क्यों? मैं जब कोई कार्य करता हूँ, तो मेरी भूमिका क्या होती है?

माँ के सामने खड़ा हूँ, तो माँ से कहता हूँ, "माँ, गलती तो हो गयी, अपने

अंचल में मुझे छिपा ले, अपनी गोद में मुझे जगह दे। गलती फिर से न हो, ऐसी शक्ति दे। तेरा प्रेम होगा, तो उस गलती से शायद आगे चलकर वच जाऊँगा।"

इसी तरह हम भगवान् से कहते हैं, "भगवन्, अवकी दफा माफ करो। हे हरि, हमारी लाज रखो। हमारी गलती निभा लो!"

अर्थात् मनुष्य अपने लिए क्षमा चाहता है, दूसरे के लिए न्याय। गांधी कहता है--"हृदय-परिवर्तन का अर्थ है अपने लिए न्याय और दूसरे के लिए क्षमा।" यह सहृदयता का, सहानुभूति का लक्षण है। दूसरे के दुःख का अनुभव करता हूँ, दूसरे के सुख का अनुभव करता हूँ, तो दूसरे के अपराधों का भी मैं अनुभव करता हूँ। याने अपराधी के लिए भी मेरे हृदय में सहानुभूति है। यह आधुनिकतम अपराध-चिकित्सा कहलाती है।

प्रश्न है कि समाज में से अपराध-निराकरण कैसे हो? आज का वैज्ञानिक कहता है कि अपराध-निराकरण की दो प्रक्रियाएँ हैं--(१) समाज में अपराध के लिए अवसर न रहे, ऐसी परिस्थिति पैदा की जाय और (२) अपराधी का उद्धार हो।

गांधी : मार्क्स का उत्तराधिकारी

गांधी इससे सिर्फ एक कदम आगे वढ़ता है। अन्याय का निराकरण होगा, अन्याय का प्रतिकार होगा और अन्यायी का उद्धार होगा। यह मानवीय प्रक्रिया है। अब इसे कोई अवैज्ञानिक कहे, तो अवैज्ञानिकता का आरोप सह लेने के लिए हम नम्र भाव से तैयार हैं। हमारे लिए मनुष्य विज्ञान से श्रेष्ठ है। यन्त्र वहुत वड़ा होगा, परन्तु यन्त्र से विज्ञान बड़ा है और मनुष्य विज्ञान से बड़ा है। हमने मनुष्य को केन्द्र में मान लिया है। हम जो परीक्षण करेंगे, वह हमेशा अपने सामने मनुष्य को केन्द्र में रखकर करेंगे। इसलिए जब मैं यह कहता हूँ कि क्रान्ति की प्रक्रिया वैज्ञानिक है, वैज्ञानिक होनी चाहिए, तो विज्ञान की आज जहाँ तक प्रगति हुई है, उस प्रगति से लाभ उठाकर वैज्ञानिक क्रांति में भी हम आगे कदम वढ़ाते हैं। यह पीछे कदम नहीं है। लोग कहते हैं कि हम घड़ी की सूइयाँ पीछे की तरफ ले जा रहे हैं। ऐसा नहीं। हम घड़ी

की सूइयाँ आगे की तरफ ले जा रहे हैं। आज घड़ी की सूई जहाँ आकर रुक गयी है, वहाँ से आगे कोई सोच नहीं सकता था। वहाँ गांधी आया और मार्क्स का उत्तराधिकारी बनकर आया। मार्क्स ने सारे मानवीय तत्त्वों का संग्रह किया। लेकिन मार्क्स का विज्ञान उसके भौतिकवाद के सिद्धान्तों के कारण पूँजीवाद की प्रतिक्रिया के रूप में आया । इसलिए वह उस प्रतिक्रिया के साथ कुछ पूँजीवाद के स्वरूप को भी लेकर आया।

मार्क्स से मेरा मतलब है—दुनिया का क्रांति-विचार। मार्क्स एक संकेत हैं। दुनिया में क्रान्तिकारी विचार जिस मुकाम पर आकर पहुँचा है, उससे आगे अब क्रान्ति का विचार मानवीय विज्ञान की दृष्टि से हमको करना है और मानवीय विज्ञान की दृष्टि से एक ऐसी प्रक्रिया की खोज करनी है कि जिस प्रक्रिया से भेद का निराकरण हो, अभेद की स्थापना हो, पर भेद के निराकरण के साथ मानव का निराकरण न हो। अगर भेद के निराकरण के साथ, बुराई के निराकरण के साथ बुरे आदमी का ही निराकरण हो जाता है, तब तो वह निराकरण ही नहीं हुआ, वह तो अज्ञान के निराकरण के साथ विद्यार्थी का ही निराकरण हो गया। बीमारी के निराकरण के साथ रोगी का ही निराकरण हो गया। यह तो कोई प्रक्रिया नहीं हुई। प्रक्रिया ऐसी चाहिए कि जिस प्रक्रिया में मानव्य की रक्षा तत्त्वतः नहीं, वस्तुतः हो। केवल मानव्य की रक्षा नहीं, अपितु मानव्य का अधिष्ठान जो मानव है, उसका भी संरक्षण होना चाहिए।

फोकनेर का संदेश

आज संसारभर के कवि और साहित्यिक भी यही विचार कर रहे हैं। याने आधुनिकतम साहित्य की प्रवृत्ति आज यही है। सन् १९४९ में विलियम फोकनेर को जब नोबेल पुरस्कार मिला, तो उसने अपने भाषण में कहा कि "संसार में अब तक सर्वत्र मनुष्य एक ही चीज की राह देख रहा है। यही कि 'कब बम गिरता है और कब मैं मरता हूँ!' इसलिए मनुष्य के व्यक्तित्व का उच्छेद हो गया है, उसका व्यक्तित्व पूरी तरह से बिखर गया है। जो डरता है, उसमें मानवता और व्यक्तित्व नहीं रह जाता है। आज सब जगह मानव डरा हुआ है। फिर भी मैंने अपना यह ग्रन्थ इसीलिए लिखा कि मैं मनुष्य

को यह आश्वासन देना चाहता हूँ कि मनुष्य कभी नष्ट होनेवाला ही नहीं है। दुनिया में चाहे प्रलय हो जाय, लेकिन मनुष्य कभी नष्ट नहीं होगा। मैं आशा का सन्देश बनकर आया हूँ। मेरा साहित्य मनुष्य का आशा-स्थल होगा। वह मनुष्य को यह आश्वासन और यह प्रत्यय दिलायेगा कि मनुष्य का संहार हरगिज नहीं हो सकता।"

यह प्रतिज्ञा ठीक है, आशा ठीक है, आश्वासन ठीक है; लेकिन प्रश्न यह है कि प्रयोग क्या होगा, प्रक्रिया क्या होगी? आश्वासन एक हो, आशा अलग हो और प्रक्रिया उसके खिलाफ हो, तो कैसे चलेगा? पर आज तो वही हो रहा है। आकांक्षा शान्ति की है, संयोजन युद्ध का है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सारी तैयारी युद्ध की भूमिका पर हो रही है। अन्न-समस्या का प्रतिकार युद्ध की भूमिका पर, आग का प्रतिकार युद्ध की भूमिका पर, बाढ़ का प्रतिकार युद्ध की भूमिका पर करने की बात कही जाती है। युद्ध का संयोजन हो, शान्ति की आकांक्षा हो, इसमें से शान्ति के अनुकूल क्रान्ति की प्रक्रिया विकसित हो नहीं सकती। और हम तो चाहते हैं कि शान्ति के अनुकूल क्रान्ति की प्रक्रिया का विकास दुनिया में हो। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह आकांक्षा है। इसलिए यही व्यावहारिक प्रक्रिया है। मानवीय विज्ञान के, याने भेद के निराकरण के और अभेद की स्थापना के अनुकूल, बुराई का निराकरण और बुरे व्यक्तियों का उद्धार—इस सांस्कृतिक मूल्य के अनुरूप यही एक प्रक्रिया हो सकती है। इसलिए यही सांस्कृतिक प्रक्रिया है, यही वैज्ञानिक प्रक्रिया भी है, और अन्तर्राष्ट्रीय भी। यह प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय इसलिए है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय आकांक्षा और ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुरूप है। वैज्ञानिक इसलिए है कि भेद का निराकरण और अभेद की स्थापना के लिए वह सबसे अधिक अनुकूल है।

वर्ग-संघर्ष का प्रश्न

अब वर्ग-संघर्ष का प्रश्न और रह जाता है। हम वर्ग-समन्वय में विश्वास करनेवाले नहीं हैं। वर्ग-समन्वय 'युष्मत्' 'अस्मत्' प्रत्यय हैं। उसका समन्वय नहीं हो सकता। 'तमः प्रकाशवत् विरुद्धस्वभावः।' गरीब गरीब रहे और अमीर अमीर रहे और दोनों समन्वय करें, यह कभी हो नहीं सकता। बकरी

बकरी रहे, शेर शेर रहे। बकरी भी शेर हो जाय और शेर भी थोड़ा-बहुत बकरी हो जाय, तो वे दोनों साथ रह सकते हैं। इसलिए वर्ग-निराकरण की आवश्यकता है। दूसरी प्रक्रिया हो ही नहीं सकती। अगर वर्ग-संघर्ष भी होगा, तो वह सहयोगात्मक होगा और यदि सहयोगात्मक होगा, तो केवल एक वर्ग के स्वार्थ का और एक वर्ग के द्वेष का संगठन आज क्रान्ति की प्रक्रिया नहीं हो सकती। एक ही वर्ग के स्वार्थ का और एक ही वर्ग के द्वेष का संगठन आसान जरूर है, क्योंकि गरीबों की भूमिका क्रांति के अनुकूल है। लेकिन आवश्यकता को जब हम अवसर में परिवर्तित कर देते हैं, विवशता जिस दिन व्रत हो जाती है, उस दिन मानवीय क्रान्ति का आरंभ होता है।

दरिद्रता आज गरीव आदमी की विवशता है। दरिद्रता को जिस दिन हम असंग्रह के व्रत में बदल देते हैं, उस दिन मानवीय क्रान्ति का आरम्भ होता है। संघर्ष कब तीव्रतर बन सकता है? जब भूखा अपनी भूख में से शक्ति प्राप्त करेगा। आज भूखे की भूख उसमें दीनता और विवशता पैदा करती है। भूखे की भूख जिस दिन उसके उपवास में या कभी-कभी भूख-हड़ताल में, परिणत हो जाती है, याने भुखमरी जिस दिन उपवास में, प्रायोपवेशन में परिणत हो जाती है, उस दिन उसमें से शक्ति पैदा होती है। विवशता को भी हम पुरुषार्थ में परिणत कर सकते हैं? तभी, जब विवशता को मनुष्य अवसर में बदल देता है। आज जो दरिद्रों की दरिद्रता है, वह उनकी विवशता है। आकांक्षा इनमें अमीरी की है और मजबूर हैं, इसलिए गरीव हैं। इस आकांक्षा को आप जब तक नहीं बदलेंगे, इनका हृदय-परिवर्तन जब तक नहीं होगा, तब तक एक वर्ग के संगठन से जो क्रान्ति होगी, वह मानवीय क्रांति नहीं होगी। इस दृष्टि से अहिंसक क्रांति में वर्ग-निराकरण तो है, लेकिन वर्ग-संघर्ष उस अर्थ में नहीं है, जिस अर्थ में लोग आज तक उसे समझते आये हैं। वर्ग-संघर्ष याने वर्ग का प्रतिकार, व्यक्तियों का प्रतिकार नहीं। व्यक्तियों का सहयोग है, मानव का सहयोग है। इसमें मानव का उद्धार है। केवल अमीरी और गरीबी का प्रतिकार है।

निष्कर्ष

तो हमने देखा कि आध्यात्मिकता का नैतिकता से क्या सम्बन्ध है? क्या इस नैतिकता की भूमिका पर क्रांति का आधार रख सकते हैं? क्या नैतिक

क्रान्ति दुनिया में कभी हो सकती है? आज तक जो क्रान्तियाँ हुईं, उन्होंने क्या नैतिकता का विचार नहीं किया? उन्होंने विचार किया। लेकिन नैतिकता को कम पाया और वैज्ञानिकता को अधिक पाया। वैज्ञानिकता को अधिक क्यों पाया? विज्ञान सार्वत्रिक, सार्वभौम है और हमारी नैतिकता साम्प्रदायिकता के कारण परिसीमित हो गयी है। इसलिए लोगों ने यह समझा कि नीति सार्वभौम नहीं हो सकती।

क्या नीति वैज्ञानिक हो सकती है? क्या नीति भी सार्वभौम हो सकती है? जितना विज्ञान सार्वभौम है, उतनी ही मानवता सार्वभौम है। तो फिर, क्या नीति सार्वभौम नहीं हो सकती? सार्वभौम नीति समाज में आज भी है, जिसे हम मानवता कहते हैं, वही सार्वभौम नीति का अधिष्ठान है।

यह व्यक्त कैसे होती है? दूसरे के दुःख में हम दुःखी होते हैं, दूसरे के सुख में हम सुखी होते हैं। हमें दूसरे के साथ प्रेम करने में आनन्द आता है। हम द्वेष का निराकरण करना चाहते हैं। द्वेष में किसीको आनन्द नहीं आता। इसलिए मनुष्य का जो आध्यात्मिक अधिष्ठान है, वही उसकी नैतिकता में अभिव्यक्त होता है। इस नैतिकता को क्या हम प्रतिकार और क्रान्ति के क्षेत्र के लिए लागू कर सकते हैं? हम अवश्य लागू कर सकते हैं। आज तक हम यहीं तक पहुँचे हैं कि हम दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझें, दूसरे की बुराई को अपनी बुराई समझें, दूसरे के अज्ञान को अपना अज्ञान समझें। गांधी कहता है कि हम इससे भी एक कदम आगे बढ़ेंगे। दूसरे के पाप को और दूसरे के अन्याय को भी अपना अन्याय समझेंगे। उसका प्रतिकार अपना कर्तव्य समझेंगे। अपने अपराध के और अपने पाप के निराकरण के लिए जो साधना हम करते हैं, वही साधना हम दूसरों के अपराध और पाप के निराकरण के लिए ही करेंगे। यह प्रक्रिया सहयोगात्मक बन जाती है। यह प्रतिकार, यह संघर्ष भी प्रेममूलक होता है और सेवात्मक होता है। प्रेममूलक और सेवात्मक प्रतिकार ही 'सत्याग्रह' कहलाता है। प्रतिकार सहयोग में परिणत हो जाता है। इस तरह से क्रान्ति की प्रक्रिया नैतिकता में से, आध्यात्मिकता में से निष्पन्न होती है।*

●●●

* विचार-शिविर, अहमदाबाद में २३-८-'५५ का प्रातः-प्रवचन।

क्रान्ति-विचार : मार्क्सवादी प्रयोग का अवलोकन : ६ :

मुझसे पूछा गया है कि मैंने यह क्यों कहा कि कार्ल मार्क्स गरीब जनता के लिए पहला मसीहा बनकर आया ?

जो लोग दलित हैं, पीड़ित हैं, शोषित हैं, उनका पहला उद्धारकर्ता था मार्क्स। उनके लिए वह पहला मसीहा बनकर आया। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि दस अवतारों के साथ एक तरह से वह ग्यारहवाँ अवतार बनकर ही आया था।

मार्क्स की विशेषता

मार्क्स को गरीबों का मसीहा कहने का मुख्य कारण यह है कि गरीबी और अमीरी का निराकरण हो सकता है, होना चाहिए और होकर ही रहेगा, यह बात किसी भी पैगंबर ने, किसी भी धर्म-प्रवर्तक ने, किसी भी ऋषि ने या अवतारी पुरुष ने कार्ल मार्क्स के पहले नहीं कही थी। यह एक ऐसी बात थी, जिसे मैं कार्ल मार्क्स की बहुत बड़ी विशेषता मानता हूँ।

सभी धर्मों में दान का आदेश है। कहा गया है कि जो दुःखी हैं, जो दरिद्री हैं, उनकी सहायता करो, मदद करो। जो कुछ तुम कमाते हो, उसमें से उन्हें दान दो। उनके दुःख का निवारण करने की कोशिश करो। राजाओं से यह भी कहा गया है कि तुम राज्यों के दान कर दो। बहुत बड़े-बड़े अमीरों से कहा गया कि तुम सर्वस्व दान कर दो। फलतः किसीने सर्वजित् यज्ञ किया, किसीने विश्वजित् यज्ञ किया। इस तरह किसीने सर्वस्व दान भी दिया। हरिश्चन्द्र राजा ने राज्य भी दिया। लेकिन हरिश्चन्द्र के दान से 'राजा' नाम की संस्था का निराकरण नहीं हुआ। इसी प्रकार बड़े-बड़े संपत्तिधारियों ने अपना सर्वस्व दान दिया, लेकिन उसके कारण विश्व से अमीरी और गरीबी के निराकरण का रास्ता नहीं मिला।

दान का आदेश सभी धर्मों में है, गरीबों के साथ सहानुभूति का आदेश सभी धर्मों में है; लेकिन अमीरी और गरीबी के निराकरण का आदेश नहीं है। मार्क्स की अपनी यह बिलकुल नयी बात थी। सबसे पहले उसने यह बात कही और उसके बाद यह कहा कि अमीर लोग यदि यह कहते हैं कि अमीरी नैसर्गिक नियमों से आयी और गरीबी भी नैसर्गिक नियमों से आयी, तो जिन नैसर्गिक नियमों के अनुसार अमीरी-गरीबी आयी, उसी सृष्टि के क्रम में यह भी नियति है कि आगे चलकर अमीरी और गरीबी का निराकरण होनेवाला है और वह उनके पुरुषार्थ से होनेवाला है, जिन्हें आज हम 'गरीब' कहते हैं। इसलिए जो दलित लोग यह समझते थे कि हमको तो उम्रभर इन्हीं अमीरों के भरोसे पर जीना पड़ेगा या तो इनकी कृपा पर या इनकी दान-वृत्ति पर निर्भर रहना पड़ेगा, उनमें नये पुरुषार्थ की प्रेरणा पैदा हुई। उनमें नयी आशा पैदा हो गयी।

इस बात को समझाने के लिए मार्क्स ने यह कहा कि "आज तक का मानव-इतिहास ही ऐसा होता आया है और इसी ऐतिहासिक घटना-क्रम में यह बात होनेवाली है। अमीरी और गरीबी भगवान् की बनायी हुई नहीं है। धर्म में उसका विधान नहीं है और यदि धर्म में विधान है, तो जिस धर्म ने अमीरी-गरीबी को मंजूर कर लिया होगा, वह गरीब के लिए तो अफीम की गोली है"। मार्क्स की यह बात मेरी बुद्धि में बहुत जँचती है।

बाइबल में लिखा है कि गरीब तो हमेशा रहेंगे ही। भगवान् ने ही गरीबी बनायी, इसलिए कि हमें दान करने के लिए मौका मिले! मान लीजिये कि मुझे बीमारों की शुश्रूषा करने का शौक है, तो किसीको इसीलिए बीमार कर दिया कि मुझे सेवा का मौका मिले! पुराने धर्मों का भाष्य जब किया गया, तो उन्होंने कहा कि "भगवान् ने गरीबी इसलिए बनायी कि हमें दान के लिए अवसर रहे।"

नये अर्थशास्त्र का निर्माण

मार्क्स ने कहा कि हमें ऐसा समाज बनाना चाहिए कि जिसमें न गरीबी रहेगी, न इस प्रकार के दान के लिए अवसर रहेगा। याने अमीरी भी नहीं

रहेगी। यह मैंने कार्ल मार्क्स की बहुत बड़ी विशेषता मानी है। उसने हमारे अर्थशास्त्र को क्रांति से संबद्ध कर दिया। उससे पहले अर्थशास्त्र था, लेकिन एक ने उसे 'स्वार्थशास्त्र' का नाम दिया और दूसरे ने 'अनर्थशास्त्र' का। मार्क्स ने खुद उसे 'सामाजिक विपत्ति का शास्त्र' कहा था। मार्क्स ने हमारे सामने एक नया अर्थशास्त्र रखा। पर, उसका यह अर्थशास्त्र अर्थशास्त्र हो नहीं सकता था। उस जमाने में अर्थशास्त्र की एक विशिष्ट परिभाषा हो गयी थी। उस परिभाषा के अनुसार मार्क्स ने जो कुछ कहा, उसका समावेश अर्थ-शास्त्र में हो ही नहीं सकता था। क्योंकि उसकी बातें क्रांतिकारी थीं और जो क्रांतिकारी शास्त्र होता है, उसका पोथी-पंडित हमेशा विरोध करते हैं।

पहले के दो प्रकार के अर्थशास्त्री

मार्क्स ने हमें एक बात यह बतायी कि ऐतिहासिक घटना-क्रम के अनुसार और सृष्टि के विकास-क्रम के अनुसार गरीबी और अमीरी संसार में आयी और अमीरी का तथा गरीबी का, दोनों का, निराकरण अवश्य होनेवाला है। और वह गरीब के पुरुषार्थ से होनेवाला है। इसे मैंने 'वर्ग-संघर्ष' कहा था, 'एक वर्ग का संगठन' कहा था। दूसरी एक और बात उसने हमारे सामने रखी, जो अर्थशास्त्र की बात थी। उसने अर्थशास्त्र में कुछ क्रान्तिकारी तत्त्वों का समावेश किया। उसके पहले दो तरह के अर्थशास्त्री थे। एक तो थे—पुराण-मतवादी, जिन्हें लोग 'जीर्णमतवादी' कहते हैं और कम्युनिस्ट, जिन्हें 'बुर्ज्वा' कहते हैं। याने वे हैं—पूँजीवादी अर्थशास्त्री। उनके बाद के कुछ 'क्लासिकल' (अधिमानित) अर्थशास्त्री कहलाते हैं। मार्क्स ने उनको अशिष्ट (वलगर) अर्थशास्त्री कहा। ये बहुत स्थूल अर्थशास्त्री हैं। पहले अर्थशास्त्रियों में एडम् स्मिथ और रिकार्डो आते हैं। एक सिद्धान्त है—श्रममूल्य का। याने श्रम ही मूल्य है। परिश्रम ही वास्तविक आर्थिक मूल्य है। दूसरा है—'धन वह है, जिसके बदले में कुछ मिल सके।' जिसके बदले में कुछ मिलता है, वह संपत्ति है और जिसके बदले में कुछ नहीं मिलता, वह संपत्ति नहीं है। या तो संपत्ति के बदले में हमको पैसा मिले या संपत्ति के बदले में दूसरी कोई चीज मिले। लेकिन जिसके बदले में कुछ नहीं मिलता है, वह संपत्ति नहीं है। यह कितना

अनर्थकारी सिद्धान्त था, यह समझाने की आवश्यकता नहीं है। रूसो और टॉल्स्टॉय ने इसका काफी मजाक उड़ाया है। उन्होंने कहा कि यह खूब कहा। हवा के बदले में कुछ नहीं मिलता, तो हवा का कोई मूल्य नहीं है! पानी अगर मुफ्त मिल जाय, तो उसका कोई मूल्य ही नहीं है? एक लेखक ने यहाँ तक लिखा है कि अब ब्रैण्डी की बोतल बाइबल से महँगी मिलती है, इसलिए उसका मूल्य बड़ा हो गया! जिसकी कोई कीमत नहीं लगती, उसका कोई मूल्य नहीं, जिसके बदले में कुछ मिलता है, उसीका मूल्य है। यह विनिमय का सिद्धान्त बहुत गलत सिद्धान्त माना गया। हर वस्तु या तो बिक्री के लिए बनेगी या विनिमय के लिए बनेगी। अर्थात् विनिमय के लिए उत्पादन और विक्रय के लिए उत्पादन, यही इसका परिणाम निकला।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत निकाला। उसने पुराने अधिमानित अर्थशास्त्रीय (क्लासिकल) श्रममूल्य के सिद्धान्त को मान लिया। लेकिन उस रूप में नहीं, जिस रूप में अधिमानित अर्थशास्त्री (क्लासिकल) मानते थे। उस रूप में वह मान भी नहीं सकता था, क्योंकि वह तो क्रान्तिकारी था। क्रान्ति के लिए उसने पुराने अर्थशास्त्रियों का श्रम ही मूल्य है, यह सिद्धान्त मान लिया। लेकिन उसने कहा कि श्रम का जो मूल्य है, उसका आज तक बदला नहीं मिलता है। श्रम मैं करूँ, लेकिन मेरी गुलामी में मुझे जिन्दा रखने के लिए जितना बदला मिलने की जरूरत है, सिर्फ उतना ही बदला मुझे मिलता है।

शोषण कैसे होता है ?

किसान है, उसका बैल है। बैल किराये की गाड़ी में चलता है। उसे तीन रुपये रोज किराया मिलता है। तीन रुपये रोज में से ढाई रुपये रोज की कम-से-कम मेहनत है। पर बैल को जिन्दा रखने के लिए जितना जरूरी है, उतना ही सिर्फ खिलाता है! निर्वाह के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही बैल को देता है और बैल की मेहनत का बचा हुआ सारा फल किसान ले लेता है। यह 'शोषण' कहलाता है।

शास्त्र में 'शोषण' इसे कहते हैं। अर्थशास्त्र में मार्क्स ने 'शोषण' नाम से जिसकी तरफ अंगुलि-निर्देश किया, वह शोषण यही है कि एक आदमी की मेहनत का पूरा बदला उसको नहीं मिलता। इसका परिणाम होता है—१०० में से ९० आदमियों के लिए काम ही काम और १०० में से १० आदमियों के लिए आराम ही आराम! फलतः एक ऐसा समाज बनता है, जिसमें १०० में से ९० आदमियों के लिए काम, एक विवशता, एक आवश्यकता हो जाती है और १० आदमियों के लिए आराम एकाधिकार हो जाता है। वे आरामतलब होते हैं, आराम पर ही जीनेवाले होते हैं, आराम-जीवी होते हैं, विश्राम-जीवी होते हैं और बाकी लोग श्रम-जीवी होते हैं। श्रम-जीवी और विश्राम-जीवी, दो वर्ग बन जाते हैं। १०० में से १० विश्राम-जीवी, १०० में से ९० श्रम-जीवी—इस प्रकार इन दोनों के वर्ग हो जाते हैं। यह अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मार्क्स का सिद्धान्त कहलाता है।

हराम की कमाई

मार्क्स के अर्थशास्त्र ने हमें यहाँ तक पहुँचाया। यह बहुत बड़ा क्रांतिकारी सिद्धान्त था। उससे पूछा गया कि "क्या इसका मतलब तुम यों करते हो कि मनुष्य जो कुछ कमाता है, उस पर उसका अधिकार नहीं?" मार्क्स ने जवाब दिया, "ऐसा मैं कहाँ कहता हूँ? मैं तो यह कहता हूँ कि बगैर मेहनत की जो कमाई है, उस पर मनुष्य का अधिकार नहीं"—अर्थात् हलाल की कमाई पर मनुष्य का अधिकार है, हराम की कमाई पर नहीं। हराम की कमाई से मतलब है वह कमाई, जो मनुष्य को अपनी मेहनत से नहीं मिलती है, दूसरों की मेहनत से मिलती है। मार्क्स की परिभाषा में यह 'अनर्जित सम्पत्ति' कहलाती है। इस पर मनुष्य का अधिकार नहीं है।

कम्युनिस्ट-घोषणापत्र में कहा गया है कि "अपनी मेहनत से मनुष्य जो कमाता है, उस पर उसका अधिकार है और उसी पर उसका अधिकार होना चाहिए।" उसमें यह भी कहा गया है कि "हम सारी संपत्ति का निराकरण करना चाहते हैं, ऐसा कोई न समझे। हम केवल उस सम्पत्ति का निराकरण चाहते हैं, जो मनुष्य ने अपने परिश्रम से प्राप्त नहीं की है। उस सम्पत्ति का निराकरण

हम नहीं चाहते, जो मनुष्य को अपनी मेहनत से, अपने परिश्रम से प्राप्त हुई है।"

जितनी ताकत, उतना काम

हमें इससे भी आगे बढ़ना होगा, क्योंकि समाजवाद का एक दूसरा भी सिद्धान्त है। वह यह कि 'परिश्रम तो उतना करूँ, जितनी मुझमें क्षमता है, और परिश्रम का प्रतिमूल्य उतना ही लूँ, जितनी मेरी आवश्यकता है।' आसान शब्दों में, **'जितनी ताकत उतना काम, जितनी जरूरत उतना दाम।'** यह समाजवाद का एक बहुत बड़ा सूत्र है, जिसे मैं 'क्रांतिकारी अर्थनीति' कहता हूँ। 'मुझमें जितनी क्षमता और योग्यता है, उतना काम मैं करूँ, और जितनी मेरी आवश्यकता है, उतना ही मैं उसका प्रतिमूल्य लूँ।' अब आप यदि यह कहते हैं, 'जो मेरी मेहनत की कमाई है, उस पर मेरा हक है।' तो फिर 'जितनी मेरी क्षमता है, उतना काम मैं करूँ और जितनी मेरी आवश्यकता है, उतना ही मैं प्रतिमूल्य लूँ', इससे यह सिद्धान्त ठीक-ठीक मेल नहीं खाता। इसमें से समाजवादी रचना की अन्तर्विरोधी समस्याएँ पैदा हुईं।

प्रतिद्वन्द्विता का हल

सबसे पहली समस्या यह पैदा हुई कि 'जितनी जरूरत है, यदि तुम उतने ही दाम दोगे, तो मैं जितनी जरूरत है, उतना ही काम करूँगा। जितनी शक्ति और क्षमता है, उतना काम मैं क्यों करूँ?' प्रेरणा का सवाल उठा। रूस में भी आर्थिक प्रयोग हुए और चीन में भी। उनमें एक बात निकली कि प्रतिद्वंद्विता नहीं होनी चाहिए। होड़ बुरी चीज है। हरएक को काम के मुताबिक ही दाम दिया जाय, तो बड़ी प्रतियोगिता होगी, बड़ी मुश्किल होगी। यह सब नहीं होना चाहिए। जब यह सवाल आया, तो रास्ता खोजा गया। मैं उसे समझौता कहता हूँ। समझौता और चीज है, समन्वय बिलकुल और चीज है। समन्वय का मतलब समझौता नहीं है। समझौता दो विरोधी विचारों में होता है। मैंने कुछ छोड़ दिया, आपने कुछ छोड़ दिया। अक्सर कुछ आवश्यक भाग मैं छोड़ देता हूँ, कुछ आवश्यक भाग आप छोड़ देते हैं। दोनों के अनावश्यक भाग मिल जाते हैं, लोग इसे 'समझौता' कहते हैं।

समाजवादी परिस्पर्धा

हमारी परिस्थिति कैसी है और परिस्थिति में कितना कदम हम उठा सकते हैं, यह सवाल रूस के सामने आया। स्टालिन ने इसमें से एक दूसरी बात निकाली। उसने कहा कि हम प्रतियोगिता छोड़ दें। हमारे यहाँ प्रतियोगिता नहीं, प्रतिस्पर्धा नहीं, समाजवादी परिस्पर्धा होगी। प्रतिस्पर्धा में क्या होता है ? मैं नारायण को अपने से आगे नहीं जाने देना चाहता हूँ। नारायण आगे जाता है, तो उसकी टाँग तोड़ सकूँ, तो अच्छा ही है, न तोड़ सकूँ, तो ऐसा उपाय काम में लाना चाहता हूँ कि जिससे मैं आगे बढ़ूँ और नारायण पीछे रह जाय। यह होड़, प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता कहलाती है। यह पूँजीवाद का सिद्धान्त है। परिस्पर्धा क्या है ? मैं, नारायण और प्रबोध, इन तीनों में प्रबोध सबसे सुन्दर अक्षर लिखता है, तो मैं और नारायण, दोनों प्रबोध की बराबरी करने की कोशिश करते हैं। जो उत्कृष्ट है, सबसे अच्छा है, उसकी बराबरी करने की कोशिश बाकी सब करें, यह समाजवादी परिस्पर्धा कहलाती है। तो रूस ने परिस्पर्धा का सिद्धान्त मंजूर किया। इसका प्रतिनिधि 'स्टेकेनाव' हुआ। लेकिन उसमें से सिद्धान्त क्या निकला ? वही सिद्धान्त निकला, जिसका डर था। दाम के लिए काम करने की जो गुलामी थी, वह तो गयी; लेकिन उसकी जगह आया, जैसा और जितना काम, वैसा और उतना दाम ! काम के मुताबिक दाम। यह बीच की परिस्थिति आयी। रूस और चीन में भी आज जो प्रयोग हो रहे हैं, वे इसी सिद्धान्त को लेकर हो रहे हैं।

अब सवाल है कि इससे आगे हम समाजवादी प्रेरणा की ओर कैसे कदम बढ़ायें ?

अगला कदम : श्रम हमारा कर्तव्य

पूँजीवाद में क्या था ?—कम-से-कम काम, ज्यादा-से-ज्यादा दाम। इससे तो वे आगे चले गये। जितनी ताकत उतना काम, जितनी जरूरत उतना दाम, यह हुआ समाजवाद का सिद्धान्त। उसे वे समाजवाद में अभी विशेष चरितार्थ नहीं कर सके। इसलिए समाजवाद के आदर्श एक कदम पीछे,

पूँजीवाद की पद्धति से दो कदम आगे, ऐसे मुकाम पर आकर वे लोग पहुँचे हैं। इसका मुख्य कारण यह था कि उस सिद्धान्त में थोड़ी-सी त्रुटि रह गयी थी। उन्होंने सिद्धान्त माना कि श्रम तो मूल्य है और अतिरिक्त श्रम का मूल्य जो ले लेता है, वह 'शोषण' करता है। इसलिए शोषण के निराकरण के लिए श्रम के अतिरिक्त मूल्य का परिहरण होना चाहिए। वह किसीको नहीं मिलना चाहिए, उसका निराकरण होना चाहिए। लेकिन क्या श्रम ऐसा मूल्य रहेगा कि जिसका प्रतिमूल्य उस व्यक्ति को मिलना चाहिए ? अपनी मेहनत की कमाई पर भी क्या मनुष्य का हक होगा ? यहाँ हमारा सुझाव यह है कि श्रम भी प्रतिमूल्य के लिए नहीं होगा। श्रम हमारा कर्तव्य होगा और श्रम का फल सारे समाज का होगा। गांधी ने इसे 'शरीर-श्रम' का व्रत कहा। फ्रेंच सोशलिस्ट सेन्ट सायमन ने कहा कि हमारा परिश्रम ही हमारा चारित्र्य होगा, हमारा परिश्रम ही हमारा गुण होगा। भगवद्गीता के शब्दों में हरएक का विशिष्ट धर्म ही हरएक का स्वधर्म होगा।

हमें देखना है कि उत्पादक परिश्रम सामाजिक मूल्य कब बनेगा ? जब परिश्रम मेरा व्रत होगा और परिश्रम के फल पर मेरा अधिकार नहीं होगा, याने उत्पादक का भी अधिकार नहीं होगा, उस पर सारे समाज का अधिकार होगा। याने यदि हम श्रम के मूल्य में एक कदम आगे बढ़ाते हैं, तो समाजवाद का वह जो आदर्श था कि जितनी क्षमता होगी, उतना तो मैं काम करूँगा और जितनी आवश्यकता होगी, उतना दाम लूँगा—उसमें और श्रम-मूल्य के सिद्धान्त में जो एक विरोध-सा मालूम होता है, उसका हम समाज में से निराकरण कर सकेंगे।

निष्कर्ष

मार्क्स ने हमें क्या सिखाया ? उसने समाज को कौन-सी ऐसी बात दी, जिसे हम 'क्रान्तिकारी' कह सकते हैं ? उसने हमें सबसे पहली बात यह दी कि गरीबी और अमीरी भगवान् की बनायी हुई नहीं है। गरीबी और अमीरी धर्म नहीं हो सकता और अगर वह धर्म है, तो उस धर्म को भी हमें नशा मान लेना चाहिए। उस धर्म को हमें गलत मान लेना चाहिए। गरीबी और अमीरी

जिस विकास-क्रम में आ गयीं, उसी विकास-क्रम में सृष्टि के नियमों के अनुसार और ऐतिहासिक घटनाक्रम के अनुसार उनका निराकरण होनेवाला है और गरीबों के पुरुषार्थ से होनेवाला है। यह एक बहुत बड़ा आशापूर्ण संदेश मार्क्स ने हमें दिया। इस गरीबी और अमीरी के निराकरण के लिए एक नये क्रान्तिकारी अर्थशास्त्र का भी उसने उपक्रम किया। मार्क्स ने हमारे सामने इस नये क्रान्तिकारी अर्थशास्त्र के दो पहलू रखे। एक तो यह कि मनुष्य की जीविका के साथ उसके जीवन में भी बहुत बड़ा परिवर्तन होता चला जाता है। लोगों ने यह मान लिया है कि केवल जीवका से ही परिवर्तन होता है। यह मार्क्स का पूरा कहना नहीं है। लेकिन यह सबने माना है कि मनुष्य की जैसी जीविका होती है, वैसे ही उसके संस्कार बनते हैं और वैसा ही उसका जीवन बनता है। इसलिए जीविका के उपार्जन की पद्धति में जब परिवर्तन होता है, तब क्रांति होती है। जीविका के उपार्जन की पद्धति में जो परिवर्तन होता है, वह परिवर्तन मनुष्य करेगा। लेकिन, 'पूँजीवाद में से वह परिवर्तन किस सिद्धान्तों को लेकर होगा ?' तो उसने यह कहा कि केवल प्रतिमूल्य के लिए जो संपत्ति होती है, उसे संपत्ति मानना गलत है। श्रम ही मनुष्य की संपत्ति है, क्योंकि श्रम से संपत्ति का निर्माण होता है। श्रम यदि संपत्ति है, तो श्रम का प्रतिमूल्य मनुष्य को मिलना चाहिए। जो श्रम करता है, उसे उसका प्रतिमूल्य मिलना चाहिए। लेकिन आज क्या होता है ? श्रम एक करता है और श्रम का पूरा-पूरा प्रतिमूल्य उसको नहीं मिलता। 'अतिरिक्त मूल्य' उसमें से निकलता है और जो अतिरिक्त मूल्य है, वह मालिक ले जाता है, इसलिए 'शोषण' होता है। इस शोषण के निराकरण के लिए इस अतिरिक्त मूल्य को मालिक के कब्जे में, मालिक की जेब में नहीं जाने देना चाहिए। इस प्रकार की क्रान्ति हमें करनी होगी। यह विचार मार्क्स ने हमें दिया।

मार्क्स के और समाजवाद के विचार में एक बात यह भी थी कि जितनी ताकत हो, उतना काम करो और जितनी जरूरत हो, उतना दाम लो। जरूरत के अनुसार ही दाम यदि मुझे लेने हैं, तो मेरी मेहनत का पूरा प्रतिमूल्य मझे मिलना चाहिए। हम इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सकते। तब क्या

सिद्धान्त होगा? मेहनत मेरा व्रत होगा, मेरा कर्तव्य होगा और मेहनत के प्रतिमूल्य का समाजीकरण हो जायगा। अब कोई उसे राष्ट्रीयकरण कहेगा, कोई उसे समाजीकरण कहेगा। आप उसे चाहे जो नाम दें, विनोबा जैसा मनुष्य कहेगा कि 'संपति सब रघुपति कै आही।' हमारी मेहनत का जो कुछ फल होगा, वह भगवान् का समझा जाय, वह रघुपति का समझा जाय। मेहनत करनेवाले का भी न समझा जाय। इसे गांधी ने 'उत्पादक शरीर-श्रम' का व्रत कहा है।*

• • •

* विचार-शिविर, २३-८-'५५ का सायं-प्रवचन।

सर्वोदय और साम्यवाद : ७ :

आप सब लोग मेरे साथ यह अनुभव करते होंगे कि दिनकर भाई यहाँ आये, यह हमारे लिए बहुत अच्छी बात हुई। बौद्धिक औदार्य हम सर्वोदय के विचारकों में बहुत कम है। आप यह न समझें कि दादा धर्माधिकारी को मैं उनसे अलग कर रहा हूँ। सर्वोदय के सिद्धान्त में, सर्वोदय के विचार में बौद्धिक प्रामाणिकता का यह सबसे बड़ा लक्षण है कि जितनी निष्ठा बढ़ती जाय, उतना आग्रह कम होता चला जाय। विचार-पद्धति की भी एक आसक्ति होती है। वह कम होती चली जाती है, सत्य की निष्ठा बढ़ती चली जाती है। लोगों ने यह मान लिया था कि अब दुनिया में यही दो प्रतिमल्ल रह गये हैं—एक साम्यवादी और दूसरे गांधी के ये सत्याग्रहवादी लोग ! इनमें से किसी एक ने दूसरे को परास्त कर दिया, तो बाकी के तो सब पहले से ही परास्त हो चुके हैं।

यहाँ हम सह-विचार के लिए आये हैं, कुश्ती के लिए नहीं। इस दृष्टि से मैं उनका बहुत उपकार मानता हूँ।

साम्यवाद का प्रश्न

दिनकर भाई ने यहाँ तक हमें पहुँचाया है कि बगैर कशमकश के यदि परिवर्तन हो जाय, तो इससे अच्छी चीज और कोई हो नहीं सकती। अगर मिश्री से हमारी खाँसी मिट जाती है, तो फिटकरी की जरूरत नहीं है। फिटकरी हमें खानी पड़ेगी या नहीं, यह हमारी और उनकी निर्णय-शक्ति का और निरीक्षण-शक्ति का भेद है। इसका निर्णय किसी प्रयोगशाला में नहीं हो सकता। इसकी एक ही प्रयोगशाला है। क्रांति की प्रक्रिया और सामाजिक जीवन। वहीं पर इसका निर्णय होगा। पूँजीवाद ने रक्त चूस लिया और जो मानवता के छूँछ फेंक दिये हैं, वही आज हमारा साधन है, वही सामग्री है। लेकिन नयी क्रान्ति के लिए नये मानवों का निर्माण कैसे हो ? जैसे आम आप पाल में पका लेते हैं, वैसे आदमी नहीं पकाये जा सकते। उन्हें क्रान्ति के ही क्षेत्र में आना होता है, वहाँ प्रयोग करने होते हैं, उसीमें से मनुष्य तैयार होते हैं। यहाँ तक हमें

लाकर दिनकर भाई ने इतना कहा कि अगर यह हो सकता है, तो वांछनीय है, इष्ट है। लेकिन तुम कहो कि हिंसा निषिद्ध है, तो उतना हम मानने को तैयार नहीं। कम-से-कम तुम उसे 'आपद्धर्म' के रूप में तो मानो। जैसे, सर्जन मुझसे कहता है कि "दादा, इस वक्त तू अगर उँगली कटवा लेता है, तो तेरा पैर वचता है, इस वक्त तू उँगली अगर नहीं कटवायेगा, तो आगे पैर ही काटना पड़ेगा और फिर शरीर ही काट लेना पड़ेगा। इसलिए उँगली काटने का मौका या तो आज है या फिर कभी नहीं है। तो अव वता, नश्तर लगाऊँ या न लगाऊँ ?" हमारे सामने साम्यवाद का यह सवाल है। इस सवाल का जवाब दलील से नहीं दिया जा सकता, शास्त्रार्थ से नहीं दिया जा सकता, प्रयोग से ही दिया जा सकता है।

क्रान्ति की प्रक्रिया कैसी हो ?

क्रान्ति कृत्रिम रूप से नहीं हो सकती। वह किसी पर लादी नहीं जा सकती। मार्क्स ने हमें एक वात सिखा दी कि जिसका स्वार्थ क्रान्ति के अनुकूल होता है, उसका संगठन यदि कर लो, तो क्रान्ति की प्रक्रिया स्वाभाविक और सुलभ हो जाती है। जो गरीब हैं, जो श्रम-जीवी हैं, उन्हें गरीबी का निराकरण करना है। इसलिए उनका संगठन कर लो। इसमें मैंने एक ही बात जोड़ी थी कि गरीव के पुरुषार्थ की प्रेरणा में, उसकी चेतना में, क्रान्तिकारी तत्त्वों का भी समावेश हम कर सकें। क्रान्ति की प्रक्रिया में ही ऐसी योजना होनी चाहिए कि जो क्रांतिकारी हो, उसकी चेतना में क्रान्ति के मूल्यों की प्रेरणा हो। क्रांतिकारी पक्ष का तो हृदय-परिवर्तन पहले से होना चाहिए। लेनिन का ही हृदय-परिवर्तन न हुआ होता, तो क्या वह क्रांति करता ? क्रांतिकारी का अपना हृदय-परिवर्तन और मत-परिवर्तन हो ही जाता है। जिसका हृदय-परिवर्तन और मत-परिवर्तन हो चुका है, वह 'क्रांतिकारी पक्ष' कहलाता है। अब मेरा कहना यही है कि जिस जनता के लिए और जिस साधारण नागरिक की तरफ से हम क्रांति करते हैं, क्रांति की प्रक्रिया में ही कोई ऐसी योजना हो कि उस साधारण नागरिक का हृदय-परिवर्तन भी साथ-साथ होता चला जाय। पुरुषार्थ की इस प्रेरणा के साथ-साथ ही उसमें यह नवचेतना भी आती चली जाय।

अहिंसा और विवशता

दिनकर भाई ने कहा कि विवशता में से यदि आप अहिंसा का रास्ता लेंगे, तो वह पहले से ही दूषित हो गया। बात तो ठीक है। शस्त्र होते तो? उत्तम पक्ष शस्त्र माना जाता। नहीं है, इसलिए निःशस्त्र प्रतिकार। तो यह आपकी अहिंसा ही गौण हो गयी। आपका सत्याग्रह ही गौण हो गया। वे कहते हैं कि प्रतिपक्षी के पास शस्त्रास्त्र हैं, सेना है, जनता के पास नहीं है, इसलिए हम विवश हैं। और, जो विवश हैं, कमजोर हैं, उनका हथियार यदि अहिंसा बन जाय, तो अहिंसा में आगे चलकर कभी भी कोई शक्ति नहीं आ सकती। गांधी जिसे कमजोरों की अहिंसा कहा करता था, उसमें क्रांतिकारी शक्ति नहीं आ सकती। मैं दिनकर भाई की बात अपनी भाषा में रख रहा हूँ। इसका निराकरण मैंने यह रखा कि मनुष्य की जो विवशता होती है, उस विवशता को वह जब अवसर में बदल देता है, तब उसमें क्रान्ति की चेतना आती है।

हिंसा का समर्थन कोई नहीं करता

जो लोग शस्त्र को निषिद्ध नहीं मानते, सशस्त्र क्रांति को जिन्होंने निषिद्ध नहीं माना है, ऐसे लोगों ने एक परिस्थिति में शस्त्र को या हिंसा को अनिवार्य भले ही मान लिया हो, लेकिन आज की दुनिया में शस्त्र को और हिंसा को वांछनीय तो कोई भी नहीं मानता। वे कहते हैं कि हिंसा कभी-कभी आवश्यक हो जाती है, भले ही वह अपने में अनिष्ट हो। अहिंसा से काम यदि हो सके, तो इष्ट है, वांछनीय है; नहीं हो सकता, तो हम यह नहीं करेंगे कि हम अपना उद्देश्य ही छोड़ दें और चुप बैठे रहें तथा समय चूक जायें। मैं समझता हूँ कि हमको ऐसे लोगों से विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं है। दुनिया में हिंसावादी कोई नहीं होता। जो हिंसा से काम लेता है, वह अपने काम के लिए हिंसा की आवश्यकता मानता है और यह भी मानता है कि वह कम-से-कम हिंसा करेगा। जहाँ-जहाँ मनुष्य ने हिंसा की है,—मैं सिर्फ साम्यवादी, समाजवादियों की बात नहीं कहता—अत्याचारी-से-अत्याचारी मनुष्य भी हिंसा का समर्थन इसी आधार पर किया करता है कि परिस्थिति में जितनी कम-से-कम

हिंसा मैं कर सका, उतनी मैंने की है। यानी इस सिद्धान्त को वह मानता है कि हिंसा कम-से-कम करनी चाहिए। इससे क्या सिद्धांत निकला? यही कि हिंसा के विना काम कर सकूँ, तो उत्तम है; पर यदि हिंसा करनी ही पड़ी, तो कम-से-कम करूँगा। अर्थात् जहाँ तक हो सके, हिंसा से हमको बचना है। इसलिए मैंने कहा कि ऐसी हालत में, क्रांति की यदि हम कोई ऐसी प्रक्रिया खोज सकें कि जो शस्त्र-निरपेक्ष हो सके, तो वह अधिक वांछनीय, अधिक शास्त्रीय और आज की परिस्थिति में अधिक अनुकूल प्रक्रिया होगी।

विवशता अवसर में बदलें

मानव-प्रकृति के अनुकूल, अपने सामाजिक आदर्शों के अनुकूल और आज की सामाजिक आकांक्षा के अनुकूल हम निःशस्त्रीकरण चाहते हैं, दुनिया से शस्त्र की सत्ता का अंत हम कर देना चाहते हैं, इसलिए हम विवशता को अवसर में परिणत कर देना चाहते हैं। गांधी ने यह वात इस देश में करने की कोशिश की। चाहे बौद्धिक भय हो, चाहे वैचारिक भय हो, चाहे भावनात्मक भय हो, भय जहाँ पर आता है, वहाँ किसी प्रकार की अहिंसा नहीं रह सकती। सद्विचार तो वहाँ बिलकुल नहीं रह सकता। शारीरिक भय संस्कार से आता है। धम्म से अगर यहाँ बंदूक वज जाय और गोली चले, तो हम सब अपने-आप सिहर जायेंगे, मन से चाहे भले ही डरे न हों। इतना भय तो मानने को मैं भी तैयार हूँ। लेकिन यदि हमारी बुद्धि में अपने और दूसरे के विचार के बारे में कहीं भय छिपा हो, तो वह हमारी सारी क्रांति की प्रक्रिया को ही दूषित कर देगा।

गांधी ने क्या किया? देश का निःशस्त्रीकरण हो गया था। हमारे हाथों में हथियार नहीं थे। सशस्त्र क्रांतिवादियों ने कहा कि बगैर हथियारों के क्रांति नहीं हो सकती। अंग्रेजी फौज में बगावत भी नहीं हो सकती। अतः सशस्त्र क्रांति की सारी चेष्टाएँ आतंकवाद में खो गयीं। किसी भी क्रांति में, कम्युनिस्ट क्रांति में भी, आतंकवाद क्रांतिकारी नहीं माना गया है। वैज्ञानिक क्रांति की प्रक्रिया में आतंकवाद का कोई स्थान नहीं होता। हमारे यहाँ के जो सशस्त्र क्रांतिकारी थे, वे तो आतंकवादी बन गये और वे दूसरे दरबारी क्रांतिकारी

माने गये, जो विधानवादी थे। 'समझाओ और मधुर युक्तिवाद करो', यह विधानवादियों का सिद्धान्त था। ऐसे वक्त, जनता को जब विवशता का अनुभव हो रहा था, गांधी आया और उसने कहा, "मेरी बात मानोगे ?" अब लोग क्या करें? दूसरा कोई रास्ता ही नहीं था। कहा, "मानने को तैयार हैं।"

"अहिंसक बनोगे ?"

अहिंसा के भी हमने मानो खाने बना लिये थे। जब हम मछलियाँ चुगाते हैं, तब अहिंसा के खाने में चले जाते हैं। लेकिन अहिंसावादी होते हुए भी आदमियों का बाजार में बैठकर शोषण करते हैं, तो वाणिज्य के खाने में चले जाते हैं। गोल्डस्मिथ ने गाया था—ईमान वहाँ पर खतम हो जाता है, जहाँ व्यापार बहुत दिनों तक फैलता है।

हम लोगों को यह आदत थी। गांधी से कहा कि तुम स्वराज्य की लड़ाई की हद तक हमसे अगर 'अहिंसा' कराना चाहते हो, तो ठीक है। अंग्रेजों के लिए अहिंसा हम मानते हैं। इतनी अहिंसा का स्वीकार हमने गांधी के जमाने में किया।

हमें जितनी अहिंसा सधी, उतनी सफलता मिली। अंग्रेजों को हमने अहिंसा से ही जीता, यह दावा किसीका नहीं है। कोई कहता है, जागतिक परिस्थिति पैदा हुई, ऐतिहासिक घटना-चक्र इस तरह से आया। यह सब हम मान लेते हैं। लेकिन जितना कुछ अहिंसा का अंश हमारे जीवन में आ सका, उतनी ही सफलता मिली, उससे अधिक नहीं।

निर्भयता की युक्ति

गांधी ने हमसे कहा कि भाई, तुम्हारे पास हथियार तो है नहीं, और तुम यह कहते हो कि अंग्रेजों की फौज में भी हम बगावत नहीं करा सकते, असल में फौज तो अंग्रेजों की है नहीं, फौज तो हमारी है। भारतवासियों की फौज, भारतवासियों का पैसा, भारतवासियों के हथियार और भारतवासियों की ही गरदन—यह अंग्रेजों का हिसाब था। हाथ भी हमारे, हथियार भी हमारे और कटनेवाली गरदन भी हमारी, हथियार खरीदनेवाले पैसे भी हमारे! इससे अधिक सस्ता राज दुनिया में होगा कहाँ ? फिर भी उस सेना में हम

बगावत कर सकते हैं, ऐसा नहीं पाया गया, तो मेरे पास एक युक्ति है। जिसके हाथ में हथियार नहीं हैं, वह अगर हथियार से डरना छोड़ दे, तो हथियार बेकार हो जाते हैं। हथियारों का प्रतिकार करने के लिए दो ही उपाय हैं—एक आकारात्मक और दूसरा गुणात्मक। एक तो हमारे पास जो हथियार हों, वे गुण में और परिणाम में श्रेष्ठ हों या फिर हमारे पास जो शक्ति हो, वह गुण में अधिक हो, श्रेष्ठ हो। जो शक्ति हमारे पास हो, वह प्रतिपक्षी की शक्ति से श्रेष्ठ हो या फिर प्रतिपक्षी की शक्ति को ही हम अपनी शक्ति बना सकें। जनता के पास सरकार से ज्यादा और अच्छे हथियार होंगे, यह तो हो नहीं सकता। तो फिर सरकार के जो हथियार हैं और सरकार की जो फौज है, वही जनता की फौज है, इसलिए उसे अपनी तरफ मिला लो। यह प्रक्रिया 'सशस्त्र क्रांति की प्रक्रिया' कहलाती है। गांधी ने कहा कि आखिर इसका मतलब तो यह हुआ कि भरोसा हमारा हथियार की शक्ति पर रहा। हथियार की शक्ति का प्रतिकार करने की कोई हथियार से श्रेयस्कर शक्ति हमारे पास नहीं आयी। इसका मतलब होगा कि शस्त्र-शक्ति का कोई नैतिक पर्याय हम नहीं खोज सके और उसका प्रयोग अपने जीवन में नहीं कर सके। प्रश्न है कि फिर हम आरंभ कहाँ से करें?

आरंभ कैसे करें?

गांधी ने कहा कि शस्त्र से डरना छोड़ देने से इसका आरंभ होगा। जिसके हाथ में शस्त्र नहीं है और जो शस्त्र से नहीं डरता, उसकी सिर्फ जान ही ली जा सकती है और जान तो चाकू से भी ली जा सकती है। फिर उसके लिए मशीनगन की क्या जरूरत है? जब निःशस्त्र व्यक्ति कहता है कि तू मेरी जान ले ले, तो वह जान लेने से घबराता है! इसलिए हमारे बहुजन-समाज की एक बहुत बड़ी शक्ति यह हो सकती है कि वह हथियारों का भय छोड़ दे।

हथियारबंद आदमियों के सामने हथियार काम करता है! निहत्थे आदमी के मन में हथियार होगा, तब तक दूसरे का हथियार तो काम करने ही वाला है। क्योंकि मेरे मन में ऐसा लगा रहता है कि क्या करूँ, मेरे हाथ में हथियार नहीं है, होता तो मैं भी मजा चखा देता! तू मुझे मार रहा है

और मैं मार खा रहा हूँ, इसमें मेरी बहादुरी तो है, लेकिन मेरे हाथ में भी ऐसी लाठी होती, तो मजा चखाता। मन में ऐसा भाव होता है, तो उसी मात्रा में अहिंसा कमजोर पड़ जाती है। गांधी ने विचार में अहिंसा की बात कही थी। मतलब यही है कि विचारपूर्वक हमने उस साधन का स्वीकार किया हो। यह हमारा इस वक्त सबसे अच्छा उपलब्ध साधन है, इसका स्वीकार हमने विचार-पूर्वक कर लिया हो। इसमें ऋषियों-मुनियों की कोई बात नहीं है। कोई भी आदमी इसे कर सकता है। शर्त इतनी ही है कि वह बहादुर हो। यह मन का धर्म है। जिसके चित्त में जितनी शक्ति होगी, उतना वह स्वीकार करेगा।

गांधी की प्रक्रिया का विनोबा द्वारा प्रयोग

गांधी ने एक क्षेत्र में यह प्रक्रिया बतलायी, दूसरे क्षेत्र में इसी प्रक्रिया का प्रयोग विनोबा कर रहे हैं। वे कहते हैं कि हमें संपत्ति का निराकरण करना है, वर्ग का निराकरण करना है। वर्ग और संपत्ति का अधिष्ठान क्या है, इसका आधार क्या है? स्वामित्व की भावना और अपनी संपत्ति रखने की भावना। मैं अपनी संपत्ति रखूँगा और अपना स्वामित्व रखूँगा। तेरे पास संपत्ति नहीं, तेरे पास स्वामित्व नहीं। जिनके पास स्वामित्व है और जिनके पास संपत्ति है, उनकी सत्ता है। मार्क्स ने कहा है कि राज्य उन लोगों का उपकरण हो जाता है, जिनके हाथ में मालकियत होती है। मालिक और सत्ताधारी, ये दोनों परस्पर पोषक और सहायक बन जाते हैं। यही पूँजीवादी संदर्भ कहलाता है। पूँजीवाद के संदर्भ में जो सत्ताधारी पक्ष होता है, उसका हम बहुत अधिक उपयोग नहीं कर सकते। इसलिए विनोबा ने कहा कि क्रांति आज तो सत्ता-निरपेक्ष ही हो सकती है। सत्ता-निरपेक्ष का अर्थ लोगों ने बहुत कुछ दूसरा कर लिया था। शासन-मुक्त को सत्ता-निरपेक्ष से एकदम जोड़ दिया था। सत्ता-निरपेक्ष के दो अर्थ हैं। एक तो यह कि हमें शासन-मुक्त समाज की ओर जाना है, इसलिए विधायक नागरिक शक्ति और नागरिक चारित्र्य का विकास करना है। दूसरा यह कि आज के संदर्भ में सत्ता का उपयोग भी शांति के लिए यदि करना हो, तो वह जनशक्ति के अधिष्ठान के बिना नहीं हो सकता। अतः उसके लिए जनशक्ति का विकास करना होगा। गांधी ने विवशता को अवसर

में वदल दिया। कहा कि "अपनी निःशस्त्रता को तुम अहिंसक वीरता में वदल देते हो, तो तुम्हारी विवशता में से शक्ति पैदा होती है।" विनोबा कहता है कि हम दरिद्रता को ही अगर अपरिग्रह की मनोवृत्ति में वदल देते हैं, तो आज जो हमारी 'विवशता' है, वह हमारा 'अवसर' वन जाती है।

अमीरों का हृदय-परिवर्तन

लोग कहते हैं कि अमीरों का हृदय-परिवर्तन जल्दी नहीं होगा, तो विनोवा कहते हैं कि अमीरों के हृदय-परिवर्तन का ठेका मुझ पर छोड़ दीजिये। वहुसंख्य गरीव हैं, जो गरीवी का निराकरण करना चाहते हैं। उनका, अगर सौ में से नव्वे का, हृदय-परिवर्तन हो जाता है, उनमें से संपत्ति और स्वामित्व की भावना का निराकरण हो जाता है, तो १०० में से १० की संपत्ति और स्वामित्व की भावना में यह शक्ति नहीं रह जाती कि वह समाज में ठहर सके। अमीरों का हृदय-परिवर्तन करने के लिए, उनमें संपत्ति और स्वामित्व की तरफ से एक नया रुख पैदा करने का प्रयास करना होगा। उनका तो एक संस्कार वन गया है। इसलिए वैसी परिस्थिति बनानी पड़ेगी। उन पर जो दवाव आयेगा वह, जिसे आप मामूली अर्थ में 'दवाव' कहते हैं, वैसा नहीं होगा। परिस्थिति में जव परिवर्तन होता है और उस परिस्थिति के अभिमुख मनुष्य को होना पड़ता है, मैं उसे 'समयज्ञता' कहा करता हूँ, 'दबाव' नहीं।

पूँजीवादियों की भूमिका

हैरी पालिट कम्युनिस्ट पार्टी का एक अध्वर्यु रहा है। पिछले महायुद्ध के समय इसने एक किताव लिखी, 'हाऊ टू विन द पीस' ('शान्ति कैसे जीते ?')। उसमें पूँजीवादियों की भूमिका का सवाल आता है। उस वक्त रूस और इंग्लैंड एक ही पक्ष में लड़ रहे थे। इंग्लैंड के जितने पूँजीवादी थे, वे भी रूस की विजय चाहते थे और हिटलर की पराजय चाहते थे। तो इनकी भूमिका प्रगतिशील हो गयी। पालिट ने उस वक्त लिखा कि अब वह जमाना आ रहा है कि जव इंग्लैंड जैसे देश के पूँजीपति भी अपना हित इसमें समझेंगे कि पूँजीवाद का निराकरण होना चाहिए। उनका स्वार्थ क्रांति के बिलकुल अनुकूल तो नहीं होगा, लेकिन अप्रतिकूल बन जायगा, क्योंकि वर्ग-रचना बदल रही है।

वर्ग-रचना की जो कल्पना मार्क्स ने की थी, उसके वाद वर्गों का नक्शा धीरे-धीरे वदलता रहा है। उस नक्शे के मुताविक अव वह जमाना आ रहा है कि आज तक जिनका स्वार्थ क्रांति के प्रतिकूल था, उनमें से वहुतों का स्वार्थ क्रांति के अप्रतिकूल हो जायगा। याने अमेरिका और रूस का सह-अवस्थान हो सकेगा, सह-अस्तित्व रह सकेगा।

भूदान की प्रक्रिया का वास्तविक अर्थ

इसलिए विनोवा कहते हैं कि जिस तरह से अंग्रेजों को मालूम हो गया कि उनका साम्राज्य अधिक दिन रहनेवाला नहीं है, राजाओं को जैसे मालूम हो गया कि हमारी ये रियासतें ज्यादा दिन रहनेवाली नहीं हैं, उसी तरह से जो समयज्ञ पूँजीपति हैं, उनके ध्यान में समय की गति आयेगी, कालपुरुष के पद-चिह्न वे देख लेंगे। उन्हें एक तरफ से इसका ज्ञान करा देना, समय का भान करा देना और दूसरी तरफ से जिनका स्वार्थ क्रांति के अनुकूल है, उनमें सार्वत्रिक याने सार्वजनिक क्रान्ति की प्रेरणा पैदा करना, उन्हींमें से स्वामित्व और संपत्ति की भावना का निराकरण कर देना—यही दान की प्रक्रिया का असली अर्थ है। 'भूमि-दान', 'संपत्ति-दान' और 'श्रम-दान' के द्वारा हम भूमि, संपत्ति और श्रम, तीनों को वाजार से उठा लेना चाहते हैं और मनुष्य के लिए स्वायत्त वना देना चाहते हैं। जो चीज वाजार में सौदा वन गयी है और जो चीज मनुष्य की विवशता का कारण हो गयी है, उसे अवसर में परिणत कर देने की प्रक्रिया भूमि-दान-यज्ञ की प्रक्रिया है।

यह है आज की वैज्ञानिक परिस्थिति में और आज के आर्थिक संदर्भ में भूमि-दान की भूमिका। इन सिद्धान्तों के अनुरूप आज इस देश में विधायक रूप से तथा जनता के स्वतन्त्र पुरुषार्थ से सत्ता-निरपेक्ष पद्धति द्वारा आर्थिक क्रांति करने का एक प्रयोग हो रहा है। दुनिया में क्रांति का समर्थन और प्रति-पादन करनेवाले जितने लोग हैं, उनका यदि सक्रिय सहयोग हमें न मिले तो भी उनकी शुभाकांक्षा के अधिकारी तो हम वन ही सकते हैं।* • • •

---

* विचार-शिविर में २३-८-'५५ को गुजरात के साम्यवादी नेता श्री दिनकर मेहता के प्रवचन के उपरान्त किया गया प्रवचन।

क्रान्ति का अर्थ

: ८ :

हम इस परिणाम पर पहुँच चुके हैं कि क्रान्ति का साधन मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए। मनुष्य-स्वभाव मनुष्य की विशेषता में है। पशु के साथ मनुष्य की जो समानता है, वह मानवता नहीं है। मनुष्य की मानवता उसकी विशिष्टता का नाम है। दूसरे किसी प्राणी में जो बात नहीं पायी जाती, और मनुष्य में पायी जाती है, वही मनुष्य की विशेषता है। मनुष्य निसर्गा-नुगामी नहीं है, प्राकृत नहीं है। मनुष्य संस्कृत है और उसका आज का बहुत-सा स्वभाव संस्कारजन्य है। मनुष्य के लिए केवल शरीर-धर्म जैसी कोई वस्तु रह ही नहीं गयी है। मल-मूत्र-विसर्जन से लेकर खान-पान और कामोपभोग तक सभी व्यवहारों को हमने संस्कारों से मर्यादित कर दिया है। संस्कार से संयम का आरम्भ होता है और संयम से सह-जीवन का आरम्भ होता है। मनुष्य की सह-जीवन की सहज प्रेरणा, सह-जीवन के लिए व्रतों की आवश्यकता, संयम की आवश्यकता आदि का विचार हम कर चुके हैं।

चारित्र्य का आरम्भ

दूसरों के साथ रहने से ही मनुष्य के चारित्र्य का आरम्भ होता है। इस चारित्र्य का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि दूसरे की सहूलियत हम पहले देखते हैं, अपनी सहूलियत बाद में। सभ्य वह है, जो दूसरे की सुविधा का विचार अपनी सुविधा से पहले करता है। इसका अत्यन्त प्राथमिक सूत्र यह है कि दूसरों को जिलाने के लिए जो जीता है, वह 'सभ्य' कहलाता है। दूसरे के जीवन में रुकावट पैदा न करना 'अहिंसा' है। दूसरे के जीवन में मदद पहुँचाना भावरूप अहिंसा या 'प्रेम' है। इसका आरम्भ अपनेपन से, ममत्व से होता है और इसकी परिणति तादात्म्य में होती है। ममता से आरम्भ और तादात्म्य में परि-णति। इसलिए उसमें प्रभुत्व-भावना के लिए स्थान नहीं है। सृष्टि के साथ भी हम प्रभुत्व के संबंध की स्थापना नहीं करेंगे। दूसरे प्राणियों पर प्रभुत्व की

स्थापना नहीं करेंगे और मनुष्य के प्रति भी प्रभुत्व की भावना नहीं होगी। सत्ता और प्रभुत्व के लिए स्नेह और अहिंसा में कोई स्थान नहीं है।

समन्वय : हमारा लक्ष्य

प्रभुत्व की भावना दूसरे के जीवन में रुकावट पैदा करती है, जिसे हम 'अन्याय' कहते हैं। न्याय और अन्याय की यह सरल परिभाषा है। दूसरे के जीवन में जब हम दखल पहुँचाते हैं, तो अन्याय करते हैं। दूसरे के जीवन में दखल नहीं पहुँचाते, तो न्याय करते हैं। लेकिन अहिंसा न्याय से एक कदम आगे है। भावरूप अहिंसा दूसरे के जीवन में मदद पहुँचाती है। यही मनुष्य का स्वभाव है। इसमें सामाजिक परिस्थिति से जितनी रुकवाटें पैदा होती हैं, वे सामाजिक अन्तर्विरोध कहलाती हैं। सामाजिक अन्तर्विरोधों का निराकरण हमें करना है। विरोध का परिहार ही 'समन्वय' कहलाता है। समन्वयात्मक जीवन की स्थापना के लिए जीवनगत विरोधों का परिहार हमें करना है। व्यक्तिगत विरोध, समाजगत विरोध, व्यवसायगत विरोध, इन सारे विरोधों का परिहार हमें करना है। विरोधों के परिहार के लिए हम संकल्पपूर्वक जो आचरण करते हैं, उसीको हम 'व्रत' कहते हैं। सामाजिक मूल्यों के विकास में बाधा पहुँचानेवाले विरोधों के परिहार के लिए और सामाजिक मूल्यों के विकास के लिए व्यक्ति जो संकल्पपूर्वक आचरण करता है, वह व्यक्ति का व्रत कहलाता है। सामुदायिक रूप से जो आचरण होता है, वह 'सामुदायिक' या 'सामाजिक व्रत' कहलाता है।

हम सोच यह रहे हैं कि क्या क्रान्ति की ऐसी कोई प्रक्रिया हो सकती है, जो अपने में एक सामाजिक व्रत हो सके? हमारा प्रतिकार भी ऐसा हो, जो दूसरे के जीवन में सहायता पहुँचाये। सशस्त्र और हिंसक क्रान्तिकारी भी ऐसा नहीं मानते कि मनुष्य परिस्थिति का ही एक अंग है। यह बड़े आनन्द का विषय है। लेकिन एक सम्प्रदाय ऐसा है, जिसकी प्रतिच्छाया कभी-कभी हम लोगों पर भी पड़ती है, और दूसरे क्रान्तिकारियों पर भी पड़ती है कि मनुष्य भी परिस्थिति का ही एक अंग है। यदि मनुष्य को आपने परिस्थिति का ही एक अंग मान लिया, तो परिस्थिति के निराकरण के साथ व्यक्तियों का भी

निराकरण करना पड़ेगा। हम मनुष्य को परिस्थिति से ऊपर मानते हैं। मनुष्य प्राकृत नहीं है, अपनी परिस्थिति का नियंता है, उसकी नियति भी कर्मजन्य होती है, दैव भी उसके कर्म से ही पैदा होता है। पुरुष स्वतन्त्र है, जिम्मेवार है। इसलिए वह परिस्थिति से ऊपर उठ सकता है, यह हर क्रान्तिकारी को मानना होगा। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परिस्थिति का निराकरण करने के लिए व्यक्ति का निराकरण करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे प्रतिकार में व्यक्ति के निराकरण का समावेश नहीं हो सकता।

हृदय-परिवर्तन का मूल आधार

एक ने कहा कि "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ"। यह 'आत्मवादी' मानव कहलाता है। दूसरे ने कहा कि "मैं हूँ, इसलिए मैं विचार करता हूँ"। यह 'वस्तुवादी' मानव कहलाता है। दो सम्प्रदाय वन गये। एक ने कहा कि परिस्थिति को मैं बनाता हूँ, दूसरे ने कहा कि परिस्थिति मुझे बनाती है। ये दोनों वाद आत्यन्तिक हैं। एक सिरे के वाद हैं। इन एक सिरे के वादों को छोड़कर जो उनमें सत्य है, उसे हमें ग्रहण करना है। परिस्थिति का परिणाम पुरुष पर होता है, लेकिन अन्त में पुरुष की सत्ता परिस्थिति पर चलती है। व्यक्ति की सत्ता वस्तु पर चलती है। हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त का यह मूल आधार है।

प्रतिवर्तनवाद

एक पक्ष कहता है कि हमें परिस्थिति बदल देनी चाहिए, तो व्यक्ति अपने-आप बदल जायेंगे। यह बात तो वह आगे के लिए मानता है, लेकिन आज के लिए वह क्या मानता है? यही कि आज तक जो परिस्थिति थी, उससे आज का पूँजीवादी वना है, उसीसे आज का गरीब बना है। इसलिए आज का गरीब और आज का पूँजीवादी, ये तो नहीं बदल सकते। जब परिस्थिति भिन्न हो जायगी, तब ये बदल जायेंगे। लेकिन केवल इतना ही यदि कोई मान ले, तो वह क्रान्तिकारी नहीं बन जाता, वह 'बिहेवियरिस्ट', प्रतिवर्तनवादी हो जाता है। परिस्थिति जैसी होगी, वैसा मनुष्य होगा। मनुष्य में कोई कर्तृत्व नहीं रह जाता।

कुत्ते के कान खड़े थे। मालिक को शौक हुआ कि कान गिरा हुआ कुत्ता ज्यादा खूबसूरत दिखाई देगा। इसलिए उसने शेर को पिंजरे में बन्द कर कुत्ते के सामने रख दिया। कुत्ता शेर को देखता रहता था और कान गिरा देता था। एक पीढ़ी में आदत हुई, दूसरी पीढ़ी में आदत हुई, तीसरी पीढ़ी में गिरे कान के कुत्ते आ गये। यह 'विहेवियरिज्म', 'प्रतिवर्तनवाद' कहलाता है।

वे कहते हैं कि इस तरह से परिस्थिति बदलने के बाद मनुष्यों को हम बदल देंगे। लेकिन कोई क्रांतिकारी इस बात को पूर्णतः नहीं मानता। सशस्त्र क्रांतिकारी भी अधिक-से-अधिक इतना ही कहता है कि परिस्थिति बदल जायगी, तो मनुष्य उसके साथ कुछ मात्रा में बदलेगा। परिस्थिति बदलने से अगर व्यक्ति बदल सकता है, तो फिर परिस्थिति पर जोर दो, व्यक्तियों के निराकरण पर जोर मत दो। फिर तो व्यक्तियों के निराकरण की आवश्यकता ही नहीं रहती। इतना ही एक कदम आगे बढ़ने के लिए हम कहते हैं। यह वैज्ञानिकता का एक पहलू हुआ। अब वैज्ञानिकता का दूसरा पहलू लें।

साध्य और साधन

साध्य के अनुरूप साधन होना चाहिए। शस्त्र आवश्यक है, इष्ट है या अनिष्ट है, इस बात को थोड़ी देर के लिए छोड़ दें। मार्क्स जब से आया, क्रांति में वैज्ञानिकता जब से आयी, तब से ऐसा कोई नहीं मानता कि चाहे जिस साधन से चाहे जो साध्य प्राप्त हो सकता है।

साध्यानुकूल साधन का ही नाम 'साधन-शुद्धि' है।

अब साध्य क्या है, और उसके अनुकूल साधन का मतलब क्या है? लोकमान्य तिलक मांडले जेल से जब छूटकर आये, उस वक्त देश में बड़ी चर्चा थी कि हिंदू किसे कहा जाय। लोकमान्य से भी पूछा गया कि हिंदू किसे कहना चाहिए? उन्होंने एक मामूली-सी परिभाषा बता दी—'प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु साधनानां अनेकता।' 'जिसमें अनेक प्रकार के साधन होते हैं, वह हिंदू-धर्म है।' यह तो उन्होंने हिंदुत्व के लक्षण में कहा, लेकिन दूसरे कुछ लोगों ने कहा, "लोकमान्य तिलक ने एक बड़ी मार्के की बात कह दी है—'साधनानां अनेकता'—अनेक साधनों से एक साध्य प्राप्त होता है।" 'साधनानां अनेकता'

का उन्होंने अर्थ कर लिया—'साधनानां अनिश्चयः', साधनों का अनिश्चय। जिस वक्त जो साधन हाथ आया, उस वक्त उस साधन से काम ले लिया। इस प्रकार से वे अवसरवादी बन गये। साधनों का कोई निश्चय उनके मन में नहीं रहा।

साधन में साध्य छिपा हो

बेचारे गांधी पर ऐसे लोगों का बड़ा आक्षेप यह था कि यह आदमी साधन को साध्य से ज्यादा महत्त्व देता है। पर, विवेकानंद ने इसके पहले ही कहा था, "तुम तो साधन की चिन्ता करो, साध्य अपनी चिन्ता आप कर लेगा।" विवेकानंद की बात अलग है। वे गांधी की तरह क्रांति के और व्यवहार के क्षेत्र में तो आये नहीं थे और न वे राजनैतिक क्षेत्र में ही आये थे।

साधन-निश्चय का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि साधन में साध्य छिपा हुआ होना चाहिए। साधन ऐसा चाहिए कि जिसमें साध्य प्राप्त करने की शक्ति निसर्गतः हो, वैज्ञानिक रूप से हो। इसलिए साधन का निश्चय बुद्धिपूर्वक करना पड़ता है। साध्य का निश्चय मनुष्य जिस प्रकार बुद्धिपूर्वक करता है, उसी प्रकार साधन का निश्चय भी बुद्धिपूर्वक करना पड़ता है।

साध्य-साधन में साधर्म्य हो

पुरानी परिभाषा में इसे 'सत्कार्यवाद' कहा है। सत्कार्यवाद का अर्थ यह है कि मुझे यदि घड़ा बनाना है, तो मिट्टी ही लेनी होगी, मक्खन चाहिए, तो दूध ही बिलोना होगा, पानी नहीं। साध्य हमारे साधन में छिपा हुआ होना चाहिए। साध्य और साधन में साधर्म्य होना चाहिए।

हमारा साध्य क्या है ? हम मनुष्यों का सह-जीवन स्थापित करना चाहते हैं। सह-जीवन का अर्थ यह है कि मैं आपके लिए जिऊँ, आप मेरे लिए जियें। मैं आपके जीवन में मदद पहुँचाऊँ, आप मेरे जीवन में मदद पहुँचायें। यही 'सहयोग' कहलाता है। यही हमारा साध्य है।

प्रश्न है कि यह यदि साध्य है, तो क्या इसके अनुरूप साधन हो सकता है ? जो इसके अधिक-से-अधिक अनुरूप होगा, वह अधिक-से-अधिक शास्त्र-

शुद्ध साधन होगा। क्रांति का साधन ऐसा हो, जिसकी प्रेरणा बंधुत्व में से आये और जिस साधन से बंधुत्व का विकास हो। यदि क्रांति का साधन ऐसा होगा, तो वह शास्त्र-शुद्ध माना जायगा।

एक बहुत बड़े वेदांत-शास्त्री से मैंने पूछा था कि "आखिर सिद्धि और साधना में क्या अंतर है?" उन्होंने कहा कि "जब तक प्रयत्न करना पड़ता है, तब तक साधना है, वही जब स्वभाव बन गया, तो सिद्धि हो गयी।" तैरना सीखना और तैरने में क्या फर्क है? जब तक तैरने के लिए कोशिश करनी पड़ती है और डूबने से बचने की कोशिश करनी पड़ती है, तब तक तैरना सीख रहा हूँ। तैरना सहज हो गया, डूबने से बचने की कोशिश नहीं करनी पड़ती, तो सिद्धि हो गयी, तैरने लगा। साधन में जो आचरण प्रयत्नपूर्वक करना पड़ता है, वह जब स्वभावसिद्ध हो जाता है, तो उसे 'सिद्धि' कहते हैं। फिर कोई विचार नहीं करना पड़ता। 'सिद्धि' के लिए जो प्रयोग और प्रयत्न होता है, उसे हम 'साधना' कहते हैं। उसके लिए जो प्रयोग और प्रयत्न होता है, उसीका नाम 'मार्ग' भी है। जहाँ से हम 'प्रयत्न' का आरंभ करते हैं, वह साधन का पहला सिरा है और जहाँ उसकी 'परिणति' होती है, वह अंतिम सिरा ही 'साध्य' कहलाता है। 'साधन' के अंतिम सिरे का नाम 'साध्य' है।

साध्य और साधन में साधर्म्य होना चाहिए। क्रान्ति के तंत्र और क्रान्ति के शास्त्र के लिए यह गांधी की देन है। क्रान्ति के तंत्र में भी क्रान्ति होनी चाहिए, क्रान्ति के साधन में भी क्रान्ति होनी चाहिए। क्रान्ति के साध्य के अनुरूप क्रान्ति का साधन होना चाहिए। यह गांधी की मौलिक और अनूठी देन है। दूसरे क्रान्तिकारियों ने इसे स्वीकार नहीं किया है। इसलिए वे तर्क-वितर्क में पड़ जाते हैं। उनके चित्त में 'वा' 'न वा' इसीलिए आ जाता है कि कहीं शस्त्र भी लेना पड़े तो! उन्होंने शस्त्र को विषम नहीं माना, पर हमारी सिद्धि की दृष्टि से शस्त्र विषम साधन है। वह हमारे साध्य के प्रतिकूल है।

अहिंसा की क्रान्ति ही व्यावहारिक

जागतिक परिस्थिति याने आज के अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ और मानव-जाति की आकांक्षा के अनुरूप आज अहिंसा के सिवाय दूसरा साधन नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह कि हमारी राष्ट्रीय परिस्थिति और आज की हमारी शक्ति या सामर्थ्य जितनी है, उसकी दृष्टि से अहिंसा की क्रान्ति ही व्यावहारिक क्रान्ति हो सकती है।

'वैज्ञानिकता' भी अहिंसक क्रान्ति में ही हो सकती है। हमारे साध्य के अनुरूप साधन अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया के सिवा दूसरा हो ही नहीं सकता। हमारा साधन स्नेहमूलक भी होना चाहिए और स्नेहप्रवर्तक भी। स्नेह में उसका मूल हो और उसके प्रयोग से स्नेह बढ़ता चले, इस प्रकार का वह साधन होना चाहिए।

अहिंसा के प्रकार में अन्तर

अहिंसा के विभिन्न पहलू हैं। पहला पहलू यह कि अहिंसा एक सामाजिक मूल्य है। पुराने जमाने की अहिंसा और गांधी की अहिंसा में केवल मात्रा का अन्तर नहीं है, प्रकार का अन्तर है। दधीचि, शिवि की अहिंसा में और गांधी की अहिंसा में प्रकार का भेद है। आज तक दुनिया में अहिंसा के जितने संस्थापक और प्रवर्तक हुए, उनमें और गांधी में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि गांधी ने अहिंसा को राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में दाखिल किया याने उसको समाजव्यापी बना दिया।

इस देश के धर्मशास्त्री और वेदान्तशास्त्रियों ने मनुष्य के व्यक्तित्व की दो फाँकें कर दी थीं। एक पारमार्थिक, दूसरी व्यावहारिक। आचरण में दो भेद हो गये। व्यक्तित्व में दो भेद हो गये। गांधी ने अपनी अहिंसा को पारमार्थिक मूल्य के साथ-साथ सामाजिक मूल्य में परिणत कर दिया, इसलिए उसने हमारे चित्त को फिर से समग्र बनाने की चेष्टा की। मनुष्य का व्यक्तित्व फिर से समग्र हो जाय, इसकी कोशिश उसने अहिंसा को सामाजिक मूल्य में परिणत करके की।

अहिंसा की व्रत में परिणति

जो अहिंसा एक सामाजिक मूल्य है, वह व्रत में परिणत होती है। व्रत में परिणत होने से मनुष्य के चित्त की शुद्धि होगी, उसके व्यक्तित्व का विकास होगा। इसलिए व्यक्तिगत मोक्ष तो होने ही वाला है। लेकिन व्यक्तिगत मोक्ष

उसका मुख्य प्रयोजन नहीं है। फिर भी सामाजिक मूल्य के रूप में वह जब आती है, तब व्यक्तिगत मोक्ष भी उसकी प्रेरणा हो सकती है। ये दो भिन्न प्रेरणाएँ नहीं हैं।

व्यक्तिगत मोक्ष अलग और सामाजिक मोक्ष अलग, ऐसी दो भिन्न-भिन्न सत्ताएँ मनुष्य के व्यक्तित्व में नहीं हो सकतीं। इसलिए जिन गुणों का अनुष्ठान मनुष्य अपने मोक्ष के लिए करता है, उन्हें जब वह सामाजिक मूल्य में परिणत करने लगता है, तो व्यक्तिगत मोक्ष और सामाजिक मोक्ष, दोनों एक साथ चलते हैं। उनमें विरोध की कल्पना नहीं होती। गांधी ने इस प्रकार सामाजिक मूल्य को एक व्रत में परिणत कर दिया। यह हुआ अहिंसा का दूसरा पहलू।

अहिंसा का एक तीसरा पहलू है। सहयोग में तो हम समझ सकते हैं कि अहिंसा का सामाजिक मूल्य है, लेकिन क्या प्रतिकार में भी सामाजिक मूल्य के नाते अहिंसा दाखिल हो सकती है? क्या प्रतिकार अहिंसक हो सकता है और वह एक सामाजिक मूल्य बन सकता है? वह एक मनुष्य का धार्मिक कर्तव्य बन सकता है? सत्याग्रह की नीति और सत्याग्रह के सिद्धान्त के बारे में मनुष्य के स्वभाव की दृष्टि से, विज्ञान की दृष्टि से, क्रांति के साध्य की दृष्टि से, तीनों दृष्टियों से हम विचार कर चुके हैं। अब और एक दृष्टि से अहिंसा का विचार प्रस्तुत है।

सह-भोजन और सह-उत्पादन

दूसरे के जीवन में मदद पहुँचाने में सह-भोजन आता है। भोजन को केवल एक व्यक्तिगत शरीर-धर्म माननेवाले, केवल व्यक्तिगत संयम को माननेवाले तो इस मुकाम पर पहुँच गये थे कि जिस तरह से शौच आदि शरीर-धर्म है, वैसे ही भोजन भी एक शरीर-धर्म है। शौच के लिए यदि आप किसीको निमन्त्रण नहीं देते, उसके लिए कुंकुम-पत्रिकाएँ नहीं भेजते, तो भोजन के लिए और विवाह के लिए उसकी क्या आवश्यकता है? यह एक तरह का अतिरेक है। इस तरह किसी सामाजिक मूल्य का विकास नहीं होता। हमें देखना यह है कि संयम तो अवश्य हो, लेकिन संयम हमें समाज-विमुख या लोक-विमुख न बनाये। अतः संयम का सामाजिक मूल्य यह हुआ कि मैं अपने

खाने से पहले दूसरों के खाने की फिक्र करता हूँ। इसमें संयम आ जाता है। दूसरे को खिलाऊँगा, तब खाऊँगा। इस तरह अहिंसा आ गयी। अहिंसा के साथ सह-भोजन आ गया।

सह-भोजन में अब हम एक कदम और बढ़ाते हैं और वह है सह-उत्पादन। सह-उत्पादन अलग वस्तु है और स्वावलम्बन अलग। आजकल स्वावलम्बन का बोलबाला है। अपना कुर्ता मैं बना लूँ, अपनी धोती मैं बना लूँ, अपना भोजन मैं पका लूँ, अपना जीना मैं जी लूँ, अपना मरना मैं मर लूँ—यह स्वावलम्बन नहीं है। यह हम स्वावलम्बन का गलत अर्थ समझ रहे हैं। 'स्वावलम्बन' शब्द सापेक्ष है। आज तक समाज में कुछ लोग परोपजीवी थे। दूसरों के श्रम पर जीनेवाले उन लोगों की प्रतिष्ठा समाज में थी। गुरुदेव रवि ठाकुर ने उन्हें बड़ा सुन्दर नाम दे रखा था—'अवकाशभोगी।' इन लोगों के लिए स्वावलम्बन की नीति का प्रतिपादन किया गया। जो लोग परोपजीवी थे, दूसरे की मेहनत के भरोसे जीते थे, उनसे कहा गया कि "तुम अपना काम खुद नहीं करते हो, भला यह भी कोई जीना है? एक दिन तुम कहोगे कि साँस लेने के लिए भी उपकरण मिल जाय, तो अच्छा है।" मनुष्य को इतना परावलम्बी और परोपजीवी नहीं बनना चाहिए। हम परोपजीवी न बनें, पर हम सबको परस्परोपजीवी तो बनना ही है। परोपजीवन अलग वस्तु है, परस्परोपजीवन अलग वस्तु है। इसलिए मैंने सह-उत्पादन की बात कही। हमें केवल श्रमनिष्ठ ही नहीं बनना है, हमें समाज में उत्पादक परिश्रम की प्रेरणा उत्पन्न करनी है। इसके बिना काम की प्रेरणा का सवाल हल नहीं होता।

सह-उत्पादन का अर्थ

सह-उत्पादन का अर्थ क्या है? मान लें, नारायण कातता है। धोती के लायक सूत उसने कात लिया। वह मेरे पास आकर कहता है—"यह सूत मेरा काता हुआ है। मैं धोती के लिए आपको यह देना चाहता हूँ।"

"तू क्यों देना चाहता है? तेरी अपनी धोती फटी हुई है।"

"आप यदि मेरे कते हुए सूत की धोती पहनेंगे, तो मेरी आत्मा को अधिक संतोष होगा।"

यह 'सह-उत्पादन' कहलाता है। 'आप' और 'मैं' मिलकर काम करते हैं, लेकिन 'मैं' अपने लिए नहीं, 'आप' अपने लिए नहीं। 'मैं आपके लिए' और 'आप मेरे लिए।' उसमें स्नेह की प्रेरणा आ जाती है। वह मनुष्य के लिए बहुत स्वाभाविक है। हमारे दिल बिगड़ गये हैं। इसलिए हम समझते हैं कि यह बहुत असंभव चीज है। लेकिन दुनिया में यह रोज होती है। नित्य के व्यवहार में होती है। इसके बिना मनुष्य को चैन नहीं। शादी में कोई न आये, तो आपको अच्छा नहीं लगता और गमी में कोई न आये, तो भी आपको अच्छा नहीं लगता। सह-उदय जब तक न हो, तब तक दुःख का निराकरण नहीं होता। सह-उत्पादन का असली मतलब यह है कि मैं जितना उत्पादन करूँ, वह अपने लिए नहीं, समाज के लिए करूँ। समाज का मूर्तरूप है पड़ोसी। मैं आपके लिए उत्पादन करता हूँ, आप मेरे लिए उत्पादन करते हैं, तो फिर संग्रह की भावना का अपने-आप निराकरण हो जाता है। प्रबोध मेरे खाने के लिए केले लाता है और मैं चाहता हूँ कि वह मेरे साथ बैठकर खाये। हम एक-दूसरे से खाने का आग्रह करते हैं। प्रबोध कहता है, "आप खाइये", मैं कहता हूँ, "भाई, तुम खाओ।" क्या हम दोनों में से किसीको केले छिपाकर रखने की प्रेरणा होगी ?

संग्रह की प्रेरणा क्यों होती है ? मनुष्य स्वार्जित संपत्ति पर अपना अधिकार क्यों बतलाना चाहता है ? उत्पादन वह अपने लिए करता है। समाज अव्यक्त है। अव्यक्त के लिए उत्पादन करने से मनुष्य के व्यक्तित्व का निराकरण हो जाता है। व्यक्तित्व का निराकरण होने से उसकी विभूति ही क्षीण हो जाती है। हमारा व्यक्तित्व व्यष्टि की विभूति है और समष्टि की विभूति समाज है। हर मनुष्य का व्यक्तित्व समाज की एक विभूति है। हम उसका निराकरण करना नहीं चाहते, उसका विकास करना चाहते हैं। उत्पादन विभूति के विकास की प्रक्रिया है। सारा का सारा हमारा व्यक्तित्व जिस-जिस क्रिया से प्रकट होता है, ऐसी एक प्रधान क्रिया उत्पादन है।

लोग कहते हैं, "कला के लिए कला।" मैं भी मानता हूँ, कला के लिए कला। लेकिन मनुष्य आखिर कला अभिव्यक्त क्यों करता है ? मेरे मन में चित्र है, मैं उसे बाहर प्रकट क्यों करता हूँ ? मूर्ति मेरे मन में है, पर उसे मैं

अभिव्यक्त क्यों करता हूँ? जितनी भी अभिव्यक्ति होती है, वह सबकी सब दूसरों के लिए होती है।

उत्पादन की प्रेरणा

अभिव्यक्ति आगे चलकर अहंकार में जब परिणत हो जाती है, तो वह प्रदर्शनात्मक बन जाती है। फिर प्रसाधन और प्रदर्शन जीवन के उद्देश्य बन जाते हैं। लेकिन प्रसाधन और प्रदर्शन से पृथक् मनुष्य की अपने-आपको अभिव्यक्त करने की जो सामाजिक प्रेरणा है, उत्पादक परिश्रम, उत्पादन की प्रेरणा, उसका एक बहुत बड़ा अंग है। यह प्रेरणा मनुष्य में निहित है। हमने उत्पादन को अप्रतिष्ठित बना दिया है, इसलिए उत्पादन की प्रेरणा नहीं रही। किन्तु क्या शौक के लिए हम श्रम नहीं करते? आखिर 'हॉबी'—शगल—क्या है? यही कि बढ़ईगिरी का काम पेट के लिए मत करो, शौक के लिए करो। पेट के लिए बगीचे में माली का काम मत करो, शौक के लिए काम करो। इसका यही मतलब हुआ कि वह प्रेरणा मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा है। यह जो उत्पादन की प्रेरणा मनुष्य में स्वाभाविक है, उसमें से उसके गुण का विकास होना चाहिए, उसकी सामाजिकता का विकास होना चाहिए। उत्पादन तो अवश्य अधिक होना चाहिए, लेकिन उसमें से उत्पादक का भी विकास होना चाहिए।

जीविका से वृत्ति में परिवर्तन

हम इतने वस्तुनिष्ठ बन गये हैं कि मानव को भूल गये। जीविका के साथ-साथ मनुष्य की वृत्ति भी बदलती जाती है। यह परिवर्तन किस प्रकार होता चलता है, उस पर हम एक दृष्टि डाल लें।

लोग कहते हैं कि किसी जमाने में मनुष्य शिकार करके जीता था। जब वह शिकारी रहा होगा और जब वह गाय आदि चरानेवाला चरवाह रहा होगा, तब के उसके जीवन में, जिस दिन उसने खेती शुरू की होगी, उस दिन इतना फर्क जरूर पड़ा होगा कि उसे अपने पड़ोसी का भरोसा करना पड़ा। जब तक पड़ोसी का भरोसा न हो, तब तक गाँव में कोई नहीं रह सकता और

खेती नहीं कर सकता। गाँव उनका बनता है, जो एक-दूसरे की सहायता का भरोसा कर सकते हैं, नहीं तो एक-दूसरे के निकट कैसे रह सकते हैं? पड़ोस में खेती उन्हींकी हो सकती है, जो एक-दूसरे का भरोसा कर सकते हैं। जानवरों को डराने के लिए खेतों में 'मनई' या 'हौआ' होता है। वह आदमियों के लिए नहीं होता। याने विशेष आशंका पशुओं की ओर से होती है, मनुष्यों की ओर से उतनी नहीं होती। लोग कहते हैं कि खेती के साथ मनुष्य की संस्कृति का आरम्भ हुआ। ऐसा इसीलिए हुआ कि पड़ोसी का विश्वास करना वहाँ से आरम्भ होता है। किसी एक जगह रहना और पड़ोसी का विश्वास करना वहाँ से शुरू हुआ, इसलिए मनुष्य के जीवन में उतना परिवर्तन हो गया।

पूँजीवाद का संदर्भ

इसके बाद पूँजीवाद का संदर्भ आया। पूँजीवाद के संदर्भ का अर्थ है—मनुष्य की कीमत कुछ नहीं, मनुष्य से वस्तु महँगी और पैसा सबका सिरमौर है। क्रान्ति इससे उल्टी है। मनुष्य सर्वोपरि, वस्तु सुलभ और पैसे का कोई स्थान न हो। सिक्के का चलन होगा या नहीं, यह बिलकुल अलग सवाल है। सम्पत्ति का पैमाना, सम्पत्ति का नाप पैसा न हो। पैसे ने मनुष्य की तबियत कैसी बदल दी, देखिये—

अदालत में एक मुकदमा पेश है। एक आदमी कहता है—"फलाँ आदमी मेरी स्त्री का अपहरण कर ले गया।"

"तुम क्या चाहते हो?"

"मैं हरजाना चाहता हूँ।"

उसे १०,००० रुपये मिल गये।

दूसरा मुकदमा आया।—"हम मिल में काम करते थे, हमारा हाथ टूट गया।"

"तुम क्या चाहते हो?"

"पाँच हजार रुपया हरजाना चाहता हूँ।"

तीसरा मुकदमा आया।—"हम बाजार में जा रहे थे, इसने हमें जूते मार दिये, हमारी इज्जत ले ली।"

"तुम क्या चाहते हो ?"

"सात हजार रुपया हरजाना चाहते हैं।"

पत्नी के बदले भी पैसा, अवयव के बदले भी पैसा, इज्जत के बदले भी पैसा! भला कभी किसीने ऐसी कल्पना भी की थी कि पैसा जीवन में यह स्थान ले लेगा! इज्जत के बदले पैसा आ गया, तो कल फिर भगवान् के बदले पैसा, वोट के बदले पैसा, लोकशाही के बदले पैसा और आत्मा के बदले भी पैसा,—यह एक के वाद एक क्रम आ ही जायगा!

इस प्रकार जीविका-उपार्जन की पद्धति मनुष्य की वृत्ति को बदल देती है। इसलिए कि उत्पादन की पद्धति ऐसी हो, जिसमें से मनुष्य की मनुष्यता का विकास हो, उसके सामाजिक गुण का विकास हो। जो उत्पादन हो, वह एक-दूसरे के लिए हो।

यन्त्रीकरण : प्रमापीकरण

यंत्रीकरण जितना ज्यादा होगा, सामाजिक प्रेरणा उतनी ही कम होती चली जायगी। यन्त्रीकरण से मेरा मतलव केन्द्रीकरण ही है। यन्त्र की एक हैसियत है, एक विशेषता है कि वह सव चीजें एक-सी वनाता है। फौज को ले लीजिये। फौज में यह सबसे अधिक देखने में आता है। बटन एक-से! पोशाक एक-सी! इसीको 'चमूकरण', रेजिमेंटेशन, कहते हैं। प्रमापीकरण और 'चमूकरण' में बहुत अन्तर नहीं रह गया। यन्त्र से प्रमापीकरण होता है। सब एक तरह के लोग हो जाते हैं। एक यन्त्र में हजार जूते निकालने हैं, तो वे सब एक-से निकलेंगे। इसलिए धीरे-धीरे मनुष्य में एक प्रकार का यन्त्रीकरण आ गया। समाज में भी उसके परिणामस्वरूप यन्त्रीकरण होता है और जितना यन्त्रीकरण का विकास होता है, उतना सामाजिक गुणों का ह्रास होता है। यह पूर्णतः वैज्ञानिक सत्य है।

बटन दबाने का अर्थशास्त्र

कल दिनकर भाई ने कहा था कि मार्क्स का भौतिकवाद और यान्त्रिक भौतिकवाद, यान्त्रिक जड़वाद, ये दो भिन्न वस्तुएँ हैं। यान्त्रिक जड़वादियों

ने सारे समाज का यंत्रीकरण ही करना शुरू कर दिया। इसका आजकल बड़ा सुन्दर नाम रख दिया गया है 'स्वयंचालित'। याने अपने-आप काम होने-वाली प्रक्रिया। हर काम अपने-आप होगा। उसका चित्र भी बड़ा सुन्दर बनाया है। एक दफ्तर में चार लड़कियाँ बैठी हुई हैं। वे चारों एक ही काम करती हैं। वे बटन दवाती हैं। एक लड़की के बटन दबाने से क्या होता है? चित्र निकल रहे हैं। दूसरी लड़की के बटन दबाने से क्या होता है? दुनिया के नक्शे निकल रहे हैं। तीसरी लड़की के बटन दबाने से क्या होता है? एक उपन्यास की प्रतियाँ निकल रही हैं। चौथी लड़की के बटन दबाने से क्या होता है? मेरी लिखी हुई चिट्ठी की प्रतियाँ बन रही हैं। क्रिया एक ही है और परिणाम अलग-अलग हो रहा है। लोग बड़े खुश हैं कि बस, एक सिर्फ 'पेनल बोर्ड' चाहिए, जिसमें 'पुश बटन' लगे हों। इसका नाम है—बटन दबाने का अर्थ-शास्त्र। इसमें कुछ नहीं करना पड़ता। खयाल यह था कि लोगों को केवल परिश्रम, गधा-मजूरी, से बचाने के लिए यंत्र आया। इसलिए यंत्र में सब प्रकार की प्रगति है, सांस्कृतिक विकास है। लेकिन अब कहाँ-से-कहाँ पहुँच गयी चीज? अब सिर्फ बटन दबाने की ही जरूरत रही।

मानवीय मूल्यों का ह्रास

अब एक दूसरी युक्ति निकाली है कि बटन ही दबाना है, तो नारायण देसाई और प्रबोध चौकसी की क्या जरूरत है? बिजली का दिमाग बनाइये। हिसाब तो होता ही है मशीन से। जब हिसाब हो सकता है, तो क्या मशीन से बटन दबाना नहीं हो सकता? रेलगाड़ियों का और ट्रेनों का कंट्रोल अगर स्वयंचालित मस्तिष्क से हो सकता है, तो बटन दबाना उससे क्यों नहीं हो सकता? ऐसी दुनिया अगर बनी, तो उसका अन्तिम स्वरूप क्या होगा? मनुष्य का व्यक्तित्व-विलीनीकरण होगा और आर्थिक केन्द्रीकरण होगा। ऐसी स्थिति में सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो ही नहीं सकता। आर्थिक केन्द्रीकरण की परिणति तानाशाही में होने ही वाली है और लोक-सत्ता की मृत्यु में उसका परिणाम निकलनेवाला है। इसमें मनुष्य के किसी भी सामाजिक गुण के विकास की योजना नहीं है। संसार के वैज्ञानिकों का आधुनिकतम विचार यह है कि

केन्द्रीकरण यदि होगा, तो मनुष्य की सत्ता का और मानवीय मूल्यों का ह्रास होनेवाला है। इसलिए हमें यदि उत्पादन की पद्धति में यंत्रीकरण भी करना हो, तो यंत्रीकरण की मर्यादा को समझकर करना होगा। संयोजन में यंत्रीकरण के लिए भी यदि स्थान हो, तो इतनी योजना अवश्य होनी चाहिए कि उससे मनुष्य के सामाजिक गुणों का विकास हो। यही मनुष्य का सांस्कृतिक विकास कहलाता है।

व्यक्तित्व-विकास के तीन प्रकार

मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में तीन प्रकार के विकास आते हैं। एक तो उसके गुण का विकास होना चाहिए, दूसरा, उसकी कला का विकास होना चाहिए और तीसरा, उसकी शारीरिक शक्ति का विकास होना चाहिए। मनुष्य के शरीर की जो प्रतिकार-क्षमता है, वह भी उसके परिश्रम से विकसित होनी चाहिए। ऐसा न हो कि वह बिलकुल मखमल और रेशम का जीव बन जाय।

तो, व्यक्तित्व के विकास में तीन बातें हुईं—

१. गुण का विकास होना चाहिए। यह 'सांस्कृतिक विकास' कहलाता है।

२. कला और कारीगरी का विकास होना चाहिए।

३. शारीरिक शक्ति का भी विकास होना चाहिए। कम-से-कम इतनी तो योजना हो कि वह उससे क्षीण न हो।

उत्पादन और संजीवन

यदि यह सब होगा, तो उद्योग और परिश्रम में मनुष्य की रुचि भी होगी। याने उत्पादन और संजीवन, जीवन के दो अलग-अलग भाग नहीं रह जायेंगे। उत्पादन और संजीवन में भेद अवश्य होगा, लेकिन आज दोनों कृत्रिम हैं। उत्पादन अपनी मर्जी का नहीं है, इसलिए उत्पादन या उत्पादक-परिश्रम 'सजा' है। जो काम अपनी मर्जी का नहीं होता, जो मोल के लिए किया जाता है, उसे 'मजदूरी' कहते हैं और जो दूसरों की मर्जी के लिए बगैर-कीमत किया जाता है, वह 'बेगार' कहलाता है। इस तरह आज की मेहनत या तो 'मजदूरी'

है या 'वेगार' है। जो अपनी मर्जी का काम है, जिसे हम 'संजीवन' 'मनो-विनोद' या 'दिलवहलावा' कहते हैं, वह हमें अलग रखना पड़ता है। इसलिए वहुत-सी कलाएँ मनोरंजन के साथ चली जाती हैं। वे उत्पादन में से निकल जाती हैं। उद्योग और कला में कोई सामंजस्य नहीं रह जाता। इसलिए कम्युनिस्ट देशों में आज एक बड़ा भारी प्रश्न है—'काम में मनुष्य को आनंद कैसे आये ?' और 'कलात्मक काम और श्रमात्मक काम का अंतर कैसे दूर हो ?' श्रमात्मक काम करनेवाले कुछ लोग केवल वटन दवाते हैं, कलात्मक काम करनेवाले वटन वनाते हैं। जिन दो-चार आदमियों ने मिलकर वटन खोजे और वनाये होंगे, उन्हींमें सिर्फ कला रह गयी और वाकी के मनुष्यों के व्यक्तित्व में कला का ह्रास होता चला जाता है।

मेरे अक्षर खराव हैं, नारायग जल्दी लिख लेता है, वह कुछ अच्छे, वड़े, अक्षर लिखता है। मुझे वड़ी ईर्ष्या होती है। मैं उसके जैसे अक्षर तो वनाने की कोशिश नहीं करता। कहता हूँ कि शिविर में एक नियम यह होना चाहिए कि वगैर टाइपराइटर के कोई लिखे ही नहीं। तो मेरे और नारायण के अक्षर एक-से हो गये। जितने उसके अच्छे, उतने मेरे अच्छे। कारण, अक्षर एक ठप्पे के हो गये। अव मेरी उँगलियों की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी। थोड़े दिनों के वाद टाइपराइटर पर चलाने के लिए एक ही उँगली रह जाय और वाकी चार उँगलियाँ गल जायँ, फिर भी कोई वहुत ज्यादा नुकसान होनेवाला नहीं है। एक उँगली की आवश्यकता है, तो एक उँगली रहे। दूसरी उँगलियों की जरूरत नहीं रह जायगी।

यंत्र से कला का विकास असम्भव

कला का विकास यंत्र से हो नहीं सकता। शिक्षण-संस्थाएँ चलानेवाले जानते हैं कि कला के विकास को यदि उत्पादन के साथ जोड़ना है, संयोजन के साथ यदि शिक्षण को जोड़ देना है, तो उत्पादन का उपकरण ऐसा होना चाहिए, जिससे मनुष्य की कला का विकास हो। उसके शरीर में जितनी कलात्मकता है, उसका विकास हो। गांधी और विनोवा के विषय में कुछ लोगों ने यह माना था कि ये विज्ञान के विरोधी हैं, यंत्र के विरोधी हैं। पर

ऐसी बात नहीं है। मानवीय मूल्य की स्थापना को इन लोगों ने अपना प्रधान उद्देश्य माना है। इसलिए यंत्र को वे मनुष्य की जगह नहीं लेने देंगे। आज लोक-संख्या का प्रश्न बार-बार आता है। पर, जितना-जितना यंत्र मनुष्य की जगह लेता चला जायगा, उतना-उतना यह प्रश्न अधिक तीव्र होनेवाला है। लोगों ने एक बार विनोबा से पूछा था कि "यन्त्र से तुम्हारा क्या बिगड़ता है?" तो उन्होंने जवाब दिया, "जवाहरलालजी से मैंने एक दफा कहा था कि आप संयोजन कीजिये, सबको खाना दे दीजिये, सबको पीने के लिए शरबत और चाय दीजिये और बचे हुए समय में खेलने के लिए ताश भी दे दीजिये। इतना यदि आप कर सकते हैं, तो कीजिये।" यन्त्र यदि इतना कर भी ले, तो वह मनुष्य को मार देगा, मनुष्य की जगह ले लेगा, मनुष्य के व्यक्तित्व को, मानवीय मूल्यों को समाप्त कर देगा।

पशु-शक्ति का भी विकास हो

विज्ञान से मूल्य की स्थापना हो ही नहीं सकती। यह विज्ञान की मर्यादा है। विज्ञान परिस्थिति में परिवर्तन कर सकता है, लेकिन जिसे भावरूप मूल्यों की स्थापना कहते हैं, वह विज्ञान से हो ही नहीं सकती। उत्पादक परिश्रम के विषय में हमारी पहली माँग इतनी ही है कि यन्त्र को यदि दाखिल करना हो, तो उसे तभी दाखिल किया जाय, जब उत्पादन का साधन और पद्धति ऐसी हो, जिसमें मनुष्य की शक्ति का उपयोग हो, कला का विकास हो। दूसरी बात यह कि पशु की शक्ति का उपयोग और विकास भी हो।

लोग कहते हैं कि गांधीवाले अवैज्ञानिक हो गये हैं। वे इसका एक मजेदार उदाहरण भी देते हैं। कहते हैं कि ये लोग मोटर की जगह बैलगाड़ी को लाना चाहते हैं। उनकी मोटर वैज्ञानिक है, क्योंकि मनुष्य ने बनायी है और बैल अवैज्ञानिक हो गया, क्योंकि उसे भगवान् ने बनाया है!

नतीजा यह हुआ है कि बैल और घोड़े हमारे जीवन में से धीरे-धीरे निकलते चले जा रहे हैं।

मानव की दोहरी सत्ताएँ

एक बार एक बड़े आदमी ने हमें चाय पीने के लिए बुलाया। उन्होंने

हमसे कहा कि "संविधान में ही गोहत्या-बंदी आ जानी चाहिए। ऐसा नहीं होगा, तो हम उपवास करेंगे।" मैं तो पक्ष में ही था। मैंने कहा, "आप ठीक कह रहे हैं, गोहत्या का प्रतिबंध करानेवाला कानून बन ही जाना चाहिए।" लेकिन हमारे एक मुँहफट मित्र खड़े होकर कहने लगे, "लेकिन आप तो डालडा के कारखाने चलाते हैं?"

कहने लगे, "मैं गाय के घी-दूध के सिवा कुछ नहीं खाता हूँ।"

मित्र ने कहा, "हाँ, यह तो आप करते ही हैं। खादी के सिवा आप कुछ नहीं पहनते और कपड़े की मिलें चलाते हैं। गाय के घी-दूध के सिवा और कुछ नहीं खाते और डालडा के कारखाने चलाते हैं! बिलकुल भारतीय संस्कृति के अनुरूप काम! आप बहुत ठीक करते हैं!"

ऐसी व्यावहारिक और पारमार्थिक, दो अलग-अलग सत्ताएँ उसके व्यक्तित्व में दिखाई देती थीं।

आर्थिक संयोजन और पशु

आर्थिक संयोजन में जिस पशु के लिए स्थान नहीं होगा, उस पशु का संरक्षण कानून ही नहीं, विधाता भी नहीं कर सकता। आज मनुष्य की हत्या का निषेध है। गांधी की हत्या जिसने की, उसे भी फाँसी की सजा हुई, एक भिखारी की हत्या जो करेगा, उसे भी फाँसी की ही सजा मिलेगी। मनुष्य के जीवन का समान मूल्य कानून ने मान लिया है। लेकिन क्या इस देश के भूखे और नंगे आदमी को वह कानून बचा सका है? कानून ने मनुष्य को अवध्य करार दिया, लेकिन उसे भी कानून नहीं जिला सका। आर्थिक संयोजन में जिस दिन पशु हमारे जीवन में दाखिल हुआ होगा, उस दिन मनुष्य ने एक बहुत बड़ा सांस्कृतिक कदम उठा लिया। उसके जीवन का विकास हुआ। हम जो यह कहते हैं कि गाय इस देश में अवध्य रहनी चाहिए, और कानून से भी अवध्य रहनी चाहिए, उसका मुख्य कारण यही है। अब तक मनुष्य ही हमारे जीवन में शामिल थे। एक मनुष्येतर प्राणी को हमने अपने जीवन में शामिल किया और केवल धर्म में संकेत नहीं रखा, प्रत्यक्ष व्यवहार में, आर्थिक क्षेत्र में भी हमने उसे स्थान दे दिया। आर्थिक क्षेत्र में जो जानवर

नहीं रहेगा, उसे कौन बचायेगा? जैसे, बकरे को कोई नहीं बचा सका। काशी के सांडों का बुरा हाल है।

एक-एक पशु की समाप्ति

मनुष्यों को अवध्य करार दिया, यह बहुत अच्छी बात है। उसके बाद एक मनुष्येतर प्राणी को अवध्य करार देने का हमने जो सांस्कृतिक कदम उठाया है, उसके साथ कानून भी कदम मिला ले। लेकिन वह प्राणी, वह जीव, तब तक नहीं जी सकता, जब तक आर्थिक संयोजन में उसका स्थान न हो। मोटर-साइकिल और साइकिल के आते ही घोड़ा चला। आज फौजों में भी घोड़ा नहीं है। हमारे जीवन में से वह जा रहा है। राजस्थान में ट्रैक्टर आये और मोटर-साइकिलें आयीं, और ऊँट जाने लगा। हाथी तो पहले से ही बेचारा शौक का जानवर था।

अभी उत्तर प्रदेश में एक शिविर में गया था। एक व्यक्ति से पूछा कि "अब आप घोड़ा नहीं रखते?" तो बोले, "घोड़ा अब नहीं रख सकते, सिर्फ हाथी ही रख सकते हैं।" मैंने कहा, "यह तो आप उल्टी ही बात कर रहे हैं? अगर घोड़ा ही आप नहीं रख सकते, तो हाथी कैसे रख सकते हैं?"

बोले, "घोड़े का खर्च बहुत है।"

मैंने पूछा, "हाथी का खर्च नहीं होता?"

"नहीं, हकीकत यह है कि जब कहीं किसीकी बारात होती है, तब हम उसे किराये पर दे देते हैं। हमें एक बारात के २५ रुपये मिल जाते हैं। महावत का भी खर्च निकल आता है और हाथी का भी।"

इस तरह हमारे सामाजिक जीवन में से एक-एक पशु समाप्त हो रहा है। जो लोग यह कहते हैं कि यह विज्ञान की प्रगति है, यह संस्कृति की प्रगति है, वे हमें धोखे में डाल रहे हैं। इसमें न सांस्कृतिक प्रगति है, न वैज्ञानिक प्रगति है। इसलिए हमारे आर्थिक संयोजन में पशु का भी स्थान होना चाहिए।

अत: यंत्रों के विषय में इतनी ही शर्त है कि उत्पादक उद्योग से मनुष्य के गुण का, मनुष्य की कारीगरी का, मनुष्य की कला का और मनुष्य की शारीरिक शक्ति का उपयोग और विकास होना चाहिए। कम-से-कम इनके साथ उसका

अनुबन्ध होना चाहिए। दूसरी बात, उत्पादन की पद्धति और उत्पादन के उपकरण ऐसे होने चाहिए कि पशु की शक्ति का सम्पूर्ण उपयोग हो, पशु की कला और गुणों का सम्पूर्ण विकास हो।

गुण-विकास के लिए उत्पादन

अब इसमें एक बात हमें और जोड़ देनी है। वह यह कि उत्पादन एक-दूसरे के लिए हो, सामाजिक गुणों का विकास होने के लिए हो। हमारा समाज समन्वयात्मक होगा, व्यवसायात्मक नहीं। इसमें आपके व्रतों में से तीन बातें आयीं। एक तो शरीर-श्रम आया, दूसरा स्वदेशी का व्रत आया और तीसरा असंग्रह अप्रत्यक्ष रूप से आया। सह-उत्पादन होगा और उत्पादन यदि एक-दूसरे के लिए होगा, तो संग्रह की प्रेरणा उसमें से निकल जायगी।

चलन का प्रश्न

यहाँ हम चलन-सिक्के या पैसे के प्रश्न पर भी संक्षेप में विचार कर लें।

पैसा वस्तु का प्रतीकात्मक प्रतिनिधि है। पैसे का अर्थशास्त्र में मूलभूत स्थान यह है कि पैसा जिस अनुपात में वस्तु का प्रतिनिधि होगा, उस अनुपात में उसका मूल्य होगा। दुनियाभर की सरकारों के नोट इकट्ठे हो जायँ, तो वे सारे-के-सारे नोट मिलकर भी रोटी का एक टुकड़ा नहीं बना सकते। पैसे की यह मर्यादा है। दो अनुत्पादक वस्तुएँ हैं—तलवार और तिजोरी। तिजोरीवाला तिजोरी बना नहीं सकता, रखता है। तलवारवाला तलवार से काटता है, लेकिन कोई तलवारवाला तलवार नहीं बना सकता। ये दोनों के दोनों अनुत्पादक हैं। पैसा जब तक वस्तु का प्रतीकात्मक प्रतिनिधि होगा, तब तक पैसे का मूल्य है। जिस दिन पैसा कम या अधिक मात्रा में वस्तु की जगह लेता है, उस दिन पैसा अपने में सौदे की वस्तु बन जाता है। इसे आज आप चलन का भाव कहते हैं। रुपयों का, डालर का भी भाव जब होता है, तब वह पैसा पैसा रहा या वस्तु हो गया? रुपये का भी भाव जब होने लगता है, तब सिक्के और सौदे की चीज में फर्क ही क्या रह गया? उसका भी तो भाव होने लगा, वह नाप नहीं रहा। याने विनोबा जैसे मजाक में कहा करते हैं, थर्मामीटर में भी तापमान रहने लगा।

चलन केवल विनिमय का संकेत है। वह विनिमय का साधन है। वह जिस अंश में वस्तु का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व करता है, उसी अंश में उसकी कीमत रखी जाती है। उसे विनिमय का माध्यम और वस्तु का प्रतीकात्मक प्रतिनिधि वनना होता है। वस्तु की जगह वह नहीं ले सकता।

लोगों ने गांधी से भी पूछा था और अव विनोवा से भी वे पूछते हैं कि "क्या आपका मतलव यह है कि वस्तुओं का विनिमय हो जायगा और वस्तु-विनिमय का कोई माध्यम नहीं होगा ?" वस्तु-विनिमय चीजों की अदल-बदल को कहते हैं। मैंने जूता वनाया और आपके पास आया। आप कहते हैं कि "हमें तो जूते की जरूरत ही नहीं है।" मैं कहता हूँ कि "मुझे कपड़े की जरूरत है।" आप कहते हैं—"मुझे जूते की जरूरत नहीं है, तुम्हें कपड़े की जरूरत है, तो मैं क्या करूँ ? तुम्हारा जूता मैं नहीं ले सकता।" इसी आपत्ति को लोग हमारे सामने वार-वार रखा करते हैं।

सर्वोदय-समाज में कांचन-मुक्ति

सर्वोदय-समाज में कांचन-मुक्ति की जो कल्पना है, वह वस्तु-विनिमय की कल्पना नहीं है। हम विक्रय और विनिमय, दोनों को समाज से उठा देना चाहते हैं। गांधी कहता है कि श्रम विनिमय की वस्तु ही नहीं रहेगा। परिश्रम के वदले में कोई कुछ नहीं लेगा। मेहनत का बदला कुछ नहीं। उत्पादक परिश्रम का बदला कुछ नहीं। बदले के लिए वस्तु नहीं वनेगी। वस्तु आवश्यकता के लिए वनेगी।

मान लीजिये, आपका गाँव किसानों का गाँव है। उसमें जूतों की ज्यादा जरूरत है, कुरतों की कम। इसलिए जूते ज्यादा बनते हैं, कुरते कम बनते हैं। ऐसी हालत में जिसका जूते पर अधिकार है, उसे ज्यादा मिलेगा और जो कुरते वनाता है, उसे कम मिलेगा। आज वस्तु का उत्पादन माँग के अनुसार होता है। वस्तु का मूल्य माँग के पीछे-पीछे चलता है। परन्तु सर्वोदय-समाज में वस्तु आवश्यकता के लिए बनेगी, विनिमय के लिए नहीं। जितने जूतों की आवश्यकता होगी, उतने जूते चमार वनायेगा। जितने कुरतों की आवश्यकता होगी, उतने कुरते दरजी बनायेगा। दरजी ने कुरते बना दिये, चमार ने जूते

वना दिये। दोनों की आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए। इसके लिए आप एक प्रतीक रख देंगे। अब वह आपकी चिट्ठी हो या कौड़ी हो या प्रत्यक्ष श्रम से उत्पन्न कोई वस्तु हो, श्रमजन्य वस्तु हो, यह तो समाज की उस समय की परिस्थिति पर निर्भर रहेगा। लेकिन वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि जिसका संग्रह न हो सके। विनिमय का माध्यम ऐसा होना चाहिए कि जो अपने में संग्रह की वस्तु न बने। पैसा जिस दिन संग्रह की वस्तु बन गया, उस दिन पैसा चलन नहीं रहा, पैसा संपत्ति बन गया। हम इतना ही चाहते हैं कि चलन चलन रहे, चलन संपत्ति न बने, चलन संग्रह की वस्तु न बने। यह वहुत मजे में हो सकता है।*

◆ ◆ ◆

*विचार-शिविर में २४-८-'५५ का प्रातः-प्रवचन।

छोटे मालिक और क्रान्ति : ६ :

जिनको क्रांति में हिस्सा लेना है, उनके सामने दो बातें साफ होनी चाहिए। एक तो यह कि अब इससे दूसरा कोई अच्छा रास्ता नहीं है। और दूसरी यह कि क्रांति यदि सफल हो जाय, तो आज की हमारी जो हालत है, उससे हमारी हालत कुछ अच्छी ही रहेगी।

जो लोग भूमिहीन हैं, उनके बारे में हम कह सकते हैं कि यह बात ठीक लागू होती है। भूमिदान में उन्हें जमीन मिल जायगी। आज का उनका जो सामाजिक रुतबा है, वह कल ठीक हो जायगा। लेकिन जो छोटे-छोटे भूमि-मालिक हैं या छोटे-बड़े भूमि-मालिक हैं, उनके लिए यह चीज कैसे लागू होती है? यह बात हमारे सामने विचार के लिए रखी गयी है।

आमूलाग्र परिवर्तन वांछनीय

हम आज सामाजिक प्रगति में एक ऐसे मुकाम पर पहुँच गये हैं कि आज की स्थिति जैसी है, वैसी नहीं रह सकती। इसे तो बदलना ही होगा। प्रश्न है कि इसके बदलने की दिशा क्या होगी? इसके बदलने की दो दिशाएँ दो तरह के लोगों ने हमारे सामने रखी हैं। सबको यह अवसर दे दो कि हरएक अपनी-अपनी पूरी ताकत लगाये और अपनी स्थिति सुधार ले। याने जो जितना कमा सके, वह उतना कमा ले, ऐसा अवसर हरएक को दे दो। समाज में आज तक इसका प्रयोग हुआ। इसे हमने 'प्रतियोगिता' कहा, 'होड़' कहा। इसका नतीजा यह हुआ कि कुछ लोग बहुत आगे निकल गये। जो आगे निकल गये, होड़ में जीत गये। फिर वे सौ में से दस ही क्यों न हों! वे अमीर बन गये और कुछ लोग होड़ में पीछे रह गये। वे किसी समय परिस्थिति के कारण पीछे रह गये और फिर एक दफा जो पीछे रहे, सो रहे। फिर आगे निकलना बहुत मुश्किल हो गया, ऐसी परिस्थिति बनी। अतः आज की परिस्थिति में आमूलाग्र परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया है। इसलिए क्रांति के सिवा

दूसरा कोई चारा नहीं रह गया। आज जो क्रांति हमें करनी है, वह सबके हित की होगी, सबके लाभ की होगी।

अब इसमें जो सबसे नीचे है, उस आदमी का लाभ तो समझ में आता है। लेकिन जो बीच में हैं, जो बिलकुल ऊपर भी नहीं हैं और बिलकुल नीचे भी नहीं हैं, ऐसे जो छोटे-छोटे मालिक हैं, इनकी समस्या हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या है। वर्गों का आज का जो नक्शा है, वह नक्शा ही ऐसा है कि सौ में गैर-मालिक दस होंगे, बड़े मालिक दस होंगे और बाकी के सब छोटे-छोटे मालिक हैं।

छोटे मालिकों की स्थिति

इन छोटे मालिकों की स्थिति क्या है? छोटी मालकियत अपने में पर्याप्त नहीं है। यदि हरएक छोटे मालिक की मालकियत उसके अपने लिए पर्याप्त होती, तो आज समाज में हमें जो असंतोष दिखाई देता है, वह दिखाई नहीं देता। आज छोटे-छोटे किसानों की क्या हालत है? यही कि जिसके पास तीन-चार एकड़ जमीन है, उसकी यह कोशिश रहती है कि जमीन बढ़े। उन लोगों को हमें यह समझाना है कि तुम्हारे पास जितनी मालकियत है, वह मालकियत आज तुम्हारे लिए काफी नहीं है। इससे ज्यादा मालकियत अगर तुम चाहते हो, तो उसे हासिल करने की कोशिश में समाज में फिर प्रतियोगिता आयेगी। अभी तक प्रतियोगिता का जो नियम जारी रहा है, वही समाज में चलता रहेगा और आज की समाज-रचना को, जिसे आप बदल देना चाहते हैं, उसे बदलने में न हमें सफलता मिलेगी, न आपको। बड़े मालिक को हम समझाते हैं कि बड़ी मालकियत अब रहनेवाली नहीं है, क्योंकि बड़ी मालकियत तो इन छोटे मालिकों के और मजदूरों के भरोसे चलती है। बड़े मालिक की मालकियत उसके अपने भरोसे पर नहीं चलती।

अक्सर यह देखने में आता है कि बड़ा मालिक छोटे मालिक से यह कहता है कि "मालकियत जायगी, तो सिर्फ मेरी थोड़ी ही जायगी, तेरी भी तो जायगी। मेरे १०० एकड़ जायेंगे, तो तेरे १० एकड़ भी जानेवाले हैं।" और वह डरता है कि "मेरे दस एकड़ जायेंगे, तो क्या होगा?" सौ एकड़वाला कहता है कि "दस एकड़ बचाना है न? तो हम सब मालिक-मालिक एक हो जायँ।"

सवाल है कि आखिर वे कैसे समझेंगे कि क्रांति सफल होने के बाद हमारा लाभ होगा? प्रायः देखा जाता है कि मालिक चाहे एक एकड़ का हो, चाहे सौ एकड़ का, जब मौका आता है, तब सब मालिक एक हो जाते हैं। अब हमें करना यह है कि गैर-मालिक और छोटे मालिक, इन दोनों को एक-दूसरे के साथ मिला दें। छोटे मालिक और गैर-मालिक यानी भूमि-हीन और छोटे किसान, इन सबको एक-दूसरे से मिला देने की प्रेरणा कहाँ से आयेगी? उन्हें हम कैसे बतलायेंगे कि क्रान्ति यदि सफल हो जायगी, तो आज की तुम्हारी जो हालत है, उससे तुम्हारी हालत अच्छी होनेवाली है? यह बात हम उनके सामने कैसे रखें? हमारे सामने अब इतना ही सवाल रह जाता है।

ढाँचा बदलना आवश्यक

सबसे पहली बात उन्हें हम यह समझाते हैं कि आज तुम्हारे पास जितनी मालकियत है, क्या वह मालकियत तुम्हारे लिए काफी है? आज की तुम्हारी मालकियत बढ़ेगी, तो तुम्हारे जैसे जो दूसरे छोटे मालिक हैं, उनकी भी मालकियत बढ़ सकती है। लेकिन इसका नतीजा यह होगा कि कुछ छोटे मालिक गैर-मालिक बनेंगे, तभी इन छोटे मालिकों की मालकियत बढ़ेगी। केवल बड़े मालिकों की मालकियत खतम हो जाने से छोटे मालिकों की मालकियत नहीं बढ़ती है।

एक दफा वेतन-आयोग ने मुझसे पूछा, "तुम क्या करना चाहते हो?" मैंने कहा—"यही कि बड़े-बड़े लोगों की तनख्वाहें कम कर दी जायँ।"

"कितनी तनख्वाहें चाहते हो?"

मैंने कहा, "कम-से-कम सौ रुपया रखो, ज्यादा-से-ज्यादा हजार रुपया रखो। इससे ज्यादा जिसकी तनख्वाह हो, उसे कम कर दो और बाकी के लोगों को बाँट दो। हजार से ज्यादा पानेवाले कितने हैं?" तो सारे प्रान्त में कोई २५-३० लोग ही निकले। उनकी तनख्वाहें बाँटने से इनकी तनख्वाहें बढ़ नहीं सकती थीं। इसलिए आज की नौकरियों की तनख्वाहों का ढर्रा ही आमलाग्र बदलना पड़ेगा, यह बात सबके ध्यान में आ गयी।

स्कूल के मास्टरों और मेहतरों, दोनों ने हड़ताल की कि हमारी तनख्वाहें

बढ़ जानी चाहिए। मुझसे सरकारी अधिकारियों ने सलाह ली कि "तुम होते, तो क्या करते ?"

मैंने कहा कि "मैं होता, तो कुछ ऐसा काम करता कि आप मुझे महमूद तुगलक कहते !"

पूछा—"सो कैसे ?"

मैंने कहा कि "इन मास्टरों में से एक को मैं म्युनिसिपैलिटी का अध्यक्ष बनाकर कह देता कि अब तुम तनख्वाह बढ़ा दो। मेहतरों की हड़ताल होती, तो एक मेहतर को उपाध्यक्ष बनाकर उनसे कहता कि अब तुम दोनों मिलकर तनख्वाह बढ़ाओ। तब वे कहते कि इस म्युनिसिपैलिटी का ढाँचा ही बदलना चाहिए।" आज म्युनिसिपैलिटी की जैसी रचना है, जिस तरह से हमें तनख्वाहें दी जाती हैं, ये सारी रचनाएँ ही हमें बदलनी होंगी।

मालकियत का बँटवारा हो

आज छोटे मालिक के मन में यह स्वप्न है, उसे यह आशा है कि मैं अपनी मालकियत को आज के समाज में बढ़ा सकता हूँ। उसे यह समझा देना है कि तेरी (सभी छोटे मालिकों की) मालकियत तो बढ़ ही नहीं सकती और जिन छोटे मालिकों की मालकियत बढ़ेगी, उसके कारण आज जो छोटे मालिक हैं वे गैर-मालिक बनते चले जायेंगे। वे अगर गैर-मालिक बनते चले जायेंगे, तो तेरे मन में जो झगड़ा है, वह सारे समाज के मन में पैदा हुए बिना नहीं रहेगा। इसलिए तुझे अपनी छोटी मालकियत दूसरे छोटे मालिकों के साथ मिला देनी चाहिए और गैर-मालिकों को अपनी छोटी मालकियत में शामिल कर लेना चाहिए। आज की तेरी जो हालत है, उससे कहीं बेहतर हालत हो सकती है। आज तो तेरी मालकियत निर्वाह के लिए भी काफी नहीं है, लेकिन उस दिन जब सारी छोटी मालकियतें मिल जायँगी, तो सबका मिलकर जो उत्पादन होगा, उसके वितरण में आज की अपेक्षा अधिक न्यायसंगत वितरण की योजना बन सकती है। आज तो अपने लिए केवल तू ही जिम्मेवार है, उस दिन सब सबके लिए जिम्मेवार हो सकते हैं। इस प्रकार की एक प्रेरणा छोटे मालिकों के मन में हम पैदा करते हैं और मेरा अपना अनुभव है कि पढ़े-लिखे

लोगों को यह समझने में भले ही थोड़ी-बहुत दिक्कत हो, गाँव के आदमी जो छोटे मालिक हैं, छोटे किसान हैं, उनकी समझ में हमारी बात बहुत जल्दी आ जाती है।

क्रान्ति के अनुकूल भूमिका

गरीब आदमी और छोटा किसान जमाने की आकांक्षा के कारण इतना तो जरूर समझ लेता है कि इस क्रांति में कोई ऐसी बात है, जिससे मेरे साथ जो छोटे मालिक हैं, वे आज से अच्छी हालत में रहनेवाले हैं। अपनी, या हरएक की अपनी-अपनी, हालत आज या कल अच्छी होगी, यह प्रेरणा कम होती है, अधिक प्रेरणा यह होती है कि जिस वर्ग में मैं रहता हूँ, मेरे जैसे जो दूसरे आदमी हैं, उनकी कल क्या हालत होगी? इसका विचार जब मनुष्यों के मन में पैदा होता है, तब 'क्रांति के लिए अनुकूल भूमिका और अनुकूल संगठन' उत्पन्न होता है। हरएक व्यक्ति जब अपना ही अपना विचार करता है, तो उसमें से क्रांति नहीं होती। क्रांति तब होती है, जब हर आदमी अपने साथ अपने-जैसे दूसरे आदमियों का विचार करता है और वह इसलिए करता है कि सबको मिलकर एक-दूसरे का संरक्षण करना है। एक दिन सारे रिक्शेवाले एक हो जाते हैं, सारे टाँगेवाले एक हो जाते हैं, सारे मालिक एक हो जाते हैं, और इसलिए एक हो जाते हैं कि उनमें एक प्रकार की समानता होती है। छोटे मालिकों में यह जो समानता है, उसके आधार पर हम उन्हें समझाते हैं कि आज तुम छोटे मालिक हो, लेकिन छोटे मालिकों में भी छोटे-बड़े हैं ही। छोटों में भी जो छोटे-बड़े हैं, उन सबको समान बनाने का इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

समाज में ही क्रान्ति हो

कुछ भूमिहीन मजदूर आज ऐसे हैं, जिन्हें दिन में दो-दो, तीन-तीन रुपये मिल जाते हैं! वे हमसे कहते हैं कि हमें तो आज महीने में १०० रुपये मिल जाते हैं और तुम्हारी जमीन आयेगी, तो मेहनत-मशक्कत भी करो और इसके बाद भी बड़ी मुश्किल से जो उपज होगी, वह १०० रुपये महीने के बराबर

तो होगी ही नहीं। इसलिए हमें जमीन नहीं चाहिए। हम तो नागपुर में रिक्शा चलाते हैं, वही अच्छा है।

ऐसे मजदूर को समझाना बहुत मुश्किल हो जाता है। उसे यह समझाना पड़ेगा कि इस रिक्शे का आज जो किराया तुझे मिलता है, वह किराया कितने दिनों तक मिलता रहेगा? यह किराया देनेवाले लोग समाज में कितने दिन रह सकेंगे और उनकी तनख्वाहों की कितनी निश्चितता है? ये सारी बातें जब हम उनके सामने रखते हैं, तब रिक्शावालों के यूनियन में पहले तो रिक्शे का किराया बढ़ने की माँग होती है और उसके बाद यह माँग होती है कि इस समाज में ही क्रांति होनी चाहिए।

आज रिक्शावालों की यूनियन का कहना है कि जब तक ताँगे चलेंगे, तब तक हमारा काम नहीं चलेगा। किसान कहता है, "अनाज सस्ता हो गया, हम मर गये"। मजदूर कहता है, "अनाज सस्ता हो गया, हम तर गये"। इस तरह के अन्तर्विरोध सिर्फ अमीरों और गरीबों के ही बीच में, मालिकों और मजदूरों के ही बीच में नहीं हैं। पूँजीवाद के कारण, प्रतियोगिता के कारण, जितने अन्तर्विरोध हैं, वे समाज के अन्तिम स्तर तक, छोटे-से-छोटे स्तर तक चले गये हैं। उनको हम उन्हींकी ही भाषा में समझायें और अब तक का अनुभव यह है कि उनकी भाषा में हम यह बात उन्हें समझा सकते हैं। इस देश का आदमी बहुत चतुर है। विनोबा हमेशा कहते हैं कि हमारे देश का आदमी तो ऐसा है कि वह ब्रह्म और माया को समझता है। फिर वह भला यह नहीं समझ सकेगा कि गरीबी किस तरह से खतम होती है, अमीरी किस तरह से खतम होती है? जड़ की बात, मूल बात बड़ी जल्दी उसकी समझ में आ जाती है। उसे समझाने के लिए हम नैतिक और सांस्कृतिक प्रेरणा का भी उपयोग कर सकते हैं। विनोबा तो धार्मिक प्रेरणा का उपयोग कर ही रहे हैं। देहाती के दिल में आकांक्षा के अनुरूप क्रांति की प्रेरणा जितनी होती है, उतना क्रांति का संदेश बगैर भाषा के भी उनकी समझ में बहुत जल्दी आ जाता है।*

● ● ●

* श्री मनुभाई पंचोली और श्री वजुभाई शाह के प्रश्नों के उत्तर में २४-८-'५५ का प्रवचन।

राजनीति—सम्प्रदायवाद : जातिवाद : १० :

हमारा मूल सिद्धान्त है—भेद से अभेद की ओर जाना। भेद से अभेद की ओर जाने का आरम्भ ममता (ममत्व) से होता है और उसका पर्यवसान तादात्म्य में होता है। अर्थनीति, राजनीति, समाजनीति, सभीमें हमारा यह सिद्धान्त अनुगत रहेगा। हम इस सिद्धान्त के आधार पर ही सारे सुधार और क्रान्तियों का विचार करेंगे। लोकशाही का आधार भी हम इसे मानते हैं।

एकता का स्फुरण

आखिर एक मनुष्य दूसरे के साथ रहना चाहता है, इसका आधार क्या है? आधार यही है कि वह दूसरे के साथ अपनी एकता का अनुभव करता है और यह अनुभव भी उसका बुद्धिपूर्वक नहीं है, सहज है। यह एकता का ज्ञान एकता का प्रबोध नहीं है। यह 'एकता की चेतना' नहीं है। इसे 'एकता का स्फुरण' कहते हैं। स्फुरण से तात्पर्य है, जैसे 'मैं हूँ' इसका भान। मनुष्य बाहर जाने के समय यह नही सोचता कि 'मैं हूँ कि नहीं' यह पहले देख लूँ, फिर बाहर जाऊँ। 'मैं हूँ' का स्फुरण नित्य स्फुरण है। इसी तरह से दूसरे के साथ अपनी एकता का स्फुरण नित्य स्फुरण है।

इसका आरम्भ ममता से होता है। मैत्रेयी से याज्ञवल्क्य ने कहा था—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' अपने लिए सभी कुछ प्रिय है। जब कोई मर जाता है, तो हम कहते हैं कि उसके लिए तो ठीक हो गया, पर हम अपने लिए रो रहे हैं। अर्थात् हमारा उसके साथ जो संबंध था, उसके लिए हम रो रहे हैं। हमारी जो ममता थी, उसके कारण हम रो रहे हैं। यह आरम्भ की भावना हो गयी।

अब हम देखें कि तादात्म्य की भावना में क्या है? वह आपको क्यों प्रिय है? इसीलिए कि आत्मरूप से आप-वह एक ही हैं। आपमें और उसमें मूलभूत एकता है। अतः आप दोनों एक-दूसरे के साथ एकता का अनुभव करते

हैं। जहाँ से आरम्भ हुआ, वह 'नैतिकता' है और जहाँ उसकी परिसमाप्ति होती है, उसे 'मोक्ष' कहते हैं, 'आध्यात्मिक अनुभूति' कहते हैं, 'अपरोक्षानुभूति' कहते हैं।

लोकसत्ता और लोकनीति

यह जो तादात्म्य का अनुभव है—यह राज्यातीत स्थिति का आधार होता है। लोकसत्ता का आरम्भ ममत्व से होता है। और जिसे हम 'राज्यातीत स्थिति' या 'शासन-मुक्ति' कहते हैं, उसका आधार इस अवस्था में होता है कि सभी लोग एक-दूसरे के साथ अपनी एकता अनुभव करते हैं। फिर किसीका राज किसी पर नहीं रहता। मेरा राज आप पर नहीं, आपका राज मुझ पर नहीं। अपना राज अपने पर। 'आपणे' शब्द गुजराती है। 'आपणे' जिसमें 'मैं' और 'तू', दोनों एक हो जाते हैं। जो 'मैं' का भी वहुवचन नहीं है और 'तू' का भी वहुवचन नहीं है। 'मैं' और 'तू' दोनों मिलकर जो वहुवचन है, उसका राज्य 'लोकसत्ता' कहलाता है। हिन्दी में 'अपन' शब्द पहले था, लेकिन अब 'अपन' के लिए 'हम' शब्द आ गया। 'अपन चलें'—मैं और तू, दोनों चलें, यह आज देहाती प्रयोग माना जाता है। खड़ी वोली से यह 'अपन' चला गया। उसके स्थान पर कहते हैं—'हम चलें'। यह जो 'अपन' का राज्य और 'अपन' की सत्ता है, यही **'लोकसत्ता'** कहलाती है। अर्थात् जिसमें 'मैं' और 'तू' का भेद समाप्त हो जाता है। मेरी सत्ता तुम पर नहीं, तुम्हारी सत्ता मुझ पर नहीं। अपनी सत्ता अपने पर। यही वास्तविक 'लोकसत्ता' कहलाती है। इस लोकसत्ता का विचार जिस नीति में होता है और इस लोकसत्ता की आधारभूत जो नीति होती है, उसे हम 'लोकनीति' कहते हैं। लोकनीति का अन्त कभी नहीं होता। राजनीति का अन्त हमारा उद्दिष्ट भी है, हमारा इष्ट भी है।

राज्यशास्त्र की आकांक्षा

राज्यशास्त्र के हर ग्रन्थ के अन्त में यह आकांक्षा प्रकट की जाती है कि एक दिन वह आये, जब कि राज्य की आवश्यकता ही न रहे। कम्युनिस्ट या सोशलिस्ट जिसे राज्य का स्वतः सूखे पत्तों की तरह झड़ जाना कहते हैं, वह

अलग सिद्धान्त है। लेकिन राज्यशास्त्र में हर ग्रन्थकर्ता की यह अन्तिम आकांक्षा रहती है कि भगवान् वह दिन कभी आये, जिस दिन राज्य की समाप्ति हो जाय। राज्यशास्त्रियों ने यह कल्पना कर ली है कि विश्व में एक दिन ऐसा था, जब राज्यसंस्था नहीं थी। जैसे जाति-भेद के विषय में कल्पना है कि एक दिन ऐसा भी था, जब कोई जाति ही नहीं थी। एक ही जाति थी। किसी युग में ऐसा था, ऐसा मानते हैं। राज्यशास्त्रियों ने यह माना। हाब्स ने ऐसा माना है कि मनुष्य की कभी ऐसी एक प्राकृत अवस्था थी। जैसे हमने सत्ययुग माना। बाइबिल ने माना कि सभी मनुष्य कभी-न-कभी निरपराध थे। जब पैदा हुए थे, तब आदम और हौआ, दोनों निरपराध थे। उसी तरह कभी ऐसी स्थिति थी कि राज्य-संस्था थी ही नहीं। उसके बाद मनुष्यों में विकार पैदा हुए, स्वार्थ पैदा हुए। इसलिए राज्य-संस्था की आवश्यकता पैदा हुई। राज्य-संस्था का प्रयोजन क्या है? प्रयोजन यह है कि फिर से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो कि राज्य-संस्था की आवश्यकता न रहे। लोगों का यह खयाल है कि यह एक असम्भव कल्पना है। चाहे असंभव हो या संभव, लेकिन राज्य-संस्था का उद्देश्य यही है कि एक दिन ऐसा आये, जिस दिन लोगों को राज्य-शासन की आवश्यकता ही न रहे। शासन किसलिए है? लोगों को शासनातीत बनाने के लिए। यह राज्य-शासन का शास्त्रीय प्रयोजन है। वैद्य से पूछते हैं कि "वैद्यशास्त्र का शास्त्रीय प्रयोजन क्या है?" तो कहता है कि ऐसी स्थिति पैदा हो कि दवा की आवश्यकता ही न रहे। रामबाण दवा वह है, जिसे एक बार लेने के बाद फिर से लेने की आवश्यकता नहीं रहती। राज्यशास्त्र में वह शासन-पद्धति अच्छी समझी जाती है कि जिस शासन-पद्धति के बाद फिर शासन की ही आवश्यकता न रहे। राज्यशास्त्र इसीलिए है कि मनुष्यों में इतना अनुशासन आ जाय कि शासन की आवश्यकता न रहे।

नागरिकों में जब एक-दूसरे से भय पैदा होता है, तब राज्य-व्यवस्था की आवश्यकता होती है। जब इस भय का निराकरण हो जाता है तथा नागरिकों में परस्पर विश्वास की स्थापना हो जाती है, तब राज्य-शासन की आवश्यकता नहीं रहती। राज्य-संस्था एक अनिवार्य आपत्ति मानी जाती है। आज अनिवार्य है, इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह हमेशा अनिवार्य बनी रहेगी।

अप्राकृतिक विभाजन

मनुष्य के आदर्श हमेशा नैतिक या पारमार्थिक होते हैं, राजनैतिक या अर्थनैतिक नहीं। आज तक हुआ क्या है? दार्शनिकों ने इस विश्व को केवल समझने की ही चेष्टा की। जैसी सृष्टि हमारे सामने है, इस सृष्टि को समझने की चेष्टा दार्शनिकों ने की और उन्होंने अपने प्रयत्नों के परिणाम हमारे समक्ष रखे। वैज्ञानिकों ने प्रकृति के नियमों का केवल साक्षात्कार किया, केवल शोध किया। किन्तु विश्व को बदलने का काम किनके हाथों में रह गया? अर्थशास्त्रियों के भी नहीं, राज्य-नेताओं के हाथ में, जो न तो दार्शनिक थे, न वैज्ञानिक। दर्शनमूढ़ और विज्ञानमूढ़ लोगों के हाथों में समाज और सृष्टि को वदलने का काम आया। आज दार्शनिक अलग है, वैज्ञानिक अलग है और नागरिक अलग है। यह विभाजन ही अप्राकृतिक है, अवैज्ञानिक है, सर्वथा कृत्रिम है। यह मनुष्य के जीवन में व्यर्थ ही हवावन्द दरवे वना देता है। उसके व्यक्तित्व को समग्र के स्थान पर वहुव्यक्तित्व में वदल देता है। इस प्रकार का व्यक्ति लोक-सत्ता का आधार नहीं हो सकता। इस विच्छिन्न व्यक्तित्व में से लोक-सत्ता का निर्माण नहीं हो सकता।

राजा विष्णु का अवतार

संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है कि जो राजा का कार्य करता है, उसे जनता नहीं चाहती। जो जनता का काम करता है, उसे राजा छोड़ देता है। **इति महति विरोधे, नृपतिजनपदानाम् दुर्लभः कार्यकर्ता।** ऐसा महान् विरोध है। इसलिए राजा का भी काम करे और प्रजा की भी भलाई करे, ऐसा कार्यकर्ता वहुत दुर्लभ होता है। नरपति का हित अलग है और जनपद का हित अलग है। इन दोनों का समन्वयं करनेवाले कार्यकर्ता को 'राजनीति-निपुण' कहते हैं। उसे इधर भी सँभालना है और उधर भी सँभालना है। लेकिन होना यह चाहिए कि राजा का हित गौण और प्रजा का हित मुख्य हो और एक दिन ऐसा आना चाहिए कि जिस दिन राजा का हित प्रजा के हित में विलीन हो जाय। लेकिन हो गया उल्टा। राजा को विष्णु का अवतार समझा गया। 'विष्णु के सिवा

पृथ्वी का पति कोई नहीं', शायद ऐसा कहा गया होगा। पर राजनीति-निपुण लोगों ने उसका अर्थ यह कर लिया कि पृथ्वी का जो मालिक है, वह विष्णु ही है। एक प्रमेय बना दिया कि जो-जो पृथ्वी का मालिक है, जमींदार से लेकर तख्त पर बैठे हुए बादशाह तक, सब विष्णु ही हैं। इस अधिकार को लोग 'ईश्वरदत्त अधिकार' कहने लगे। विष्णु का अवतार हो जाने के कारण काल पर भी राजा की सत्ता चलने लगी। केवल पंचतत्त्वों ही पर नहीं, सृष्टि पर ही नहीं, जमाने पर भी उसका शासन चलने लगा। कहा जाने लगा—अकबर का जमाना, औरंगजेब का जमाना। **'कालो वा कारणं राज्ञः, राजा वा कालकारणम्। इति ते संशयो मा भूत्, राजा कालस्य कारणम्॥'** राजा ही काल का कारण है और फिर **'यथा राजा तथा प्रजा।'** मनुष्य ने एक बार एक भूमिका को स्वीकार कर लिया। फिर सूत्र के बाद सूत्र बनते गये। फल क्या हुआ? यही कि जिन्हें हम 'लोक' कहते हैं, उसमें कोई शक्ति नहीं, लोक का कोई अस्तित्व नहीं और लोक की कोई सत्ता नहीं। सत्ता का असली अर्थ है प्रभावशाली अस्तित्व।

राज्य का अधिष्ठान : लोकसत्ता

मैंने हवाई जहाज में एक नौजवान से कहा कि "मुझे खिड़की के पास बैठने दो।"

उसने कहा—"बाहर अँधेरा है, क्या देखोगे?"

मैंने कहा—"अँधेरा ही देखूँगा।"

अब वह हैरान है। बोला—"अँधेरा क्या देखोगे? आँखें बन्द कर लो, तो अँधेरा ही दिखाई देगा।"

मैंने कहा—"जिसकी आँखें बन्द होती हैं, उसे तो रोशनी भी नहीं दिखाई देती और अँधेरा भी नहीं दिखाई देता।"

आँखें बन्द करने से कुछ अँधेरा दिखाई नहीं देता है। आँखें खुली रहने से अँधेरे को आदमी देखता है, क्योंकि आँख में रोशनी होती है। अँधेरा, मेरी आँखों में जो रोशनी है, उससे प्रकाशित होता है। यही 'सत्ता' कहलाती है। अँधेरे पर भी प्रकाश की सत्ता होती है। जब अँधेरा प्रकाशित होता है,

दिखाई देता है, नहीं तो अँधेरा दिखाई ही नहीं देता। यदि पूछा जाय कि "अंधेरा है, यह आपने कैसे जाना ?" तो कहा जाता है कि "दिखाई दे रहा है। पर यदि हम उसे लालटेन लेकर देखते हैं, तो वह गायव हो जाता है !"

अँधेरे के पीछे जो सत्ता है, वह प्रकाश की है। इस तरह से हम भगवान् की सत्ता मानते हैं। राज्य के पीछे जो सत्ता होती है, वह लोगों की सत्ता होती है। सामाजिक इकरारनामे का जो सिद्धान्त है, उसके मूल में यह वात है कि राज्य चाहे जितना प्रभावशाली हो, राजा चाहे जितना वड़ा हो, उसका अधिष्ठान हमेशा 'लोकसत्ता' है। लोगों की सरकार हो या न हो, पर लोकसत्ता यदि न हो, तो राजा का अस्तित्व ही नहीं। इस वात को सव भूल गये थे। फल यह हुआ कि राजा के हाथ में सव अधिकार सौंप दिये। उसे अपना कल्याणकर्ता माना। कल्याण करने का अधिकार भी हमने उसे दे दिया।

राजा को अनियंत्रित अधिकार

वचपन में हमने एक कहानी पढ़ी थी कि एक वड़ा जमींदार था। वह सवेरे उठ नहीं सकता था। घंटियाँ वजती थीं, लोग उसे उठाते थे, पर वह उठता नहीं था। वड़ा आदमी था। एक दिन उसने अपने नौकर से कहा—"मैं कल से सवेरे घूमने जाना चाहता हूँ। तू मुझे सवेरे उठा दिया कर। तभी तुझे तनख्वाह मिलेगी।"

दूसरे दिन नौकर ने उसे वहुत पुकारा, पर वह जगा ही नहीं।

उठने पर नौकर से वोला—'तूने मुझे जगाया ही नहीं ?'

नौकर ने कहा—'हुजूर, मैंने आपके कान के पास आकर आवाज दी, पर आप उठे ही नहीं।'

'फिर तेरी तनख्वाह नहीं मिलेगी !'

तीसरे दिन नौकर ने जाकर उसे खूव हिलाया-डुलाया, फिर भी वह नहीं उठा।

चौथे दिन नौकर ने उस पर पानी उँड़ेल दिया। इस पर वह उठा और नौकर को एक तमाचा मारकर फिर सो गया।

पाँचवें दिन नौकर ने फिर उस पर पानी उँड़ेला और जव वह उठा, तो

नौकर ने ही उसे एक तमाचा लगा दिया। दोनों में कुश्ती हो पड़ी। तब वह उठ खड़ा हुआ और उसने यह बात मंजूर की, "हाँ—आज तूने मुझे जगाया है !"

इसी तरह का राज्यसत्ता का आधार है। इसे 'दंड' कहते हैं। हमने राजा को यह सत्ता दी। लेकिन हमने अपने को इतना गाफिल और बेवकूफ समझ लिया कि राजा से कह दिया कि "हमारा कल्याण करने की सारी सत्ता हम तेरे हाथ में देते हैं, कल्याण करने के लिए हम यदि स्वयं तैयार न हों, तो तू मार-मारकर हमारा कल्याण कर। लेकिन, कल्याण का ठेका तेरा है।" यह अनियंत्रित सत्ता हमने राजा को दे दी। इसे हम **'अनियन्त्रित राजसत्ता'** कहते हैं।

तीन सिद्धान्त-शास्त्री

इस सिद्धान्त के निर्माताओं में तीन नामों का बड़ा महत्त्व है—हाब्स, लॉक और रूसो। इन्हींकी बदौलत राज्यशास्त्र का व्यापक विकास हुआ है। इनके बाद मार्क्स का प्रमुख स्थान है।

हाब्स—**'अनियंत्रित राजसत्तावादी'**।

लॉक—**'नियंत्रित राजसत्तावादी'**।

रूसो—**'लोकसत्तावादी'**। राजसत्ता का निराकरण और लोकसत्ता की स्थापना का आरम्भ।

मार्क्स ने **'लोकसत्ता'** शब्द का प्रयोग नहीं किया, उसने उसे **'दलित मानव की सत्ता', 'दलित अधिराज्य'** नाम दिया। उसका असली अर्थ था **'गरीबों का लोकतन्त्र'**।

लोकसत्ता का मूल

अब प्रश्न यह है कि इन विचारों की जड़ कहाँ है? इनमें विरोध कैसे पैदा हुआ? लोकशाही की जड़ कहाँ है?

हर अच्छे आदमी में कुछ-न-कुछ बुराई होती है। लेकिन दुनिया में जो बात मानी नहीं जाती और जो मानी जानी चाहिए, वह यह है कि हरएक दुष्ट में कुछ-न-कुछ अच्छाई होती है। यह लोकसत्ता का आधार है। जंजीर

की जो सबसे कमजोर कड़ी होती है, वह कड़ी जंजीर की मजबूती बतलाती है। साधारण नागरिक लोकसत्ता का आधार है। लोकसत्ता की विभूति है—सर्व-साधारण मनुष्य, जन-समुदाय नहीं। 'समुदाय' बिलकुल भिन्न चीज है। भीड़ में मनुष्य खो जाता है। चतुर समाजवादी और साम्यवादी 'समूह' नहीं कहते, लोग जनता कहते हैं।

'लोक' की व्याख्या

शंकराचार्य ने 'लोक' की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—'लोक्यते इति लोकः।' 'लोकयति इति लोकः।' अर्थात् जो दिखाई देते हैं और जो देखने-वाले हैं, वे दोनों 'लोक' हुए। जिनके आँखें हैं, वे लोक हैं अर्थात् उनमें अपनी चेतना भी होनी चाहिए। मनुष्य केवल एक पिण्डमात्र नहीं है, उसमें अपनी भी कुछ दृष्टि, अपनी भी कुछ चेतना होनी चाहिए। दोनों बातें उसमें होनी चाहिए। अर्थात् सबको दिखाई भी दे और खुद देखने की शक्ति भी रखता हो। आज क्या है? आज केवल दिखाई देता है, पर देखने की शक्ति उसमें है, यह कोई नहीं मंजूर करता।

लोकसत्ता का आधार

प्रश्न है कि लोकसत्ता में होना क्या चाहिए? लोकसत्ता में दो बातें आती हैं—उसमें सबके लिए व्यवस्था हो। लेकिन सबके लिए व्यवस्था होना ही पर्याप्त नहीं है। उस व्यवस्था में सबका हिस्सा भी हो, सबका त्याग भी हो। सबका हिस्सा है 'वोट', मत और सबका त्याग है 'टैक्स', कर। सोचने की बात है कि 'कर' का सिद्धान्त कहाँ से आता है? 'कर' क्यों लेते हैं? इसीलिए लेते हैं कि उसमें सबका त्याग हो, सबका हिस्सा हो। सबका अधिकार होना चाहिए, इसलिए 'वोट' है। 'वोट' अधिकार का प्रतीक है, 'कर' त्याग का। हर नागरिक का त्याग भी हो, हर नागरिक का अधिकार भी हो। व्यवस्था सबके लिए हो, किसी एक के लिए नहीं। १०० में से ९० के लिए भी नहीं।

आस्तिकता या मानव-निष्ठा

लोकसत्ता का आधार क्या है? यही कि साधारण-से-साधारण नागरिक

में भी सत्प्रवृत्ति है, दुर्जन-से-दुर्जन व्यक्ति में भी ईमान है। जो सबसे बेईमान, दुष्ट और शोहदा समझा जाता है, उसमें भी ईमान है। समाज में कुछ अच्छे लोग हैं, कुछ बुरे। अच्छे लोगों में बुराइयाँ हैं और बुरे लोगों में अच्छाइयाँ हैं। इसीलिए लोकसत्ता के लिए आधार है और अवकाश है। यह बात जो नहीं मानता, वह लोकसत्ता को नहीं मानता। यदि कोई व्यक्ति यह नहीं मानता कि साधारण नागरिक सत्प्रवृत्त है, दूसरी रुकावटें उसमें न हों, तो उसकी प्रवृत्ति अच्छी ही रहेगी और दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्यों में भी कुछ सद्गुण होते हैं, तो वह व्यक्ति भले ही बहुत बड़ा नैतिक पुरुष हो, आध्यात्मिक पुरुष हो, सहृदय हो, दयावान् हो, फिर भी वह लोकसत्तावादी नहीं है। उसका लोकसत्ता में विश्वास नहीं है। लोकसत्ता में जिसका विश्वास होगा, उसमें ऐसी श्रद्धा, निष्ठा होनी चाहिए कि जो लोग गुनहगार या समाजद्रोही समझे जाते हैं, समाज जिन्हें बहिष्कृत मानता है, उनमें भी मानवता का अंश छिपा हुआ है। लोकसत्ता के संदर्भ में इसे **'आस्तिकता'** या **'मानवनिष्ठा'** कहते हैं। मनुष्य में निष्ठा का अर्थ ही है—लोकनिष्ठा, मानवनिष्ठा। यही आस्तिकता है।

देवों और राक्षसों की परम्परा

समाज के विकास में एक ऐसा मुकाम आया, जहाँ से लोकसत्ता का आरम्भ हुआ। लेकिन इसका अधिष्ठान मनुष्यों के स्वभाव में है। उसका अधिष्ठान हमारी परंपरा में है। नहीं तो इसका आरम्भ नहीं हो सकता था। हमें देखना है कि हमारी परम्परा में यह अधिष्ठान कहाँ है? संस्कृत भाषा में शैतान के लिए कोई शब्द नहीं है। 'राक्षस', 'दानव', 'दैत्य' ऐसे अनेक शब्द हैं, लेकिन हमारे इन राक्षसों, दानवों और दैत्यों में कुछ तो देवों के ही सौतेले-मौसेरे भाई थे और इनमें से बहुत-से तो देवभक्त और शिवभक्त भी थे। ये लोग शैतान नहीं हो सकते। शैतान के मुकाबले में इनकी कोई हस्ती नहीं है।

सोचने की बात है कि जिसकी कोख से कृष्ण पैदा हुआ, वह भी कंस की बहन हो सकती है। जिसकी कोख से प्रह्लाद पैदा हुआ, वह एक राक्षस हो

सकता है। और जिसकी कोख से रावण पैदा हुआ, वह एक तपस्वी ब्राह्मण हो सकता है। यदि किसीने दानवों को और राक्षसों को एक पृथक् योनि मान लिया है, तो वह 'नास्तिक' है। तपस्वी पतित होता है, तो राक्षस हो जाता है। कंस, शिशुपाल, हिरण्यकश्यपु, हिरण्याक्ष, रावण-कुम्भकर्ण, ये विष्णु के द्वारपाल जय-विजय थे। ये शापभ्रष्ट तपस्वी थे। इसलिए राक्षसों की कोई अलग योनि नहीं मानी गयी है। पुराणों में वर्णन आता है कि जो-जो राक्षस मरा, वह मरते ही भगवान् में समा गया। उसमें से ज्योति निकली और विष्णु में समा गयी। शिशुपाल का शिरच्छेद होते ही ज्योति निकली और भगवान् में समा गयी। कंस मरा, ज्योति निकली और कृष्ण में समा गयी। रावण से ज्योति निकली, राम में समा गयी। इसके बाद रावण और राम एक हो गये ! यह शरीर ही उनके बीच में था। यह एक 'आस्तिकता' है और बहुत बड़ी आस्तिकता है। हमारे यहाँ शैतान के लिए भी भगवान् की सत्ता की आवश्यकता होती है। प्रकाश के बिना अँधेरा दिखाई नहीं देता। भगवान् की सत्ता न हो, तो शैतान दिखाई नहीं देता। शैतान का अपने में स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। बुराई अभाव-रूप है, दुर्गुण अभावरूप है। सद्‌गुण भावरूप है। इसलिए सारे दुर्गुण सद्‌गुणों के आधार पर जीते हैं। दुर्गुण अपने आधार पर कभी जी नहीं सकता। उसे सद्‌गुण का आधार लेना पड़ता है। शैतान जीता है, तो भगवान् के आधार पर जीता है। इसे 'आस्तिकता' कहते हैं। यह लोकसत्ता का आधारभूत तत्त्व है।

आस्तिकता की व्याख्या

पहले वैदिकों को 'आस्तिक' कहते थे। निरीश्वरवादी हो, पर वैदिक हो, तब भी 'आस्तिक' कहलाता था। ईश्वरवादी यदि वेदों को न मानता हो, तो 'नास्तिक' कहलाता था। इसके बाद ईश्वरवादी 'आस्तिक' कहलाने लगा, निरीश्वरवादी 'नास्तिक' कहलाने लगा। आज लोकसत्ता के संदर्भ में, आस्तिक वह है, जिसका मनुष्य की मूलभूत सत्प्रवृत्ति में विश्वास है, जो यह मानता है कि मनुष्य मूलतः सत्प्रवृत्त है और परिस्थितिजन्य विकारों से ही वह दुष्ट होता है। दुनिया में नष्ट, खोया हुआ, कोई नहीं है। सबका उद्धार हो सकता है। लोकसत्ता में सब लोग नागरिक बन सकते हैं।

आस्तिकता की व्याख्या हुई दुर्जन की भी सत्प्रवृत्ति में विश्वास, सामान्य मनुष्य की सत्प्रवृत्ति में मूलभूत श्रद्धा। हर दुर्जन में कुछ ईमान होता है। चोरों में भी ईमान होता है। सटोड़ियों में कोई कागज, कोई दस्तावेज होती है? रूमाल के नीचे उनका हाथ होता है और न मालूम क्या करते हैं? लेकिन वे एक-दूसरे में ईमान रखते हैं। सोचने की बात है कि बाजार में सटोड़िये लोग सत्याचरण कर रहे हैं। चोर सब ईमान के भरोसे चोरी करते हैं। उनका एक-दूसरे पर विश्वास होता है। तो सटोड़ियों में जो ईमान है और चोरों में जो ईमान है, वह क्या प्रतिष्ठित नागरिकों में नहीं आ सकता? वह इसीलिए नहीं आता कि मनुष्यों ने अपने को संप्रदायों में बाँट लिया है, लोकसत्ता को जैसे तमाशा बना दिया है!

पक्ष और लोकसत्ता

बर्नार्ड शॉ ने इसका बड़ा सुंदर वर्णन किया है—'हरएक के द्वारा चुना गया हर कोई', यह आज की लोकसत्ता का स्वरूप है। हरएक को चुनने का अधिकार है और हर किसीको उम्मीदवार होने का अधिकार है। अब लोकसत्ता लोगों की नहीं, उम्मीदवारों की है। लोग कहते हैं कि अगर 'पक्ष' नहीं है, तो लोकसत्ता ही नहीं है और अगर उम्मीदवारी नहीं है, तो लोकसत्ता ही नहीं है। आज की राजनीति में सारे पक्ष एक-दूसरे के दोषों का विचार करते हैं, लोकहित का या समस्याओं के समाधान का विचार गौण हो जाता है।

चुनाव का युद्ध

पक्षसत्ता से मनुष्य की मनोवृत्ति बँट जाती है, उसका संप्रदाय बन जाता है और फिर नागरिकता उम्मीदवारी में परिणत हो जाती है। और फिर चुनाव 'लड़ा जाता' है। अमेरिकावाले कहते हैं—मैं चुनाव में 'दौड़' रहा हूँ। वह उस चुनाव को 'रेस', घुड़दौड़ समझ रहा है। कोई उसे दौड़ समझता है, कोई कुश्ती। हमारे विनोबा कहते हैं—"ऐसा करो भाई, दौड़ भी छोड़ दो, लड़ाई भी छोड़ दो। चुनाव 'लड़ रहा हूँ' मत कहो, चुनाव 'खेल रहा हूँ' कहो। कम-से-कम यहाँ से आरम्भ करो, तो कुछ ठीक होगा। 'चुनाव खेलना' कहोगे, तो इससे कम-से-कम तुम्हारी मनोवृत्ति में तो अन्तर पड़ ही जायगा।"

हरबोंग का राज्य

आज की लोकसत्ता कैसी है ? हर कोई चुना जाता है और सब लोग' उसे चुनते हैं। इस तरह की सरकार बनती है, जिसे हिन्दी में 'हरबोंग का राज्य' कहते हैं। हरबोंग का राज्य, चौपट राज्य । भीड़ का राज। लोकतन्त्र इसमें खो जाता है। एक तरफ तो राज्यसत्ता है—एक मनुष्य की अनियंत्रित सत्ता। दूसरी तरफ लोकसत्ता नहीं है। सबकी सत्ता का मतलब भीड़ का राज्य हो जाता है। 'समुदाय का राज्य' आखिर 'भीड़ का राज्य' में परिणत हो जाता है। पिकविक का एक प्रसिद्ध किस्सा है। एक बार उसका एक दोस्त पिकविक से पूछता है, "जब कभी दिल में शक हो, तो क्या करें ?"

तो वह उसे एक सूत्र बतलाता है, —"जब कभी तुमको, तुम्हारे दिल में शक हो, तो भीड़ के पीछे चलो।"

"दो भीड़ें हों, तो क्या करें ?"

"तो जो भीड़ बड़ी हो, उसके पीछे चलो।"

भीड़ के पीछे जाना, बहुमत के पीछे जाना, लोकसत्ता नहीं है। यहाँ लोगों की सत्ता कहीं नहीं है, भीड़ की सत्ता है। हम भीड़ की पूँछ पकड़कर उसके पीछे चले जाते हैं।

लोकप्रियता का नीलाम

फ्रांस की क्रांति पर कई पुस्तकें लिखी गयीं । कुछ पुस्तकें प्रगतिशील लेखकों ने लिखीं। कार्लाईल, थॉमस पेईन, विलियम कोबेट आदि ने फ्रांसीसी क्रांति के पक्ष में किताबें लिखीं। एडमण्ड बर्क ने उसके खिलाफ। वह जीर्ण-मतवादी था, लेकिन एक बात उसने बड़े पते की लिखी कि "जब इस तरह का भीड़ का राज्य हो जाता है, तो क्या होता है ? नेता कौन है ? जो लोक-प्रियता के नीलाम में जो सबसे बड़ी बोली बोल सकता है, वह नेता बन जाता है। एक तरफ से लोकप्रियता का नीलाम होता है, और दूसरी तरफ से उम्मीदवार की उम्मीदवारी का नीलाम होता है। जिस लोकसत्ता का नीलाम हो सकता है और जिस लोकसत्ता में उम्मीदवारों का नीलाम होता है, वह लोकसत्ता वास्तविक या यथार्थ 'लोकसत्ता' नहीं है।

स्वराज्य की मूल बात

सभी लोग जानते हैं कि यहाँ जितने अंग्रेज आते हैं, वे यहाँ से जाने के बाद इस देश के बारे में कम-से-कम एक किताब जरूर लिख देते हैं। यह सब गवर्नरों ने भी किया, वाइसरायों ने भी किया। बंगाल के एक भूतपूर्व गवर्नर लार्ड रोनाल्ड्स ने एक पुस्तक लिखी है—'हार्ट ऑव हिन्दुस्तान' ('हिन्दुस्तान का हृदय')। इस पुस्तक में वे लिखते हैं कि "देखो, यह गांधी, जिसके पीछे तुम लोग जा रहे हो, क्या चाहता है ? उसके स्वराज्य में रेल नहीं रहेगी, तार नहीं रहेगा, बिजली के चिराग नहीं रहेंगे, टेलीफोन नहीं रहेंगे । भारत के निवासियो, इतना ही नहीं, इसके स्वराज्य में दवाखाने नहीं रहेंगे और वकील नहीं रहेंगे। जरा सोचो तो ? क्या ऐसा स्वराज्य तुम लोग चाहते हो ?"

कांग्रेसवालों को चोट लगी कि ऐसा स्वराज्य तो हम नहीं चाहते । गांधी यदि दरअसल ऐसा स्वराज्य लाये, तो बड़ी मुसीबत होनेवाली है। तब लोक-प्रतिनिधि के नाते गांधी ने 'यंग इंडिया' में इसका जवाब दिया कि "वह तो मेरा अपना, मेरे आदर्श का स्वराज्य है। उसकी स्थापना मैं अवश्य चाहता हूँ, लेकिन कांग्रेस के साथ जिस स्वराज्य के लिए आज मैं कोशिश कर रहा हूँ, वह पार्लमेण्टरी स्वराज्य है।" यह आधुनिक लोकसत्ता की स्थापना का स्वराज्य है, जिसकी परिभाषा गांधी से पहले तिलक ने की थी, क्योंकि हर नेता को इस मामले में बड़ा तंग होना पड़ा है।

तिलक की व्याख्या

बुद्धिवादी हमेशा कहता है, "तुम्हारे स्वराज्य का अन्तिम चित्र बताओ।" नेता कहता है—"भाई, अन्तिम चित्र तो मेरे पास है और नहीं होगा, तो तुम बना लेना। पहले अंग्रेजों को तो यहाँ से जाने दो।"

बुद्धिवादी कहता है—"नहीं-नहीं, तुम्हारा अन्तिम चित्र होना चाहिए।" तो कलकत्ते की कांग्रेस में एनी बेसेंट की अध्यक्षता में तिलक ने उसकी व्याख्या कर दी "आप उसे चाहे 'होमरूल' कहिये, चाहे प्रातिनिधिक स्वराज्य कहिये या अ-ब-क राज्य कहिये, आप चाहे जो नाम दे दीजिये ।" परन्तु हम चाहते

यह हैं कि 'हमारी विधान-सभाएँ पूर्णरूप से लोक-निर्वाचित होनी चाहिए और सारी कार्यकारिणी सरकारें लोक-सभाओं के प्रति पूर्णरूप से जिम्मेवार होनी चाहिए।' यह उन्होंने जड़ की बात बतला दी थी। अब एक बात यह है कि जो कार्यकारिणी सरकार है, उसकी सत्ता कम है, और जो लोकसभा है, उसकी सत्ता सर्वोपरि है। यह लोकसत्ता ही 'पार्लमेंट', संसद् कहलाती है। पार्लमेण्ट इंग्लैण्ड में सर्वोपरि है। सर्वोपरि से मतलब यही है कि उसके ऊपर कुछ नहीं।

किसीने पूछा था कि "पार्लमेंट में क्या ताकत है, पार्लमेंट क्या कर सकती है?" तो जवाब दिया, "स्त्री को पुरुष बना देना और पुरुष को स्त्री बना देना, बस इतना छोड़कर हमारी पार्लमेंट सब कुछ कर सकती है।" पार्लमेंट की अन्तिम सत्ता का यह अर्थ है।

प्रश्न उठता है कि पार्लमेंट सर्वोपरि है या राजा सर्वोपरि है? सत्ता कहाँ होगी? सरकार में सत्ता है याने कार्यकारिणी में है, या लोक-सभा में सत्ता है? वस्तुतः लोकशाही में सत्ता लोक-सभा में होनी चाहिए। सत्ता लोक-प्रतिनिधियों के हाथ में होनी चाहिए।

राज्य और जनता का विरोध

राजा का और लोक-प्रतिनिधियों का झगड़ा इंग्लैण्ड में शुरू हुआ। शायद तीसरे विलियम राजा के जमाने में एक ऐसा मौका आया कि वह सोचने लगा कि अब क्या किया जाय? पार्लमेंट मेरी बात नहीं मानती। अब मैं क्या करूँ? मैं कुछ अच्छा काम करना चाहता हूँ, लोगों की भलाई करना चाहता हूँ, तो यह पार्लमेंट मेरे रास्ते में बड़ी रुकावट डालती है।

आज आप हर चीफ मिनिस्टर (मुख्य मन्त्री) के मुँह से भी यही बात सुनेंगे। आप किसी भी राज्य के चीफ मिनिस्टर से मिलिये। कहेगा—"हाँ, आप तो बिलकुल ठीक कह रहे हैं। मैं भी यही करना चाहता हूँ।"

"फिर करते क्यों नहीं हैं?"

"लेकिन करें कैसे? ऐसा बिल ही पास नहीं होता है असेम्बली में। असेम्बली ही नहीं मानती।"

"लोकहित तुम क्यों नहीं करते ?"

"लोक-प्रतिनिधि हमारे रास्ते में रुकावट डालते हैं।"

तीसरे विलियम राजा ने भी यही शिकायत की कि "क्या करूँ, यह पार्लमेंट मेरे खिलाफ काम करती है।" तो राजा साहब से पूछा गया कि "आपको रुकावट क्यों होती है ?" बोले—"मैं तो राज्य करना चाहता हूँ, पर पार्लमेंट लोगों की प्रतिनिधि है और लोग कभी यह नहीं चाहते कि उन पर कोई राज्य करे।"

बहुमत की सरकार

राजा कहता है मैं तो राज्य करना चाहता हूं और जनता कभी नहीं चाहती कि कोई उस पर राज्य करे।

जनता यह अवश्य चाहती है कि व्यवस्था हो। लेकिन उस पर राज्य हो, यह वह कभी नहीं चाहती। कोई नागरिक नहीं चाहता। सभी लोग चाहते हैं कि व्यवस्था तो उत्तम-से-उत्तम हो, पर हम पर हुकूमत कोई न चलाये। विलियम राजा शिकायत करता है कि पार्लमेंट में लोगों के प्रतिनिधि हैं और लोगों के प्रतिनिधि हुकूमत नहीं चाहते। इसलिए रुकावट होती है। इसलिए ऐसी कोई युक्ति निकालो कि पार्लमेंट की सत्ता से मैं बच सकूं। तो एक लार्ड उसे एक युक्ति बताता है कि "तुम ऐसा करो कि यह शर्त बना दो कि पार्लमेंट में जिसका बहुमत होगा, उसीकी सरकार बनेगी। तो फिर पार्लमेंट कभी उपद्रव नहीं कर सकेगी।"

"यह तो तू एक अजीब बात कह रहा है। यदि बहुमत की सत्ता होगी, तो मेरी सत्ता कहाँ रहेगी ?"

वह बोला—"फिर मालूम हो जायगा तुम्हें। अभी तो तुम मेरी युक्ति मान लो।"

लार्ड बोला—"जिस पक्ष का बहुमत हो, उसीकी सरकार बनने दो। फिर तुम्हारा काम बहुत आसान हो जायगा। तुम्हें कोई कष्ट नहीं देगा।"

"क्यों ?"

"इसीलिए कि जिसके हाथ में सरकार होगी, उसे बहुमत बनाने की और

बहुमत बनाये रखने की जो चिन्ता होगी, उसीमें उसका सारा वक्त निकल जायगा। फिर लोक-कल्याण की ओर ध्यान देने के लिए उसके पास बहुत कम फुर्सत रह जायगी। याने बिस्तर लगाने में ही रात बीत जायगी, तो सोने के लिए मौका ही नहीं मिलेगा।"

पार्लमेंट के इतिहास का यह एक बहुत रम्य प्रकरण है, जो शायद आपको किसी इतिहास की पुस्तक में न मिले। यहाँ आख्यायिका के रूप में बतलाया गया है कि सारे मूलभूत सिद्धान्त कैसे आये हैं, लोकसत्ता में क्या-क्या अड़चनें आयीं और किस तरह से उनका विकास हुआ।

राजा बोला—"यह युक्ति सबसे अच्छी है।" बस, उस दिन से पार्लमेंट में सबकी आँखें बदल गयीं। पार्लमेंट में जाते ही अब सोचना पड़ता है कि बहुमत में कैसे आऊँगा?

बहुमत प्राप्त करने की चिन्ता

नारायण कहता है—"दादा, बबलभाई को वोट देना है।"

मैं कहता हूँ—"हाँ, देना है। ये बहुत भले आदमी हैं। बहुत अच्छे आदमी हैं।"

प्रबोध कहता है, "बहुत भले हैं, बहुत अच्छे हैं, लेकिन अकेले वहाँ क्या कर लेंगे? कोई 'टीम' है उनके साथ? जब तक उनके साथ कुछ और साथी नहीं होंगे, तब तक उनका बहुमत नहीं होगा और जब तक बहुमत नहीं होगा, तब तक बबलभाई वहाँ पार्लमेंट में कुछ नहीं कर सकेंगे।"

तो बबलभाई अब खोज रहे हैं कि कौन-कौन हमारे साथी होंगे। और फिर ये साथी ईमानदार रहेंगे या नहीं। दूसरी चिन्ता यह भी है कि ये साथी चुने जायँगे या नहीं? मान लीजिये, उन्होंने प्रबोध चौकसी को साथी बना लिया।

पूछा—"कहाँ से खड़े होते हो?"

कहा—"बड़ौदा से।"

"बड़ौदा में तुम्हें कौन-कौन जानता है?"

"हमारे दफ्तर के लोग जानते हैं।"

"उतने से क्या फायदा? दूसरे लोगों से जान-पहचान करने का कोई साधन है?"

"हाँ, हमारे पैर हैं।"

"पैरों से कितना घूमोगे? तुम तो विलकुल साधनहीन हो।"

तो साधन-सम्पन्न आदमी खोजना पड़ता है।

फिर कहते हैं, "यह वतलाओ कि वड़ौदा में तुम्हारे अपने आदमी कितने हैं, जिनका तुमसे सीधा संवंध होता है?"

कहने लगे, "कोई नहीं। यहाँ तो हमारी जाति के आदमी ही नहीं हैं!"

"तो फिर किस जाति के आदमी हैं?"

"यहाँ तो सब ब्राह्मण ही ब्राह्मण हैं।"

"तो फिर ब्राह्मण को ही उम्मीदवार बनाओ।" जिसका परिचय है, जिसके पास साधन हैं, वह अगर खड़ा होता है, तो जीत जाता है। दूसरा बहुत अच्छा आदमी है, लेकिन जीत नहीं सकता, तो हमारे किस काम का?

बहुमत-पद्धति से राजा को लाभ

इस तरह बहुमत के शासन ने राजा को बचा लिया। राजा को उपद्रव से बचाने के लिए और राजा की सत्ता अक्षुण्ण रखने के लिए कैसी बढ़िया युक्ति निकाल ली कि इन्हें ही चिन्ता लग जाय और ऐसी चिन्ता लग जाय कि फिर राजा की तरफ ध्यान देने के लिए कोई इनके पास बहुत ज्यादा वक्त ही न रह जाय।

कहीं कोई काण्ड शुरू होता है, तो राजा पार्लमेंट में आकर कहता है, "देखो जी, वहाँ यह काण्ड शुरू हो गया!"

यहाँ पार्लमेंट में किसीको फुरसत ही नहीं। लोग पूछते हैं, "कैसा काण्ड शुरू हो गया? क्या है वहाँ? फौज भेज दीजिये।"

हाँ तो, फौज पार्टी से बाहर रहनी चाहिए। फौज में पार्टी-वार्टी आ जायगी, तो बहुत मुश्किल होगा।

तात्पर्य यह कि राजा को जिन चीजों की जरूरत है, वे सारी चीजें पार्टी के बाहर रह गयीं और जितनी गैर-जरूरी चीजें थीं, उतनी पार्टी में रह गयीं।

पक्ष-पद्धति के दोष

अब पक्ष-पद्धति का परिणाम देखिये—मान लीजिये कि बबलभाई किसी तरह चुनकर पहुँच गये और बन गये मुख्य मंत्री। इनकी टीम में मैं हूँ, नारायण देसाई है, प्रबोध चौकसी है। हम सब इनके दूसरे नंबर हैं। हम इनके साथ रहते हैं—राग में राग, ताल में ताल मिलाने के लिए। अब थोड़ी देर के लिए समझ लीजिये कि गोआ का सवाल आया। मैं कहता हूँ—"बबलभाई, बात तो जँचती है।" प्रबोध कहता है कि "गोआ जैसी समस्या हो और हम चुपचाप बैठे रहें, तब तो हम निष्क्रिय साबित होंगे। हमारा कोई वजन नहीं रह जायगा। यहाँ कुछ तो करना ही चाहिए।" बबलभाई कहते हैं—"तुमने हमारे खिलाफ वोट दिया कि हमारी सरकार गिरी!"

"तो फिर क्या करें?"

"अब तुम्हीं बतलाओ कि तुम्हें गोआ ज्यादा प्रिय है या अपनी सरकार बनाये रखना ज्यादा प्रिय है?"

"आपकी सरकार बनी रहे। गोआ से यह बहुत बड़ा सवाल है।"

गोआ की अपेक्षा इसका महत्त्व अधिक है कि बबलभाई की सरकार बनी रहे। तो अब गोआ के प्रश्न पर हमारे देश का क्या कर्तव्य है, यह विचार तो किनारे रह गया। गोआ के प्रश्न पर बबलभाई की सरकार कैसे बनी रहे, यही मुख्य प्रश्न हो गया। विषय के गुण-दोषों पर वोट देना समाप्त हो गया। किसी भी समस्या के गुण-दोषों पर हम विचार नहीं कर सकते।

जो प्रतिपक्षी होता है, उसे भी एक पक्ष बना लेना पड़ता है। जो प्रतिपक्षी होते हैं, वे भी सब स्वतन्त्र नहीं होते। उन्हें भी तो 'विरोधी पक्ष' बनाना पड़ता है। उनका भी एक पक्ष बन जाता है। प्रतिपक्षी क्या सोचता है? यही कि मैं अपनी पार्टी के खिलाफ वोट दूँगा, तो आज ही ये लोग कहेंगे कि इस्तीफा दे दो। इस्तीफा दे दूँगा, तो मेरी 'सीट' चली जायगी। सीट चली जायगी, तो फिर से चुनाव में खड़ा होना पड़ेगा। एक बार चुनाव लड़ने के लिए जिंदगी की आधी कमाई खतम कर दी है, दूसरे चुनाव में दूसरी आधी खतम हो जायगी, तो क्या करूँगा? और अगर मैं खड़ा ही नहीं रहा, तो मेरी

जगह कोई गलत आदमी आ जायगा, जो लोगों का नुकसान करेगा। यह तो वहुत ही भारी कीमत देनी पड़ेगी। इसलिए पार्टी जैसा कहती है, वैसी ही राय दे दूं। यह नकशा है, जिससे मनोवृत्ति वनती है।

पक्षनिष्ठा और लोकनिष्ठा

एक वहुत सुन्दर कविता है अंग्रेजी में, जिसमें समाज का अन्तिम दृश्य दिखाई देता है। उस वक्त हरएक आदमी देश के लिए होगा, हर नागरिक देश के लिए देश के पक्ष में होगा और कोई नागरिक अपने पक्ष में नहीं होगा। पक्षनिष्ठा में और देशनिष्ठा में इस तरह अंतर पड़ जाता है।

पहले क्या था ? राजनिष्ठा और लोकनिष्ठा का विरोध।

अव क्या हुआ ? पक्षनिष्ठा और लोकनिष्ठा का विरोध।

ऐसा नहीं है कि ये लोग ईमानदार नहीं होते। यह भी नहीं समझना चाहिए कि लोगों के कल्याण की कामना इन लोगों में नहीं होती। ये बड़े ईमानदार होते हैं, इनमें कर्तृत्व बहुत होता है और लोगों के कल्याण की प्रबल इच्छा होती है। लेकिन इनकी मान्यता है कि लोगों का कल्याण हम तभी कर सकते हैं, जव हमारे हाथ में सत्ता हो। सत्ता तभी आ सकती है, जव हमारे साथ 'टीम' हो। टीम भी इतनी बड़ी चाहिए कि दूसरों की अपेक्षा अधिक संख्या में हो। इसलिए फिर चिन्ता क्या होती है कि पहले टीम वनायें, इसके वाद यह चिन्ता होती है कि हमारी टीम काफी वड़ी हो और उसके वाद यह चिन्ता होती है कि उस टीम के हाथ में लोक-कल्याण करने की सत्ता बनी रहे। इस प्रकार पक्ष-सत्ता और पक्ष-निष्ठा के कारण मनुष्य एक दुष्ट चक्र में पड़ जाता है।

सम्प्रदाय-निष्ठा

हमारे देश में केवल पक्ष-निष्ठा ही नहीं है। हमारे देश में पक्षों के जो कार्यक्रम होते हैं, उनमें चोर-दरवाजों से दो-तीन निष्ठाएँ और आ जाती हैं। आती जरूर हैं, लेकिन चोर-दरवाजों से आती हैं। सबसे पहली निष्ठा आ जाती है—**संप्रदाय-निष्ठा**। इसमें थोड़ा-वहुत अंग्रेजों का हाथ रहा है, लेकिन इसमें हमारा भी कसूर है। १९०७-१९०८ में अंग्रेजों के संकेत से मुस्लिम

लीग की स्थापना हुई। मुसलमानों ने माँग की कि उन्हें अलग मतदान करने का अधिकार दिया जाय।

दूसरों ने पूछा कि "हमें क्यों न दो ?"

तो कहा, "तुम कौन हो ?"

कहा, "हम हिन्दू हैं।"

"हिन्दू की क्या पहचान है? मुसलमान को तो हम पहचान सकते हैं। मुसलमान तो हमको दिखाई देता है।"

यह संप्रदाय का लक्षण है। संप्रदाय अपने में बहुत स्पष्ट होता है। याने मुसलमान व्यक्ति भी है और मुसलमान समाज भी है।

बाजार में एक आदमी स्टेशनरी की दूकान में जाता है। वहाँ बहुत-सी चीजें मिलती हैं। कहता है—"मुझे चार आने की स्टेशनरी चाहिए।" दूकानदार कहता है—"स्टेशनरी तो दूकान में है ही नहीं। इसमें कागज हैं, पेंसिल है, स्याही है, लेकिन स्टेशनरी-जैसी कोई चीज नहीं है।" यहाँ ब्राह्मण है, माली है, तेली है, चमार है, भंगी है—हिन्दू कहीं है ही नहीं। उसे कहाँ खोजें ?

हिन्दुओं में जाति ही वास्तविकता है और मुसलमान, सिख, ईसाइयों में संप्रदाय ही वास्तविकता है। इस बात को हम भूलते हैं, इसलिए आज की हमारी लोक-सत्ता में वास्तविकता नहीं आ सकी है।

पक्ष-सत्ता का जमाना अब निकल गया है। आज जितने भी पक्ष रह गये हैं, वे वर्ग के कारण रह गये हैं। अमीरी और गरीबी है, इसलिए अमीरों और गरीबों के पक्ष लेनेवाले कुछ पक्ष अभी हैं। लेकिन जब वर्ग-निराकरण होगा, उस वक्त आज के पक्षों की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। आज हमारे यहाँ जो पक्ष बनते हैं, उनका नाम कुछ और रखते हैं, रूप कुछ और होता है। यह 'औपचारिक लोकसत्ता' कैसे बनती गयी, इसके पीछे वास्तविकता क्या है, लोकसत्ता निष्प्राण क्यों हो रही है? लोक-सत्ता भी हो जाय और उसमें शक्ति न रहे, यह तो एक भयानक विरोध है। लोकसत्ता की बुनियादें अगर हमें बदलनी हैं, तो हमें यह खोजना होगा कि उन बुनियादों में कौन-सी ऐसी चीजें आ गयी हैं, जिनके कारण हमारी लोकसत्ता खोखली और कम-

जोर हो गयी है। मूल कारण यह है कि आज का हमारा समाज संप्रदायों और जातियों का वनाया हुआ है।

सम्प्रदाय का लक्षण

संप्रदाय का लक्षण क्या है? **जिसमें हम जा सकते हैं और जिसमें से हम निकल सकते हैं, वह संप्रदाय कहलाता है।** इसलाम संप्रदाय है। ईसाइयों का संप्रदाय है, सिखों का संप्रदाय है। इसमें आप जा सकते हैं, इसमें से आप निकल सकते हैं। संप्रदाय हमेशा आक्रमणशील और जयिष्णु होता है। इसमें विजिगीषा होती है। दूसरों को परास्त करने की आकांक्षा होती है। सम्प्रदाय का यह स्वरूप ही है। उसका चाहे जितना सौम्य स्वरूप हो, उसका यह स्वभाव है कि वह अधिक-से-अधिक लोगों को अपने भीतर शामिल करना चाहता है। इसलिए उसमें उदारता भी होती है। वह दूसरों को अपने समान समझता है।

प्रलोभन और जबरदस्ती

मुसलमान हिन्दू को मुसलमान वनने के लिए पात्र मानता है और हिन्दू किसीको अपनी जाति में आने का पात्र ही नहीं मानता। सम्प्रदायवादी मानता है कि मेरा ही मार्ग सही है। वह समझता है कि और लोग जब तक मेरे रास्ते पर नहीं आयेंगे, तव तक वे नरक से नहीं बच सकते। वह दूसरों को उसमें आने के लिए फुसलाता है, शादी का, सम्मान का प्रलोभन देता है। फिर भी जो उसके चकमे में नहीं आते, उन्हें वह धमकाता है। इस प्रकार आगे चलकर संप्रदाय में प्रलोभन और जबरदस्ती आ जाती है। सम्प्रदाय आक्रमणशील वन जाता है। इसलिए जितने सम्प्रदाय होते हैं, उनमें आवेश अधिक होता है, उन्माद अधिक होता है। उनमें अपने सिद्धान्त के लिए, अपने धर्म के लिए एक उन्माद, एक आवेश, जनून होता है। इस अन्ध आवेश के कारण सम्प्रदायवादी कहता है कि "यह समझता नहीं है, यह बेवकूफ है, इसे मार-पीटकर समझाना चाहिए।" सम्प्रदाय में इतनी आक्रमणशीलता आ जाती है।

तो सम्प्रदाय का बाहरी लक्षण क्या हुआ? यही कि जिसमें हर कोई आ सकता है, जिसमें से हर कोई जा सकता है। सम्प्रदाय में जो उत्कटता और

तीव्रता होती है, उसका लक्षण यह है कि दुनिया में जितने आदमी हैं, सबको हम अपने में मिला लेना चाहते हैं। सम्प्रदाय में उदारता कैसे आयी ? सबको हम 'काबिल' याने अपने में मिलाने के योग्य समझते हैं।

सम्प्रदायवाद का राक्षस

अब हम देखें कि सम्प्रदाय लोक-सत्ता को दूषित कैसे करता है ? वह 'सम्प्रदायवाद' कहलाता है। हमारे देश की राजनीति में लोकसत्ता को, लोक-नीति को कलुषित करनेवाला एक महान् राक्षस है—सम्प्रदायवाद। यह राक्षस सारी लोकसत्ता की गंगा में ही जहर मिलाने की कोशिश करता है। सम्प्रदायवाद क्या है ? जब हम सम्प्रदाय को नागरिकता का आधार बना लेते हैं, तो **'सम्प्रदायवादी'** बन जाते हैं। मुसलमानों ने माँग की कि हम मुसलमान हैं, इसलिए हमारा राष्ट्र अलग हो। इसलामियत ही राष्ट्रीयता है। इसलिए इसलामी नागरिकता भी अलग हो। उन्होंने नागरिक अधिकार माँगे, इसलिए झगड़ा हुआ। नागरिक अधिकार न माँगते, तो राजनीतिक झगड़ा न होता। नागरिकता के अधिकारों पर आकर दोनों के स्वार्थ टकराये। पाकिस्तानवाद क्या है ? यही कि हम अपने सम्प्रदाय को नागरिकता का या राष्ट्रीयता का आधार समझ लेते हैं। आगे चलकर यही द्विराष्ट्रवाद कहलाया। द्विराष्ट्र-वाद, पाकिस्तानवाद, सम्प्रदायवाद, राजनीतिक शब्द बन गये हैं। इनकी राजनीतिक परिभाषाएँ बन गयी हैं।

'हिन्दू' शब्द अव्याख्येय

हिन्दुओं के सामने बड़ा सवाल आया। हमारी निर्वाचन-योजना में लिखा है—'मुस्लिम' और 'गैर-मुस्लिम' निर्वाचन-संघ। मुस्लिम मतदार संघ और गैर-मुस्लिम मतदार संघ बने। हमने सबको 'गैर-मुस्लिम' क्यों कहा ? 'हिंदू' क्यों नहीं कहा ? 'हिंदू' कहने में बहुत झगड़ा हुआ। जैनियों ने कहा कि "हमें भी अलग दो।" बौद्धों ने कहा, "हमें भी अलग दो।" सिक्खों ने कहा, "हमें भी अलग दो।" अस्पृश्यों ने कहा, "हमे भी अलग दो।" तो हिन्दू कहने लगे—"नहीं-नहीं, तुम तो सब हिंदू ही हो, तुम हममें शामिल रहो।" उन्होंने

पूछा—"हम हिंदू हैं ? कैसे हिंदू हैं ? 'हिंदू' किसे कहते हैं ?" बोले—" 'हिंदू' किसे कहते हैं, यह हम नहीं बतला सकते, लेकिन तुम सब हिंदू हो।" हिंदुत्व की व्याख्या करने की बहुत कोशिश हुई। दस-पंद्रह साल तक वह चलती रही। कितावें भी लिखी गयीं और अन्त में यह सिद्ध हुआ कि 'हिंदू' शब्द अव्याख्येय है, क्योंकि यह संप्रदाय नहीं है। 'हिन्दू' संप्रदाय नहीं है, इसलिए उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। यह उसका बहुत बड़ा गुण, सबसे बड़ा गौरव और उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसमें अनेक संप्रदाय हैं, लेकिन अपने में वह संप्रदाय नहीं है।

तब तो मुसलमान भी इसमें आ जाने चाहिए थे। हिंदुत्व में मुसलमानों का समावेश हो सकता था, लेकिन हिंदू-समाज में नहीं। इसलिए उन्हें हम आत्मसात् नहीं कर सके।

सम्प्रदायवाद : जातिवाद की सन्तान

उस समय एक सज्जन ने इस बारे में मुझसे चर्चा की। मैंने कहा कि "पाकिस्तान का बनना कुछ अच्छा नहीं हुआ। गांधी तो चाहता नहीं था, लेकिन उसे मंजूर कर लेना पड़ा। यह ठीक नहीं हुआ।"

"क्या करें ? दस करोड़ मुसलमानों ने एक होकर माँग की, तो उन पर कोई जबरदस्ती राज्य कर सकता था ?"

मैंने ऐसे ही मजाक में कहा—"आपने उन्हें दस करोड़ होने क्यों दिया ?"

कहने लगे, "हमने होने दिया ?"

"होने नहीं दिया, तो ये आये कहाँ से थे ?"

"ये मुसलमान तो मध्य एशिया से, अरबस्तान से आये।"

मैंने कहा, "दस करोड़ आये थे ? हमने तो कभी सुना ही नहीं था कि इस देश में दस करोड़ मुसलमान बाहर से आये।"

कहने लगे, "जो भी आये, फिर उनकी संतान बढ़ती गयी।"

मैंने कहा, "संतान बढ़ाने में उनसे हम कुछ कम नहीं रहे हैं। उनकी सन्तान बढ़ती गयी, और हमारी नहीं ? किसीकी ऐसी भी संख्या बढ़ती है कि दस करोड़ हो जाय ?"

तब उन्होंने कहा, "यहाँ के लोग मुसलमान बन गये।"

इस देश में मुसलमानों का संप्रदायवाद हिंदुओं के जातिवाद की संतान है। हिंदुओं के जातिवादों से मुसलमानों का संप्रदायवाद इस देश में पनपा। इसलिए जैसा मुसलिम संप्रदायवाद हिंदुस्तान में है, वैसा दुनिया में और कहीं नहीं है। हिंदुओं में अगर जातिवाद नहीं होता, तो मुसलमानों की संख्या दस करोड़ हो ही नहीं सकती थी।

कुछ लोग कहते हैं कि "लाठी-काठी सीखो, तो मुसलमानों की संख्या कम हो जायगी।" दूसरे कहते हैं, "तलवार लो, तो काम हो जायगा।" तीसरे कहते हैं, "गोश्त खाओ, तो उनसे मुकाबला कर सकेंगे।" इन सब बातों से कुछ नहीं होनेवाला है। यह बहुत बड़ा भ्रम है कि मुसलमान हिंदुओं से शारीरिक शक्ति में अधिक होता है। पुराने जमाने में राणा प्रताप, शिवाजी और अनेक शाकाहारी ब्राह्मण भी कुछ कम प्रतापी साबित नहीं हुए हैं। यह नाहक की चीज है। हमारी कमजोरी व्यक्तिगत या तत्त्वगत नहीं है, हमारी कमजोरी समाजगत है। हिंदू-समाज की सबसे बड़ी कमजोरी उसकी जाति-संस्था रही है। वृक्ष जैसे एक हद तक वर्षा से बचाता है और फिर खुद ही वर्षा बंद होने पर भिगाने लगता है, उसी तरह से जाति-संस्था ने हिंदू-समाज को किसी जमाने में भले ही बचाया हो, बाद में तो उसने उसे छिन्न-विच्छिन्न ही कर दिया।

जाति का लक्षण : जो जाती नहीं

अब जाति का लक्षण देखिये। जिसमें कोई आ नहीं सकता और जिसमें से कोई जा नहीं सकता। विनोबा मजाक में कहा करते हैं कि जो 'जाती' ही नहीं, वह 'जाति' है। याने जो ली नहीं जा सकती और जो छोड़ी नहीं जा सकती। सम्प्रदाय वह है, जो लिया जा सकता है और जो छोड़ा जा सकता है। इसलिए वह आक्रमणशील होता है। जाति व्यवच्छेदक होती है, व्यावर्तक होती है, अलगपन उसमें होता है। क्योंकि वह ली नहीं जा सकती और दी नहीं जा सकती।

कोई कहे कि मैं लोगों को ब्राह्मण बनाने जा रहा हूँ, तो लोग कहेंगे, "इसे राँची के पागलखाने में रखो। भला किसीको ब्राह्मण बनाया भी जा सकता है?"

न तो किसीको जनेऊ पहनाकर ब्राह्मण बनाया जा सकता है और न

और ही कुछ करके किसीको तेली या माली वनाया जा सकता है। जाति-वाला कहता है कि जब तक जन्मान्तर नहीं होगा, तब तक जात्यन्तर नहीं हो सकता। इसलिए जाति जन्मसिद्ध होती है। जन्मान्तर होगा, तभी जात्यन्तर होगा।

मैं कहता हूँ कि "मैं ब्राह्मण हूँ, मुझे कोई वोट नहीं देता। तो भाई, ब्राह्मणेतरो, मुझे ब्राह्मणेतर बना लो!"

कहते हैं, "भाई, हम नहीं बना सकते।"

"क्यों?"

"अगले जन्म में माँ-बाप बदलकर आओगे, तब होगा। जनेऊ फेंक देने से नहीं होगा। चोटी काट लेने से नहीं होगा। सन्ध्या छोड़ देने से नहीं होगा। जन्मान्तर के विना जात्यन्तर नहीं है।"

उच्च-नीच की भावना

लोग कहते हैं कि जाति रहे, पर उच्च-नीच की भावना न रहे। भंगी अपनी जगह श्रेष्ठ है, ब्राह्मण अपनी जगह श्रेष्ठ है। बहुत ही अच्छी बात है। गरीब अपनी झोपड़ी में श्रेष्ठ है, मैं अपने महल में श्रेष्ठ हूँ। महल-वाला बहुत आसानी से कह सकता है। नागपुर में एक दफा हिन्दू-धर्म-परिषद् में सनातनी ब्राह्मणों ने कहा कि "हम अस्पृश्यों को नहीं छूते, तो वे हमें न छुएँ। हम कब कहते हैं कि हम उन्हें न छुएँ। वे प्रस्ताव कर लें कि हम ब्राह्मणों को नहीं छूते।" इस तरह से आप इसका निपटारा नहीं कर सकते। जरा इसका विश्लेषण कीजिये कि आखिर जाति क्या है? यह श्रेष्ठ और कनिष्ठभाव इस देश की जाति-संस्था में बद्धमूल है। यह जाति-संस्था के साथ आया है और इसका निराकरण भी जाति-संस्था के साथ ही होगा।

मैं अहमदाबाद में आया। प्रबोध चाय लाया। प्रबोध के चाय लाते ही मैं पूछता हूँ, "प्रबोध भाई, यह चाय कहाँ बनी है?"

"आश्रम में।"

"बनानेवाला कौन था?"

"हमने जाति नहीं पूछी थी।"

"ब्राह्मण था ?"

"नहीं था।"

"वगैर ब्राह्मण के हम किसीके हाथ का नहीं खाते।"

अब प्रवोध आकर नारायण से कहता है, "वह दादा तो बड़ा पवित्र ब्राह्मण मालूम होता है। वह तो ब्राह्मण के सिवा किसीके हाथ का नहीं खाता।"

पवित्रता की सीढ़ियाँ

दूसरे दिन वह चाय लाकर कहता है, "आज मैं ब्राह्मण से बनवाकर लाया हूँ।"

"कौन ब्राह्मण था वह ?"

"यह नहीं मालूम मुझे।"

"मैं सिर्फ महाराष्ट्र ब्राह्मण के ही हाथ का खाता हूँ।"

कहता है, "यह तो और भी पवित्र है !"

अब यह पवित्रता का सोपान देख लीजिये। कैसी सीढ़ियाँ चढ़ता जा रहा हूँ। यह स्वर्ग का सोपान है। "वह तो कहता है महाराष्ट्र ब्राह्मण के सिवा और किसीके हाथ का नहीं लूँगा।"

तीसरे दिन अपने घरवालों से कहता हूँ—"आज से हमारे लिए परान्न वर्ज्य है। मैं सिर्फ अपने घर का ही भोजन करूँगा।" पवित्रता की एक सीढ़ी और चढ़ गया—"यह तो अपने घर के सिवा कहीं नहीं खाता।"

घरवालों से एक दिन कहा कि "सिर्फ माँ और अपनी पत्नी के ही हाथ का खाऊँगा और किसीके हाथ का नहीं खाऊँगा।"

और एक सीढ़ी ऊपर! लोग आश्चर्यचकित हैं कि कैसा पवित्र पुरुष है यह !

एक दिन कहता है कि "आज से पत्नी और माँ के हाथ का भी नहीं खाऊँगा। आज से स्वयंपाकी बनूँगा। खुद पकाऊँगा, खुद खाऊँगा।"

बस, अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच गया।

दर्शनों के लिए लोग आते हैं कि ऐसा पुरुष कभी नहीं देखा। अपने हाथ से भोजन बनाता है, किसीके हाथ का नहीं खाता।

अब एक ही सीढ़ी रह गयी है कि अपने भी हाथ का न खाऊँ। बस, स्वर्ग सिर्फ दो अँगुली रह गया मेरे लिए! उतना और अगर मैंने कर लिया, तो सीधा स्वर्ग पहुँच जाऊँ!

जाति का मूल : अस्पृश्य भावना

सोचने की बात है कि जाति है किस वस्तु में? तीन ही बातों में जाति है। इसको छुओ मत, इसके साथ खाओ मत और इसके साथ विवाह मत करो। इन तीनों के सिवा कहीं जाति नहीं। इसे 'अस्पृश्य भावना' कहते हैं। गांधी ने इसके प्रतिकार में लोकशाही की स्थापना के लिए स्पर्श-भावना का विधान किया। जो लोगों से जितना दूर रहता है, जो मनुष्य से जितना परहेज करता है, वह उतना ही अधिक पवित्र माना जाता है। मनुष्य से परहेज करना ही जिस समाज में पवित्रता का लक्षण है, उस समाज में कभी किसी लोकसत्ता और सामाजिकता का विकास नहीं हो सकता। इसलिए हमारे देश में लोकसत्ता पिछड़ रही है। वर्ग-निराकरण, संप्रदाय-निराकरण, जाति-निराकरण—ये तीनों बातें जब तक नहीं होंगी, तब तक वास्तविक लोकसत्ता की स्थापना हमारे देश में नहीं हो सकती। इसलिए हमें तीनों का निराकरण करना होगा।

हम वर्ग-निराकरण पर आज इसलिए जोर दे रहे हैं कि जब मनुष्यों की आर्थिक प्रतिष्ठा और आर्थिक स्थिति बदल जाती है, तो वे एक वर्ग में आ जाते हैं। लेकिन इतना ही सिर्फ काफी नहीं है, इसके लिए यह भी आवश्यक है कि हम जाति-निराकरण करें, संप्रदाय-निराकरण करें। जाति का लक्षण हम देख चुके। जाति व्यावर्तक होती है, याने वह अपने में किसीको शामिल नहीं करती। अपने में हम किसीको शामिल क्यों नहीं करते? इसीलिए कि हममें रक्त-शुद्धि की भावना होती है। 'वर्ण-संकर' का अर्थ यही है कि मेरा रक्त शुद्ध है, आपका रक्त अशुद्ध है। इन दोनों का मिश्रण नहीं होना चाहिए। यह 'वर्ण-संकर' कहलाता है। शुद्ध रक्त—श्रेष्ठ रक्त! आप कहते हैं कि उसमें श्रेष्ठता, कनिष्ठता का भाव नहीं होना चाहिए। श्रेष्ठता-कनिष्ठता का भाव इसके साथ मिला ही हुआ है। मेरा रक्त अशुद्ध होते ही 'वर्ण-संकर' हो जाता है। और फिर कहते हैं कि बस, यह तो 'असल' नहीं है। गयाजी में एक

गुफा बहुत सँकरी है, तंग है। लोग यह कहते हैं कि उसमें से जो पार हो जायगा, वह तो 'असल' है याने अपने बाप का है और जो उसमें अटक जायगा, वह 'असल' नहीं है। इस कुलीनता-अकुलीनता की भावना के पीछे क्या श्रेष्ठता छिपी हुई नहीं है? मनुष्य से परहेज करना जाति-संस्था का आधार है और मनुष्य से जो जितना परहेज करता है, वह उतना श्रेष्ठ माना जाता है।

जाति सहिष्णु मालूम होती है, लेकिन वह परम असहिष्णु होती है। लोग कहते हैं कि "हम तो किसी पर आक्रमण नहीं करते!" अरे भाई, तुम किसीको ब्राह्मण बनने योग्य ही नहीं मानते हो, तो आक्रमण क्या करोगे? कोई बनना चाहे, तो भी नहीं बनाओगे तुम। जाति-संस्था का यह लक्षण है कि हम तुमसे श्रेष्ठ हैं, तुम हमारी जाति के नहीं बन सकते।

अस्पृश्य की मनोवृत्ति

भारतवर्षीय हिन्दुओं के जाति-संस्थावाद से मुसलमानों के संप्रदायवाद को बल मिला है। हिन्दुओं में जाति-संस्था थी, इसलिए हिन्दू-समाज में से धर्मान्तर हुए। आइये, इसके कारणों पर हम विचार करें।

मान लीजिये कि मैं नारायण के घर जाता हूँ। वह कहता है--"दादा, आप हमको बहुत प्रिय हैं। बहुत अच्छा हुआ, आप आज आ गये।"

"हाँ, अच्छा तो हुआ, पर अब मैं अपना सामान कहाँ रखूँ?"

"हमारे यहाँ की एक मर्यादा है।"

"क्या मर्यादा है?"

"यही कि आप-जैसे मेहमान को हम सिर्फ आँगन में ही रखते हैं। हमारे कुल की यह मर्यादा है। आपके लिए इतना प्रेम है, जितना अपनी माँ और अपने बाप के लिए भी मेरे मन में नहीं है, लेकिन हमारी मर्यादा है, क्या करें?"

"अच्छा भाई, आँगन में ही रहूँगा। लेकिन धूप लगेगी, तो क्या करूँगा?"

"तो हम अपना फटा हुआ छाता दे देते हैं। धूप होगी, तब लगा लिया करना।"

"बारिश होगी, तो क्या करेंगे?"

"हमारे आँगन में एक पेड़ है, उसके नीचे बैठ जाया करना।"

"पर भाई, खाना कहाँ से लाऊँगा ?"

"खाना तो मेरे यहाँ बनेगा। तुम्हें आँगन में मिलेगा और मेरे बरतन में नहीं मिलेगा।"

"तो कैसे मिलेगा ?"

"यह केले आदि पत्तों के साफ दोने बहुत अच्छे हैं। ये तो ऐसे हैं कि राजा को भी नहीं मिले होंगे। ऐसे केले के पत्ते हम तुम्हें दे दिया करेंगे। उनमें खा लिया करो। पानी पीने के लिए मिट्टी का एक बरतन दे दिया करेंगे। तुमको रोज नया पत्ता, रोज नया बरतन। हमें तो रोज नया मिलता ही नहीं है। और तुम वहीं सो जाया करना।"

नारायण को मुझसे बहुत स्नेह है। परन्तु यह मुझे इस तरह से रखता है। इतने में, भगवान् न करे, इसके घर में आग लगती है। अब प्रबोध इसके घर की आग बुझाने दौड़ता है। प्रबोध से मैं पूछता हूँ—"क्यों प्रबोध, तुम मुझसे प्रेम करते हो ?"

"हाँ, तुमको तो बहुत प्यार करता हूँ।"

"फिर नारायण के घर की आग क्यों बुझाते हो ?"

"अरे भाई! उसको भी प्यार करता हूँ।"

"तो फिर यह कहो कि मुझको प्रेम नहीं करते।"

"तुमको क्यों नहीं ?"

"यह मुझे अपने घर में पैर नहीं रखने देता, भगवान् की परम कृपा से इसके घर में आग लग गयी है और तू बुझाने दौड़ता है ?"

यह अस्पृश्य की मनोवृत्ति का दिग्दर्शन है। जिस समाज में इतना अप्रतिष्ठित और अस्पृश्य वर्ग है, उस समाज में जब आग लगती है, तो उसका बचाव करने के लिए आज भी हरिजन दौड़कर आते हैं, मैं उन्हें फरिश्ते और देवदूत मानता हूँ।

तीसरा रास्ता ही क्या ?

अंम्बेडकर जब मनुस्मृति जलाते हैं, तब मुझे जलन नहीं होती, दुःख नहीं होता। लेकिन जब हरिजन हमारे संरक्षण के लिए दौड़ते हैं, तब मुझे

आश्चर्य होता है। मैं सोचने लगता हूँ कि सन्तों ने इस देश में कितने महान् सिद्धान्तों का बीजारोपण किया होगा कि आज भी उन लोगों के अन्दर यह सद्-भावना छिपी हुई है कि वे इस समाज के, इस धर्म के संरक्षण के लिए दौड़ते हैं। लेकिन सोचने की बात है कि जो जाति में रह नहीं सकता, उसके लिए रास्ता क्या है? जाति-संस्था में जिसे प्रतिष्ठा मिल ही नहीं सकती, उसके लिए जन्मा-न्तर या धर्मान्तर छोड़कर तीसरा रास्ता ही क्या है? आप अपने को उस जगह पर रखिये और फिर सोचिये कि जाति में रहना जिसके लिए असम्भव है, उसके लिए रास्ता कौन-सा है? वह क्या करे? जिनमें उतनी शक्ति है, वे नये पन्थ की स्थापना कर देते हैं। बुद्ध में शक्ति थी, महावीर में शक्ति थी, नानक में शक्ति थी, दयानन्द में शक्ति थी। उन्होंने जाति से बचाने के लिए नये सम्प्रदायों की, नये धर्मों की, नये पन्थों की स्थापना की। अंबेडकर कहते हैं कि "जाति-संस्था से बचने के लिए हमारे पास दूसरा कोई रास्ता नहीं है। इसलिए मैं बौद्ध होना चाहता हूँ। नया धर्म स्थापित कर नहीं सकता, जन्मान्तर तक राह देखने की तैयारी नहीं है, तब धर्मान्तर के सिवा मेरे सामने कोई चारा नहीं रह गया है।" नतीजा यह है कि इस देश में सम्प्रदायों की संख्या अब तक बढ़ती गयी।

प्रति-सम्प्रदायवाद निदान नहीं

जातिवाद, सम्प्रदायवाद का निराकरण, प्रति-सम्प्रदायवाद से नहीं हो सकता। "इसलामियत ही राष्ट्रीयता है", मुसलमान ने कहा। हिन्दू-समाज ने जवाब दिया—"हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयता है।" यह प्रति-सम्प्रदायवाद है। जवाबी सम्प्रदायवाद। वह कहता है, "हमारा राज्य जहाँ होगा, वह पाकि-स्तान है!" यह कहता है, "हमारी सत्ता जहाँ पर होगी, वही पुण्यभूमि है।" पाकिस्तान का बराबर ठीक-ठीक अनुवाद है—पाक=पुण्य, स्तान=भूमि। मुसलमानों के सम्प्रदायवाद का अनुवाद है, यह हिन्दुओं का प्रति-सम्प्रदायवाद। प्रति-सम्प्रदायवाद से लोकसत्ता की स्थापना हर्गिज नहीं हो सकती है। हमें तो सम्प्रदायवाद और जातिवाद, दोनों का ही निराकरण करना होगा, तब कहीं लोकसत्ता की स्थापना हो सकती है।*

*विचार-शिविर में २५-८-'५५ का प्रातः-प्रवचन।

राजनीति से लोकनीति की ओर : ११ :

हम देख चुके हैं कि राजसत्ता और लोकसत्ता में किस प्रकार धीरे-धीरे भेद होता गया और अंत में राजसत्ता कैसे क्षीण होती गयी और लोकसत्ता का विकास करने की ओर दुनिया का कदम किस तरह बढ़ता गया। इसके लिए हमें संप्रदाय-निराकरण करना होगा और जाति-निराकरण भी, जिसे गांधीजी ने हमारे सामने स्पर्श-भावना के व्रत के रूप में रखा। संप्रदाय में स्पर्श-भावना तो है, परंतु वह आक्रमणशीलता है, और दूसरी ओर, जो उस सम्प्रदाय में न हों, उनके लिए सहिष्णुता और समानता की वृत्ति भी नहीं है। सम्प्रदाय संग्राहक है, लेकिन संप्रदाय की हद तक। इसलाम में सब समान हैं, लेकिन तभी, जब वे मुसलमान हो जाते हैं। उसकी समानता सम्प्रदायनिष्ठ है। इस प्रकार की थोड़ी-बहुत समानता, जातिनिष्ठ समानता, हिन्दुओं के समाज में भी है। गरीब ब्राह्मण और अमीर ब्राह्मण, दोनों साथ-साथ भोजन कर सकते हैं, उन दोनों में विवाह-सम्बन्ध भी हो सकता है। इसलिए हमारे देश के कुछ विचारक तो यहाँ तक कहने लगे थे कि इस देश में लोकशाही का आरम्भ साम्प्रदायिक लोकशाही और जातिनिष्ठ लोकसत्ता से होना चाहिए।

राजनीति में जातिवाद

नागरिकता सम्प्रदाय और जाति, दोनों से भिन्न होनी चाहिए, इसलिए इन दोनों का नागरिकता में कहीं भी प्रवेश नहीं होना चाहिए। यह सम्प्रदायवाद और जातिवाद का निराकरण कहलाता है। इस देश में जाति अब चुनावों में और राजनीति में आ रही है, इसलिए लोगों को बहुत शिकायत है, लेकिन मैं उसे एक शुभ चिह्न मानता हूँ। इसका कारण यह है कि एक ब्राह्मण कांग्रेस का उम्मीदवार हो जाता है और दूसरा ब्राह्मण प्रजा-समाजवादी दल का। दोनों दल प्रायः ऐसा करते हैं। वे देखते हैं कि इस शहर में ब्राह्मण ज्यादह हैं, तो दोनों ब्राह्मण उम्मीदवार खड़ा कर देते हैं। इस प्रकार जब वे खड़े हो जाते

हैं, तो एक ही जाति के आदमी दो राजनैतिक पक्षों में बँट जाते हैं। जो जाति चूल्हे के पास थी, वह इस तरह से राजनीति में आ जाती है। सत्ता की राजनीति में एक गुण या एक दोष यह है कि इसमें कोई तत्त्व और सिद्धान्त स्थिर नहीं रहता। इसलिए जाति इसमें आ जाने पर जाति के निराकरण की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। लोकसत्ता की बुनियादें सिर्फ कानून से और संविधान से नहीं बदली जा सकेंगी। लोकसत्ता का बाह्य आकार बदलने से भी लोकसत्ता की बुनियादें नहीं बदलती हैं। मुख्य बात यह है कि हमें लोकसत्ता का संदर्भ बदल देना होगा। इसलिए मैंने वर्ग-निराकरण, सम्प्रदाय-निराकरण और जाति-निराकरण की बात कही। इसमें सत्ता और कानून की थोड़ी-बहुत सहायता हमको हो सकती है, लेकिन इन तीनों क्षेत्रों में जो प्रयास होंगे, वे क्रान्तिकारी प्रयास होने चाहिए। लोकसत्ता की बुनियादें बदलने के लिए आवश्यकता क्रान्तिकारी प्रयत्नों की है।

पार्लमेण्ट द्वारा क्रान्ति असम्भव

सभी जानते हैं कि यूरोप में दो पक्ष हो गये थे। एक संसद्वादियों का, जो पार्लमेण्ट से काम लेना चाहते थे और दूसरा, क्रान्तिकारियों का। क्रान्तिकारियों ने कहा कि पार्लमेण्ट से हम पूरा-पूरा काम नहीं ले सकते, पार्लमेण्ट से क्रान्ति नहीं हो सकती। इसका मुख्य कारण यह है कि पार्लमेण्ट आज जिस संदर्भ में काम कर रही है, उस संदर्भ में क्रान्तिकारी तत्त्वों की शक्ति पार्लमेंट में नहीं चल सकती। चुनाव में इनका जीतना एक तो संभव नहीं होता और जीत जाने पर भी पार्लमेण्ट में जिस तरह से काम चलता है, उससे कुछ होनेवाला नहीं। 'पार्लमेण्टरी' पद्धति में आखिर की परिणति यही होती है कि सरकार और सरकार चलानेवाले लोग एक सलाह से कैसे चलें? विनोबा जिसे **'एकमत से चलना'** कहते हैं, वह बिलकुल अलग चीज है। और आज के मंत्रि-मण्डल में या आज की 'पार्लमेण्टरी' भाषा में जिसे संयुक्त जिम्मेवारी कहते हैं, वह बिलकुल अलग चीज है। यह संयुक्त जिम्मेदारी क्या है, इसका भी संकेत रूप में एक किस्सा सुन लीजिये।

विक्टोरिया रानी का सबसे बड़ा सलाहकार था लार्ड मेलबोर्न। यह

लार्ड मेलवोर्न क्या किया करता था ? जब कभी मन्त्रि-मण्डल की बैठक होती थी, तो जिस कमरे में बैठक होती थी, उस कमरे के बाहर, दरवाजे में खड़ा हो जाता था, जिससे आना-जाना बन्द रहे। और वहाँ से कहता था—"लोगों से क्या झूठ बोलना हैं, इसकी मुझे बहुत ज्यादा फिक्र नहीं है ! लेकिन एक बात है कि लोगों को हमें जो चकमा देना है, उसके विषय में जब तक एकमत नहीं होता है, तब तक तुममें से एक को भी मैं बाहर नहीं जाने दूँगा।"

राजनीति के अनेक रूप

राजनीतिज्ञों की संयुक्त जिम्मेदारी और एकमत से काम होने में बहुत बड़ा अन्तर है। यह जो एकमत है, वह राजसत्ता अपने हाथ में, याने बहुमत के हाथ में, रखने के लिए है। सत्ता को आपने सेवा का साधन भले ही मान लिया हो। लेकिन सेवा का साधन जब तक हमारे हाथ में नहीं रहेगा, तब तक हम सेवा नहीं कर सकेंगे, यह जिसने मान लिया है, वह सेवा के साधन को अपने हाथ में रखने के लिए ही सारी शक्ति खर्च कर देता है। जैसे राजा करता था। राजा के राज्य में क्या होता था ? राजा के हाथ में सत्ता रहे, राजा का राज्य बना रहे, इसीका नाम 'राजनीति' था। राजा राज्य कर सकता है, राजा ही ठीक राज्य करता है। राजा का राज्य बनाये रखने की जो युक्ति और नीति है, उसे हम **'राजनीति'** कहते हैं। और इसीलिए पुराने लोगों ने यह कहा, "राज्य बनाये रखने के लिए जो-जो करना पड़े, वह सब उचित ही है। **'वारांगनेव नृपनीतिरनेकरूपा।'** राजनीति के तो अनंत रूप होते हैं। वारांगना की तरह वह अनेकरूप होती है।

विकेन्द्रित राजनीति लोकनीति नहीं

हमने यह मान लिया कि राजनीति को बिखेर दिया, तो लोकनीति हो गयी। राजगिरा (रामदाना) के लड्डू का एक-एक दाना अलग-अलग होता है। लड्डू जब तक है, तब तक सब एक जगह है और किसीने उस पर मुक्का मार दिया, तो उसका एक-एक दाना बिखर गया। लड्डू राजसत्ता है और जो बिखर गयी, वह 'लोकसत्ता' है, इस प्रकार का भ्रम लोगों के मन में होता है। याने

राजसत्ता के कणों का नाम लोगों ने 'लोकसत्ता' रख दिया है। राजसत्ता का कण एक-एक जगह हो गया, उसका एक-एक दाना अपनी-अपनी जगह पर उछल रहा है। कोई ग्राम-पंचायत में उछल रहा है, कोई म्युनिसिपैलिटी में उछल रहा है, कोई डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में उछल रहा है। एक-एक ने अपना-अपना छोटा-छोटा राज्य बना लिया। दादा की दृष्टि यह है कि चुनाव में मैं जीतूँ, इस तरह से चुनाव का क्षेत्र बने, नारायण की भी यह दृष्टि है कि चुनाव में मैं जीतूँ, इस तरह से उसका क्षेत्र बने। और अगर मैं कांग्रेस में हूँ, तो प्रजा-समाजवादी कहता है कि इन लोगों ने चालाकी से अपने पक्ष की जीत के अनुकूल सारे निर्वाचन-क्षेत्र बना लिये। इस तरह से हर आदमी ने अपने-अपने लिए एक छोटा-छोटा हलका, सत्ता का एक छोटा-छोटा क्षेत्र बना लिया। यह 'लोकसत्ता' नहीं है।

अगर यह लोकसत्ता नहीं है, तो हम 'लोकसत्ता' किसे कहेंगे और इसके लिए क्या करना होगा ?

आर्थिक और राजनीतिक इकाइयाँ

इसके लिए दुनिया के विचारक इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि आर्थिक इकाई और राजनैतिक इकाई में बहुत ज्यादा अंतर नहीं होना चाहिए। आज हमारी जितनी राजनैतिक इकाइयाँ हैं, वे सब मनमानी बनी हैं याने हमने अपनी मर्जी के मुताबिक चाहे जैसी अनियंत्रित रूप से बना ली हैं। इनमें कोई नियम नहीं है। इनको अगर हम आर्थिक इकाई से समव्याप्त न बना सकें, तो कम-से-कम उनमें बहुत ज्यादा अंतर नहीं रहना चाहिए। राजनैतिक इकाई और आर्थिक इकाई अगर समव्याप्त हो सके, तो बहुत अच्छा। समव्याप्त न हो सके, तो इनमें कम-से-कम अंतर रहे। राजनैतिक इकाइयाँ दो तरह की होती हैं :

१. प्रशासकीय,

२. प्रातिनिधिक।

'मतदान का क्षेत्र' प्रातिनिधिक इकाई कहलाती है। तालुका, जिला और उसके नीचे की इकाई, प्रशासन की इकाई होती है। हम चाहते यह हैं कि प्रशासन कम होता चला जाय, अनुशासन बढ़ता चला जाय और अंत में सिर्फ स्वयंशासन रह जाय। इसका मतलब यह होता है कि जनता में स्वयंशासन

की वृत्ति बढ़े, स्वतंत्रता की वृत्ति बढ़े। मैं भी स्वतंत्र, आप भी स्वतंत्र। मेरी और आपकी स्वतंत्रता एक-दूसरे की स्वतंत्रता को नियमित करेगी। इसके सिवा और कोई नियमन नहीं होगा। नियन्त्रण वस्तु का होगा, मनुष्य का नहीं।

अब हम लोकसत्ता के कुछ क्रान्तिकारी सिद्धान्तों पर विचार करें कि लोकसत्ता को किस मार्ग से जाना होगा?

लोकसत्ता का मार्ग

इसके लिए मनुष्यों पर नियंत्रण की जगह वस्तुओं पर नियंत्रण करना होगा। मनुष्यों का नियंत्रण कम-से-कम, वस्तुओं का नियंत्रण अधिक। आज प्रशासन किसलिए होता है? वह होता है—मुट्ठीभर आदमियों के स्वामित्व और मुट्ठीभर आदमियों की संपत्ति के संरक्षण के लिए। संपत्ति के प्रत्यक्ष संरक्षण की आवश्यकता जिन्हें होती है, ऐसे कितने लोग समाज में हैं? बहुत से लोग ऐसे हैं, जिनकी संपत्ति के संरक्षण के लिए प्रशासन की आवश्यकता नहीं है। प्रशासन की आवश्यकता थोड़े से आदमियों की संपत्ति के संरक्षण के लिए होती है। आज की लोकशाही में यह एक चीज बराबर चल रही है। भारतवर्ष को यदि छोड़ दिया जाय, तो आज लोकशाही का सबसे अच्छा जो स्वरूप माना जाता है, वह है अमेरिका में और इंग्लैंड में। और इन दोनों राष्ट्रों की समाज-रचना पूँजीवादी समाज-रचना है। लोकशाही का जन्म भी पूँजीवाद की कोख से हुआ है। यह ऐतिहासिक सत्य है। पूँजीवाद को लोकशाही की आवश्यकता थी, इसलिए लोकशाही का जन्म पूँजीवाद के साथ और उसकी कोख से हुआ। बच्चे में माँ-बाप के कुछ थोड़े-बहुत गुण आ भी जाते हैं। यह लोकशाही साहूकार की बेटी है। राजा की बेटी का स्वयंवर होता था, साहूकार की बेटी का स्वयंवर नहीं, नीलाम होता था। अपनी बेटी ब्याहनी हो, तो हम देखते हैं कि कितने पैसे मिलेंगे, कितने गहने मिलेंगे और जिस लड़के के साथ यह ब्याही जानेवाली है, उसके पास धन कितना होगा?

स्वयंवर में दूसरी बात होती थी। उसमें थोड़ा-बहुत जुआ या संयोग होता था। इसमें संयोग तो है, लेकिन संयोग के साथ-साथ कीमत चुकानेवाला चाहिए। अधिक-से-अधिक कीमत जो देता है, उसके पीछे वह जाती है।

इस लोकशाही में यह बुराई पूँजीवाद के साथ-साथ आयी। इसलिए यूरोप के और खासकर इंग्लैंड के अनुभव के कारण हमारी कोशिश यह है कि हम इसका संदर्भ बदल दें। इंग्लैंड में पार्लमेंटरी पद्धति का जो अनुभव हुआ, उस अनुभव का यह निचोड़ या निष्कर्ष है कि वहाँ पर प्रगतिशील पक्ष भी सत्ताधारी पक्ष तो हुए, लेकिन अंत तक कोई भी पक्ष पार्लमेंट की मार्फत क्रांति नहीं कर सका। बाद में तो लेबर पार्टी में झगड़ा ही हो गया। बेवाँ अलग निकल गया और बेवाँ की सबसे ज्यादा शिकायत यह हुई कि पार्लमेंट को हम क्रान्ति का उपकरण, क्रान्ति का औजार नहीं बना सके। इसका मुख्य कारण यह हुआ कि समाज में प्रचलित जो स्वार्थ-संबंध होते हैं, उन स्वार्थ-संबंधों के अनुरूप पक्ष बन जाते हैं और समाज में जब इन स्वार्थ-संबंधों के अनुरूप पक्ष बनते हैं, तो अन्त तक इन पक्षों की सत्ता पहुँचती नहीं है।

स्थानीय स्वराज्य और पक्षभेद

इंग्लैंड में जिसे हम स्थानीय स्वराज्य कहते हैं, उस स्थानीय स्वराज्य में पहले पक्ष नहीं थे। इसका मुख्य कारण यह है कि पार्लमेंट के सामने जिस प्रकार से पक्ष आ सकते हैं, उस प्रकार से स्थानीय स्वराज्य में आ ही नहीं सकते थे। क्योंकि स्थानीय स्वराज्य में स्थानीय प्रश्न होते हैं। स्थानीय मामलों में केवल आर्थिक विरोधों को छोड़ दिया जाय, तो बाकी के सारे विरोध नगण्य होते हैं। नहीं के बराबर होते हैं। इसलिए जहाँ वर्ग-निराकरण हो गया हो या वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया का आरंभ हो गया हो, ऐसी जगह पक्षभेद के लिए बहुत थोड़ा स्थान रह जाता है।

एक सिद्धांत हमें ध्यान में रखना चाहिए कि आर्थिक इकाई के साथ-साथ राजनीतिक इकाई चले। आर्थिक रचना का अंतिम सिद्धांत यह है कि आर्थिक रचना में स्वयंपूर्णता हो और विकेन्द्रीकरण हो।

स्वयंपूर्णता की आवश्यकता

स्वयंपूर्णता क्यों होनी चाहिए ? इसका अनुभव तो सारी दुनिया को हो गया है, लेकिन यह विचार आया कैसे ? इसके लिए परिस्थिति का थोड़ा धक्का लगना जरूरी होता है।

१९१४—१९१८ का प्रथम विश्वयुद्ध जो हुआ, उसमें जर्मनी के एम्डन नामक जहाज ने इंग्लैंड में पहुँचनेवाली रसद डुबोनी शुरू कर दी। तब तक इंग्लैंड का यह खयाल था कि कारखानदारी और दूकानदारी से हम मालदार हो जायँगे, हमें खेती-बारी की क्या जरूरत है ? जो थोड़ी-बहुत खेती-बारी रह गयी थी, उसका कारण थे कुछ पुराणप्रिय अंग्रेज। लेकिन उस पर जोर उन्होंने नहीं दिया था। जब उन्हें यहाँ से रसद मिलनी मुश्किल हो गयी, तब वे जागे और उन्होंने सोचा कि खतरनाक परिस्थिति आ सकती है। इसलिए हर राष्ट्र को अपनी आवश्यकताओं के लिए आत्मनिर्भर रहना चाहिए। यह तो एक राष्ट्र की बात हुई।

रूस में क्रांति हुई। वहाँ एक 'स्टैलिन फार्म्युला' कहलाता है। स्टैलिन ने रूस में दो-तीन बातें लेनिन से आगे बढ़कर रखीं। इनमें से एक है, 'एक ही देश में समाजवाद' हो सकता है। दूसरी है—क्रांति का एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में आयात नहीं हो सकता। उसने कहा कि यह कोई क्विनाईन की गोली नहीं है, जो यहाँ से वहाँ ले जायी जा सके। तीसरा सिद्धान्त, जिसे स्टैलिन फार्म्युला कहते हैं, यह था कि 'रूस की संस्कृति का आशय तो समाजवादी होगा, पर उसका आकार राष्ट्रीय होगा।' नतीजा यह हुआ कि रूस में जितने छोटे-छोटे राष्ट्र थे, उन सारे छोटे-छोटे राष्ट्रों को स्वयंपूर्ण बनाने की कोशिश हुई। युक्रेन और पूर्व-तुर्किस्तान, दोनों को स्वयंपूर्ण बनाने की कोशिश लगातार चलती रही। लेकिन उस वक्त रूस में जो संयोजन हो रहा था, उसकी बुनियाद यह थी कि सारे छोटे-छोटे 'राष्ट्रकों' को स्वयंपूर्ण बना दीजिये। अर्थात् वे स्वयंपूर्ण भी होने चाहिए और विकेन्द्रित भी।

अब सवाल यह था कि यदि आर्थिक स्वयंपूर्णता और विकेन्द्रीकरण होगा, तो राजनैतिक स्वयंपूर्णता और राजनैतिक विकेन्द्रीकरण हो जायगा। ये दोनों चलेंगे, तो साथ-साथ चलेंगे। एक ओर विकेन्द्रीकरण और दूसरी ओर केन्द्रीकरण, ये दो बातें साथ-साथ नहीं चल सकतीं। इसलिए दोनों प्रकार के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। इसका पहला कदम यह होना चाहिए कि आर्थिक विकेन्द्रीकरण की योजना के साथ-साथ राजनैतिक विकेन्द्रीकरण की योजना हो।

भाषावाद का खतरा

फिर आज यह हिम्मत क्यों नहीं हो रही है, इसका विचार हमें कर लेना है। हमारे कई विचारक कह रहे हैं कि मुसलमानों के सम्प्रदायवाद के कारण तो द्विराष्ट्रवाद आया, अब हमें यह डर है कि बचे हुए गैर-मुस्लिमों के भाषावाद के कारण यहाँ बहुराष्ट्रवाद न आ जाय! भाषा का सांस्कृतिक अभिमान एक अलग वस्तु है, लेकिन जब भाषा के साथ सत्ता जुड़ जाती है, तो उसे 'भाषावाद' कहते हैं। इसलिए शुरू से सरदार पटेल, अंबेडकर, जवाहरलालजी और इस तरह के सभी लोगों के मन में यह भाव रहा कि इस देश में प्रान्तों को बहुत अधिक अधिकार न दिये जायँ। लेकिन दक्षिण के प्रान्तवालों ने कहा कि प्रान्तीय स्वायत्तता होनी ही चाहिए। प्रान्त के लिए अधिक-से-अधिक अधिकार चाहिए।

ऐसी माँग करनेवाले दो तरह के लोग थे। एक तो मुसलमान थे। पाकिस्तान से पहले वे कहते थे कि प्रान्तों की स्वायत्तता यहाँ तक हो कि जो प्रान्त भारतीय संघ-राज्य में से निकल जाना चाहे, उसे निकल जाने तक की स्वतन्त्रता हो। ऐसा होने पर पाकिस्तान की माँग शायद ये लोग न करें, इस उद्देश्य से उन्हें समझाने के लिए और उन्हें अपने में मिला लेने के लिए हमारे देश के सारे नेता इस बात के लिए तैयार हो गये थे।

दूसरी ओर दक्षिणवाले थे, जो कहते थे कि आपकी संस्कृति अलग, आपकी भाषा अलग, आपका तौर-तरीका अलग, आपकी रहन-सहन अलग, आपका रंग-रूप अलग, आप और हम अंग्रेजों के कारण एक साथ रहे, फिर भी आप कहते हैं कि आप और हम साथ रहेंगे! यह कितने दिन चलनेवाली बात है? एक ने कहा कि मुस्लिम भारत और गैर मुस्लिम भारत, अलग-अलग होना चाहिए। दूसरा कहता है कि उत्तर भारत और दक्षिण भारत, अलग-अलग होने चाहिए। भारतवर्ष के ये दो सांस्कृतिक टुकड़े माने जाने चाहिए। इस संदर्भ में उन्हें संविधान बनाना था। इसलिए वे लोग बहुत विचार में पड़े कि अब क्या हो? आखिर इस प्रकार मनुष्यों का विभाजन होने लगे, तो इसका कहीं अन्त नहीं रहेगा।

लोकशाही की बुनियादें कब बदलेंगी ?

राजनीति को, सत्तावाद को विखेर देने से सत्तावाद विकेन्द्रित हो जाता है। लेकिन विकेंद्रित सत्तावाद का मतलब 'लोकनीति' नहीं है। उससे लोक-नीति का प्रादुर्भाव नहीं होता। वह केवल विकेन्द्रित सत्तावाद है। मैं चाहता हूँ कि मेरा राज्य हो, आप चाहते हैं कि आपका राज्य हो। इसलिए आप एक उम्मीदवार और मैं दूसरा उम्मीदवार। अव मेरा राज्य किस पर हो ? आप पर हो। आपका राज्य किस पर हो ? मुझ पर हो। तो दोनों एक-दूसरे के कन्धे पर बैठने की कोशिश करते हैं। मैं आपके कन्धे पर चढ़ना चाहता हूँ, आप मेरे कन्धे पर चढ़ना चाहते हैं। इस प्रकार सत्ता की स्पर्धा, जो पहले केवल राजगद्दी के आसपास थी, वह अव घर-घर पहुँच गयी। गाँव-गाँव पहुँच गयी। यह सत्ता की स्पर्धा का विकेन्द्रीकरण हुआ, सत्ता का विकेन्द्रीकरण नहीं हुआ। प्रश्न है कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण कव होगा ? जव इस रूप के साथ-साथ लोकशाही की वुनियादें भी वदलेंगी।

लोकशाही की वुनियादें कब वदलेंगी ? जव हमारी आर्थिक इकाई, राज-नैतिक इकाई और प्रतिनिधिक इकाई, इन तीनों में कम-से-कम अन्तर रहेगा। और दूसरी वात यह होगी कि समाज सारा-का-सारा उत्पादकों का होगा। उसमें मालिक कोई नहीं रहेगा। इसके लिए आर्थिक क्षेत्र में हमारा पहला कदम होगा—**अनुत्पादक की मालकियत का विसर्जन**, दूसरा कदम होगा—**उत्पादक की मालकियत की स्थापना**, और तीसरा कदम होगा—**मालकियत का ही निराकरण**। ऐसा जो समाज वनेगा, वह सारा-का-सारा उत्पादकों का होगा। उस समाज में स्वयंपूर्णता की दृष्टि से विकेन्द्रीकरण होगा और उस विकेन्द्रित समाज में प्रतिनिधित्व और प्रशासन, दोनों यथासंभव समव्याप्त होंगे। प्रशासन का उद्देश्य वस्तु-नियंत्रण होगा, व्यक्ति-नियंत्रण नहीं। यह प्रशासन से अनुशासन की ओर जाने का कदम है। प्रशासन कम होता चला जायगा, अनुशासन वढ़ता चला जायगा।

उम्मीदवारी की समाप्ति

दूसरा कदम होगा—उम्मीदवारी नहीं रहेगी। वारात में जितने ईमानदार

आदमी होते हैं, उनमें कभी ऐसी स्पर्धा नहीं होती कि मुझे कोठारी बना दिया जाय। उल्टे वे यह चाहते हैं कि हम जो कुछ चाहते हैं, वह हमें मिल जाय, तो अच्छा है। लेकिन कौन यह सारी झंझट अपने मत्थे लेगा ? इसलिए जब आप सत्ताधारियों को केवल कोठारी बनायेंगे, सिर्फ व्यवस्थापक बनायेंगे और सत्ता उसमें से कम हो जायगी, उस दिन समाज में बहुत ज्यादा स्पर्धा नहीं रहनेवाली है। लोग अक्सर पूछते हैं कि सत्ता की आकांक्षा कैसे जायगी। हमारा कहना है कि धन की आकांक्षा जैसे परिस्थिति-परिवर्तन से कम होती है, उसी प्रकार सत्ता की आकांक्षा भी परिस्थिति-परिवर्तन से कम होगी। याने परिस्थिति ही ऐसी बनानी चाहिए कि सत्तावाद के लिए कम-से-कम अवसर रहे। फिर भी सत्ता की आकांक्षा थोड़ी-बहुत बनी रहेगी, लेकिन उसका डंक निकल जायगा। मालिकी अगर बिखर जायगी, उत्पादकों की मालिकी अगर बन जायगी, तो मालकियत का डंक निकल जायगा। मालकियत का डंक निकालने के लिए हमने यह माँग की है कि उत्पादक की मालिकी हो। इसी प्रकार सत्तावाद का डंक निकाल देने के लिए, प्रशासन कम करने के लिए, अनुशासन बढ़ाने के लिए वस्तु का नियंत्रण होगा। वस्तु के नियंत्रण से मतलब उत्पादन का नियंत्रण और वितरण का नियंत्रण होगा। मनुष्यों का नियंत्रण कम-से-कम होगा।

आज मनुष्यों का नियंत्रण क्यों करना पड़ता है ? इसीलिए कि नागरिक को एक-दूसरे से डर है। एक नागरिक दूसरे नागरिक पर भरोसा नहीं कर सकता। डर का और दूसरा कारण क्या है ? कुछ नागरिकों के पास दूसरे नागरिकों की अपेक्षा संग्रह अधिक है। संपत्ति और संग्रह नागरिकों में डर और अविश्वास पैदा करते हैं। इसलिए हम संपत्ति का विभाजन और संग्रह का निराकरण करना चाहते ह। संपत्ति का विभाजन हो जायगा, संग्रह का विसर्जन हो जायगा, तो समाज में ऐसी परिस्थिति पैदा होगी कि एक नागरिक को दूसरे नागरिक से बहुत डर नहीं रह जायगा।

भय के तीन स्थान

डर के तीन कारण बतलाये जाते हैं : जर, जमीन और जोरू।

मालकियत, सम्पत्ति और स्त्री, तीन भयस्थान समाज में रहे हैं। दो

चीजों का निराकरण करने के लिए तो आप तुले ही हुए हैं। आप कहते हैं कि जमीन की मालकियत को तो निकाल देंगे और सम्पत्ति का पुनर्विभाजन हो जायगा, संग्रह का निराकरण हो जायगा। दो भयस्थान तो आपके निकल ही जायेंगे। तीसरा भयस्थान 'स्त्री' है, उसका विचार आगे चलकर करूँगा। स्त्री को नागरिक बना दिया और फिर वह डरती रहे, तो बहुत ही मुश्किल है। याने बकरियों को आजाद कर दिया और शेरों में छोड़ दिया, तो पछताना पड़ेगा। इस तरह की आजादी काम की नहीं होती।

शुरू में हम मनुष्यों के दो भय-स्थानों का निराकरण कर देते हैं। एक भय-स्थान : संपत्ति और दूसरा भय-स्थान : स्वामित्व। इन दोनों की भावना जब निकल जाती है, तब तीसरा 'सत्ता' का जो भय-स्थान रहता है, उसका डंक निकल जाता है। आज जिस मात्रा में सत्ता की अभिलाषा है, फिर उस मात्रा में वह नहीं रहती। उसमें से बहुत-सा वैभव निकल जाता है। उसमें व्यवस्थापक की ही भूमिका अधिक आ जाती है। 'हुकूमत', जिसे 'आज्ञा चलाना', 'हुक्म चलाना' कहा जाता है, वह चीज उसमें से कम होती चली जाती है।

सत्ता का विकेन्द्रीकरण

तो, हमारा यह चित्र है कि ऐसी इकाई होगी, जहाँ सब उत्पादक होंगे, जहाँ लोगों के स्वार्थ-संबंधों में बहुत अधिक विरोध नहीं होगा, जहाँ पर केन्द्रीय शासन के पास नैतिक सत्ता अधिक होगी, प्रत्यक्ष व्यवस्था की सत्ता विकेंद्रित याने स्थानीय शासन के पास अधिक होगी। वहाँ पर बहुत ज्यादा मतभेद के लिए गुंजाइश नहीं रह जायगी। विकेन्द्रित शासन में मतभेद के अवसर बहुत कम हो जाते हैं, इसलिए पक्षभेद के लिए बहुत ही कम गुंजाइश रहती है।

वोटों की बिक्री और अपहरण

अब यही डर रहता है कि गुण्डे रहेंगे या नहीं? आज की लोकशाही में वोट छीने जाते हैं और वोट बेचे जाते हैं। सबसे बड़ा आंतर-विरोध है कि यहाँ गरीब आदमी का राज्य हो गया और गरीब आदमी दुःखी है। इसका मुख्य कारण यही है कि वोट छीने जाते हैं और वोट बेचे जाते हैं।

हमारा एक मित्र प्रजा-सोशलिस्ट है। वह हार गया। वह बहुत अच्छा आदमी है और उसने देश की काफी सेवा की है। उसका चारित्र्य भी बहुत अच्छा है। मैंने उससे पूछा—"आप क्यों हार गये ?"

तो कहने लगे—"विरोधी ने पानी की तरह पैसा खर्च किया, इसलिए हम हार गये।"

इसका मतलब यह था कि उसके विरोधी ने पैसे से वोट खरीदे।

दूसरी जगह एक बहुत बड़े पैसेवाले थे, वे हार गये। वे भी हमारे मित्र हैं। हमने पूछा—"आप क्यों हार गये ?"

"क्या बताऊँ! मेरे विरोधी ने डण्डे दिखा-दिखाकर वोट छीन लिये।"

तो वह डण्डे के सामने हार गया। एक ने डण्डे से वोट छीन लिये, दूसरे ने पैसे से वोट खरीद लिये। इसलिए आवश्यकता है संदर्भ बदलने की।

सन्दर्भ बदलने का परिणाम क्या होगा ? यही कि नागरिक का वोट कोई खरीद नहीं सकेगा और नागरिक का वोट कोई छीन नहीं सकेगा। ऐसी परिस्थिति हमें पैदा करनी है कि जिसमें वोट छीना नहीं जायगा, वोट बेचा नहीं जायगा। लोग कहते हैं कि अपढ़ लोग हैं, इससे ऐसा होता है। यह गलत है। युनिवर्सिटी के निर्वाचन-क्षेत्र में जितने वोट बिकते हैं, उतने बेचारे देहातियों के क्षेत्रों में कभी नहीं बिके होंगे।

वर्तमान लोकशाही के त्रिदोष

आज की लोकशाही में तीन दोष हैं—अधिकार का दुरुपयोग, अराजकता या गुंडाशाही का भय और घूसखोरी। ये त्रिदोष आज की लोकशाही में आ गये हैं। सभी देशों की लोकशाही में ये बुराइयाँ हैं। इंग्लैंड की लोकशाही में यह चीज है, अमेरिका की लोकशाही में भी यह चीज है। जहाँ पर लोग काफी सुखी हैं, वहाँ पर भी ये तीन दोष हैं। इन्हें लोकशाही के कफ-वात-पित्त समझ लीजिये। कभी कफ ज्यादा होता है, कभी पित्त। अभी तो ऐसा लक्षण दिखाई दे रहा है कि तीनों समप्रमाण में होकर सन्निपात होने जा रहा है। इसलिए लोकशाही की बुनियादें बदलने की आवश्यकता है।

गुंडातत्त्व का जन्म क्यों हुआ ?

समाज में हम जिसे 'गुंडातत्त्व' कहते हैं, वह अनुत्पादक और परोपजीवी वर्गों में से एक भयंकर वर्ग है। जितना अनुत्पादक और परोपजीवी, थैलीवाला और तिजोरीवाला है, उतना ही अनुत्पादक और परोपजीवी यह लाठीवाला है।

लेकिन यह समाज में आया कैसे ? यह संपत्ति के संरक्षण के नाम पर समाज में दाखिल हुआ। पुलिस और फौज प्रशासन में संपत्ति के संरक्षण के नाम पर आयी। गैर-सरकारी तौर पर जिसे 'गुण्डा' कहा जाता है, वह पहरुआ, दरबान और तकाजेवाला बनकर आया।

गुंडा संपत्ति का रखवाला बनकर हमारे समाज में दाखिल हुआ। हम संदर्भ बदलने की बात कहते हैं, उसका अर्थ यही है कि उत्पादकों के समाज में न आरामवादी साहूकार होगा, न लाठी पर जीनेवाला लाठी-बहादुर गुंडा होगा। इन दोनों का स्थान समाज में नहीं होगा।

प्रश्न है कि "लोग बैठे हुए हैं और आप कहेंगे—'वोटिंग के लिए हाथ उठाइये !' पर यहाँ तो गुंडा धमका रहा है, उसकी आँख के सामने लोग आँख उठाने की हिम्मत नहीं करते, तो कोई हाथ उठायेगा ? तो गुंडे के रहते, डंडे के रहते, लोकसत्ता कलुषित हो जायगी।"

दंड-निरपेक्ष समाज का मतलब यह थोड़े ही है कि राजदंड नहीं रहेगा, लेकिन गुंडे का डंडा रहेगा ! मुझसे लोग पूछते हैं कि राजा के हाथ में दंड नहीं रहेगा, तो फिर वह लोगों के हाथ में आ जायगा, जैसा कि शिक्षण में हुआ है। मास्टर के हाथ से छड़ी निकल गयी, तो अब उसे लड़के ही पीटते हैं। याने लड़कों के दिल से तो छड़ी निकली ही नहीं है, केवल मास्टर के हाथ से कानून ने निकाल ली। यह अराजकता है।

दंड-निरपेक्ष राज्य का अर्थ

तीन दोष हैं—अराजकता, दुरुपयोग और भ्रष्टाचार। इन तीन दोषों का निराकरण करने के लिए हमें संदर्भ बदलना होगा। इसका मतलब यह नहीं है कि राजा याने सरकार के पास तो दंड नहीं रहेगा, लेकिन लोगों में आपस में

डंडे चलेंगे। दंड-निरपेक्ष राज्य का अर्थ यह है कि दंड कहीं नहीं रहेगा। दंडाश्रित समाज नहीं रहेगा, सत्ता का या सुव्यवस्था का अधिष्ठान दंड नहीं होगा, लोक-सम्मति होगी। दंड पर जितना आधार होगा और लोक-सम्मति जितनी कम होगी, उतनी ही लोकसत्ता कम होगी। दंड का आधार जितना कम होगा और लोक-सम्मति जिस मात्रा में अधिक होगी, उतनी ही लोकसत्ता की प्रगति होगी।

लोक-सम्मति का अधिष्ठान

प्रश्न है कि प्रशासन क्षीण कब होगा और जनता के अनुशासन में वृद्धि कब होगी? तभी, जब सारे कानूनों के पीछे दंड का अधिष्ठान न होकर लोक-सम्मति का अधिष्ठान होगा। लोक-जीवन से जिस तरह से संपत्ति का निराकरण होगा, उसी तरह उद्दंड दंडशाही का भी निराकरण हो जायगा। इसलिए लोकनीति का आधार है, कानून को लोक-सम्मति के रूप में विकसित करना। कानून के पीछे लोक-सम्मति का अधिष्ठान आवश्यक है।

विनोबा कहते हैं कि पार्लमेंट में वही कानून बने, जो सर्वसम्मति से मंजूर हो। बाकी कानून छोड़ दीजिये। लोग कहते हैं—"यह हो ही नहीं सकता। यह असंभव चीज है।" उनका कहना है कि यह असंभव नहीं है, आपने इसे शुरू ही नहीं किया। जिस दिन आप शुरू कर देंगे, उसी दिन से कानून के पीछे दंड की आवश्यकता कम होती चली जायगी और कानून के पीछे लोकसत्ता का अधिष्ठान विकसित होता चला जायगा।

संदर्भ बदलने से क्या-क्या परिणाम हो सकते हैं? मान लें कि आपका क्षेत्र अधिक-से-अधिक दस गाँवों का है। इससे बड़ा क्षेत्र फिर कोई नहीं होगा। बहुत छोटे गाँव हुए, तो बीस गाँवों का होगा। सब लोग एक-दूसरे को जानते होंगे। जहाँ लोग एक-दूसरे को जानते हैं, वहाँ हमेशा गाँव के किसी एक या दो व्यक्तियों के बारे में सब लोगों के दिल में आदर होता है। हर गाँव में ऐसे दो-चार व्यक्ति होते हैं। पर वोटिंग कराइये, तो शायद वोट इनको नहीं मिले। गाँव में जो सबसे अच्छे आदमी हैं, उन्हें आज अक्सर वोट नहीं मिलता। लोगों का मन एक तरफ है और वोट दूसरी तरफ, यह आज की लोकशाही का

दूसरा आंतर्विरोध है। मन के साथ इनका वोट नहीं चलता। हम चाहते हैं कि लोगों का मन और वोट, दोनों साथ-साथ चलें। इसके लिए हमने पहली परिस्थिति यह पैदा की कि थैली के लोभ का ही निराकरण कर दिया। हमने दूसरी परिस्थिति यह पैदा कर दी कि डंडे के भय का निराकरण कर दिया। अव इस वात के लिए अवसर नहीं रह गया है कि कोई धमकाकर या लाठी चलाकर लोगों से उनके वोट ले सके। तो अव लोभ और भय इतना कम हो गया है कि अव नागरिक में हिम्मत आ सकती है।

अव कोई उम्मीदवार नहीं है, परन्तु हमें व्यवस्था करनी है। तो लोग आपस में पूछते हैं—"किस तरह का प्रबन्ध करना है?"

"अमुक-अमुक काम का प्रबन्ध करना है।"

"इसका अनुभव ववलभाई को ज्यादा है।"

दूसरे लोग कहते हैं, "हाँ भाई, वात तो ठीक है।"

बस, वात खतम हो गयी। एकाध कोई कहेगा कि ववलभाई से अमुक का अनुभव ज्यादा है, तो ववलभाई बोल ही नहीं रहे हैं। नारायण कहता है—"हाँ, उनको ज्यादा अनुभव है, तो वे रह जायें।" तो ववलभाई का नाम ही नहीं रहा।

यानें जो कोई काम के लिए आयेगा, वह सर्वसम्मति से आयेगा, उम्मीद-वारी नहीं रहेगी। उम्मीदवारों में कभी परस्पर विश्वास आ ही नहीं सकता। दो उम्मीदवार कभी एक-दूसरे का उत्कर्ष चाह सकते हैं?

हर उम्मीदवार चाहता है कि समाज में मेरी प्रतिष्ठा हो, मेरी लोकप्रियता वढ़े और विरोधी उम्मीदवार की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा कम हो। जव हर उम्मीदवार का यही कार्यक्रम हो जाता है कि एक-दूसरे की प्रतिष्ठा का कैसे निराकरण हो, तब फिर नागरिकों की प्रतिष्ठा का स्थान ही कहाँ रह जाता है? जव प्रतिष्ठा का ही निराकरण करना एक कार्यक्रम हो जाता है, तव कहा नहीं जा सकता कि नागरिकता का पतन कहाँ जाकर रुकेगा? यह उम्मीदवारों की लोकशाही हो जाती है, पक्ष की लोकशाही हो जाती है, जनता की नहीं रहती। उम्मीदवार और पार्टी क्रियाशील होती है, लोग क्रियाशील नहीं होते।

ग्राम की प्राथमिक इकाई

आधुनिक लोकशाही में लोगों की भूमिका सक्रिय बनाने का उपाय यही है कि निर्वाचन-क्षेत्र ऐसा होना चाहिए, जहाँ लोग एक-दूसरे को जानते हों, एक-दूसरे से डरते न हों, उनके वोट खरीदे न जा सकें। ऐसे एक-दूसरे को जाननेवाले लोग जब एकत्र होंगे, तब सामान्य मनुष्य में इतनी शक्ति और क्षमता आ जायगी कि उसे अपना निज का नियन्त्रण अपने प्रतिनिधि के हाथ में सौंपना नहीं पड़ेगा। वह केवल वस्तु-नियन्त्रण की ज़िम्मेवारी उसे सौंपेगा और इस तरह से लोगों की, सामान्य जन-समुदाय की, लोकशाही चरितार्थ हो सकेगी।

इस प्रकार हम ग्राम की प्राथमिक इकाई तक आ गये। लोकनीति में प्राथमिक इकाई, प्राथमिक क्षेत्र ही मुख्य क्षेत्र होगा और उसके आगे के सारे क्षेत्र दोयम और गौण होंगे। उनमें अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व होगा, प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व नहीं। प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व प्राथमिक क्षेत्र में : प्राथमिक क्षेत्र में ही मुख्य सत्ता : उत्पादन की सत्ता और संविभाजन की सत्ता : संयोजन की सत्ता। यही **'संयोजन'** कहलाता है। उत्पादन और सम-विभाजन के नियंत्रण की, वस्तु के नियंत्रण की, सत्ता प्राथमिक क्षेत्र में, और बाकी की सारी सत्ता, जो दोयम या गौण सत्ता होती है, वह दूसरे क्षेत्रों में होगी और वहाँ पर अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व होगा। यह है आगे के चित्र की रूपरेखा।

लोकसत्ता और सत्याग्रह

सभ्य समाज का एक लक्षण यह है कि जहाँ अल्पतम और अल्पसंख्यकों के अधिकार सुरक्षित रहते हैं, वह समाज सुसंस्कृत और सभ्य है। अल्पसंख्यकों का सबसे बड़ा अधिकार यह है कि उन्हें अपने मत का प्रतिपादन और प्रचार करने की आजादी होनी चाहिए। बल्कि यह कहना चाहिए कि मत-स्वातंत्र्य ही वास्तविक व्यक्ति-स्वातंत्र्य है। मत-स्वातंत्र्य का अर्थ है—बहुमत से भिन्न मत रखने की और प्रकट करने की आजादी। भिन्न मत का ही नाम स्वतंत्र मत है। आप जिस तरह से सोचते हैं, उससे भिन्न प्रकार से सोचने के लिए मौका मुझे नहीं है, तो मैं दरअसल स्वतंत्र नहीं हूँ।

लेकिन अल्पमत यदि केवल सुरक्षित है, तो दरअसल वह स्वतंत्र नहीं हो सकता। तब तो उसे बहुमत की कृपा और उदारता के भरोसे जीना पड़ेगा। उसमें अपना कोई सामर्थ्य या सत्त्व नहीं रह सकेगा। बहुमत की कृपा पर और बहुमत के भरोसे जिस अल्पमत को निर्भर रहना पड़ता है, उसमें समाज का हित करने का कोई माद्दा नहीं होता। उसमें तत्त्व-निष्ठा का अधिष्ठान भी नहीं रह सकता। इसलिए जरूरत इस बात की है कि अल्पमत अपनी निष्ठा और अपनी हिम्मत के भरोसे जिये।

आत्मबल का आधार

यह तभी हो सकता है, जब कि अल्पमत का आधार संख्याबल और दंड-शक्ति से श्रेष्ठ कोई सामर्थ्य हो। यह बल आत्मबल ही हो सकता है। विचार की शक्ति बुद्धि-निष्ठा में होती है और उसका आधार आत्मबल होता है। सौ में से निन्यानवे व्यक्ति एक तरफ हों, तो भी वह विचलित नहीं होगा। वह अपने शुद्ध विचार और अनासक्त आत्म-प्रत्यय को ईश्वर का संकेत मानेगा और उसके लिए नम्रतापूर्वक स्वेच्छा से विधान में विहित दंड भुगतने के लिए तत्पर रहेगा। दंड-बल, शस्त्र-बल और संख्या-बल के सामने सिर नवाये बिना आत्म-संकेत के अनुसार चलने की स्वतंत्रता नागरिक का आत्म-मर्यादावाचक लक्षण है। मैं आजाद हूँ, इसकी सबसे बड़ी पहचान यह है कि सारी दुनिया से अलग राय रखकर भी मैं अपनी राय के मुताबिक चल सकूँ। 'आत्मार्थे पृथिवीम् त्यजेत्'—'आत्मा के लिए सारी दुनिया का त्याग करो।'

यों नागरिक जीवन का सूत्र यह है कि मैं अपने स्वार्थ की बलि सामुदायिक हित के लिए दे दूँ। लोकतंत्र का अर्थ यह है कि मैं अपने व्यक्तिगत मत से समाज की सर्वसम्मति को श्रेष्ठ मानूँ। इसलिए लोकतांत्रिक समाज में कृति का निश्चय साधारण रूप से सर्वसम्मति से होगा। सर्वसम्मति साध्य करने के लिए मुझे अपनी राय को गौण मानकर दूसरों की राय का विचार अनुकूलता से करना होगा। इस तरह जहाँ व्यक्तियों के स्वार्थ एक-दूसरे से बहुत कम टकरायेंगे, जहाँ आमतौर पर नागरिकों को समाज-हित का ही विशेष ध्यान होगा, वहाँ 'सर्वसम्मति' प्राप्त करना बहुत मुश्किल नहीं होगा।

सत्याग्रह : कब और क्यों ?

फिर भी ऐसे कुछ मौके कभी आ सकते हैं, जब मेरा अपना विवेक 'बहुमत' या निन्यानवे प्रतिशत के मत से भिन्न हो सकता है। मेरी 'अंतरात्मा' का निर्णय कुछ और है। एक सभ्य नागरिक के नाते मैं सर्वमत का अनादर नहीं करना चाहता। परन्तु एक सत्यनिष्ठ व्यक्ति के नाते अपनी अन्तरात्मा की आवाज की अवहेलना भी नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में मेरी आत्म-मर्यादा और स्वतन्त्रता का समाज-धर्म के अनुकूल एक ही आधार हो सकता है और वह है 'सत्याग्रह'। सत्याग्रह जब सविनय कानून भंग का रूप लेता है, तब वह नम्रतापूर्वक एक खास कानून का उल्लंघन करता है। लेकिन समाज की दूसरी सारी मर्यादाओं का पालन सच्चाई से और कड़ाई से करता है। आत्म-संयम से ही 'सत्याग्रही' को सविनय अवज्ञा का अधिकार प्राप्त होता है। वह अपनी अहंता और अपने स्वार्थ को पहले ही समाज-हित के लिए न्योछावर कर देता है। वह आत्मवान् बन जाता है। इसीलिए उसे आत्मबल का आधार प्राप्त होता है।

लोकसत्ता का अधिष्ठान दंडशक्ति नहीं, लोकसम्मति है। जहाँ अल्प मात्रा में भी दंडशक्ति के आधार पर राज्यसंस्था निर्भर हो, वहाँ जनशक्ति का अंतिम अधिष्ठान सत्याग्रह ही हो सकता है। उसी प्रकार लोकसत्ता में नागरिक स्वातंत्र्य का एकमेव अवलंबन 'सत्याग्रह' ही हो सकता है। 'सत्याग्रह' समष्टि-विरोधी या लोकसत्ता के प्रतिकूल तत्त्व नहीं है, बल्कि वास्तविक लोकसत्ता का और नागरिक स्वतंत्रता का वही यथार्थ अधिष्ठान है। उसीमें मनुष्य की विवेक-बुद्धि सावित रह सकती है और अल्पमत के अधिकार स्वरक्षित रह सकते हैं।*

• • •

---

*विचार-शिविर में २५-८-'५५ का सायं-प्रवचन।

स्त्रियों का सहनागरिकत्व : १२ :

नागरिकता के क्षेत्र में हम स्त्री-पुरुष-भेद का निराकरण करना चाहते हैं। हरएक संविधान में, स्विट्जरलैंड जैसे अपवाद को छोड़कर, चाहे वह इंग्लैंड का हो, अमेरिका का हो, रूस का हो, चीन का हो, यह प्रतिज्ञा है कि हम स्त्री-पुरुष-भेद को नागरिकता के क्षेत्र में नहीं मानेंगे। उधर संविधान में तो यह प्रतिज्ञा है कि हम स्त्री-पुरुष-भेद को नहीं मानेंगे और इधर आज के जमाने में, और पुराने जमाने में भी, स्त्री याने काम पुरुष की 'एक ही धुन' रही है। आज यदि पुरुष के हृदय पर सबसे अधिक ज्यादह किसी विषय की पकड़ रहती है, तो स्त्री की रहती है। पुराने जमाने में तो यह इतनी थी कि पुरुष सदा ही उससे बचता रहता था, उसे **'नरक का द्वार'** समझता रहता था।

नारी : क्रय-विक्रय की वस्तु

पुराने जमाने में स्त्री की प्रायः एक ही भूमिका हम सदा देखते हैं कि जब किसीको मोह में डालना हो या तपस्वी को तपोभ्रष्ट करना हो, तो यह बेचारी आ जाती थी। जो पुरुष सबसे पराक्रमी हो, उसे देने की वस्तु कौन-सी थी? स्त्री। राजा बहुत खुश हुआ, तो आधा राज्य दे दिया और अपनी कन्या दे दी। वह खरीदने की चीज थी, वह जीतने की चीज थी, वह चुराने की चीज थी और वह छीनकर ले जाने की चीज थी। इसलिए वह बेचने की चीज भी थी। हम लोगों की अक्सर यह धारणा रही है कि स्त्रियों के विषय में प्राचीन आदर्श ऊँचे थे। और बातों में वे रहे होंगे, लेकिन इतना मुझे नम्रतापूर्वक कह देना चाहिए कि स्त्रियों सम्बन्धी सारे प्राचीन आदर्श, स्त्रियों की मनुष्यता की हानि और अपमान करनेवाले थे। इसलिए उन आदर्शों के अनुसार आज का सहनागरिकत्ववाला समाज चल नहीं सकता। किसी धर्म में स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व कभी नहीं रहा। मेरी माँ कोई धार्मिक विधि कभी अकेले नहीं कर सकती। मेरे पिताजी की वह सहधर्मिणी है, मुख्य धर्मिणी नहीं। पिताजी

न हों, तो उसका अपना कोई धर्म नहीं है। पिताजी जो पुण्य करते हैं, उसका आधा पुण्य अपने-आप उसे मिल जाता है और वह जो पाप करती है, उसका आधा पाप पिताजी को अपने-आप लग जाता है। वह जो पुण्य करती है, उसका आधा पिताजी को नहीं मिलता और पिताजी जो पाप करते हैं, उसका आधा उसे नहीं लगता। यह मर्यादा है। क्योंकि वह रक्षित है, यह 'रक्षक' है। स्त्री पालित है, पुरुष पालक। यह उसका भर्ता है, प्रतिपालक है, पति है। इसलिए मुख्य धर्म और मुख्य कर्त्तव्य पुरुष का है, स्त्री की केवल सहधर्मिणी की भूमिका है, वह सह-जीविनी है, उसका अपना स्वतंत्र जीवन नहीं है। जैनों और बौद्धों के कुछ प्रयासों को हम छोड़ दें, तो आज तक की जो परम्परा और समाज-स्थिति है, वह यह है कि स्त्री की भूमिका गौण और दोयम रही है। उसका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं रहा है। समाज ने कभी उसे व्यक्ति नहीं माना है। इसलिए ब्रह्मचर्य उसका मुख्य धर्म कभी नहीं माना गया। पुरुष का मुख्य धर्म ब्रह्मचर्य माना गया।

ब्रह्मचर्य का सामाजिक अर्थ

ब्रह्मचर्य का सामाजिक अर्थ क्या है? स्त्री का शरीर पुरुष के आक्रमण का विषय न हो और पुरुष स्त्री का रक्षणकर्ता न हो। यह ब्रह्मचर्य का सामाजिक अर्थ है और इस दुनिया में कोई क्रांतिकारी ऐसा नहीं है, चाहे मार्क्सवादी हो, चाहे गांधी के विचार माननेवाला हो या और कोई विचार माननेवाला हो, जो यह सिद्धान्त न माने कि समाज-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि स्त्री का शरीर पुरुष के आक्रमण का विषय न रहे, उसकी अभिलाषा का विषय न रहे और पुरुष का शरीर स्त्री के लिए रक्षण माँगने का विषय न रहे। याने स्त्री रक्षणाकांक्षिणी न रहे और दूसरी तरफ पुरुष आक्रमणशील न रहे। यह सामाजिक क्षेत्र में ब्रह्मचर्य कहलाता है।

सह-जीवन की दो शर्तें

स्त्री रक्षणाकांक्षिणी रहेगी, तो उसे नागरिक नहीं बनना चाहिए, नहीं बनने देना चाहिए। वह सिर्फ कुटुम्बिनी रहे। वह कुटुम्बिनी जब तक रहेगी,

तव तक उसकी तीन ही हैसियतें हो सकती हैं—या तो वह माँ रहे, वहन रहे, कन्या रहे या फिर वह कुटुम्ब से वाहर आकर दूसरे कुटुम्ब में पत्नी के नाते दाखिल हो जाय। यौन-संवंध और रक्त-संवंध, ये दो ही संवंध ऐसे होंगे, जहाँ स्त्री और पुरुष, दोनों एक-दूसरे के साथ रह सकेंगे। माता और पुत्र के नाते, कन्या और पिता के नाते, भाई-वहन के नाते, पति-पत्नी के नाते। पति-पत्नी का संवंध है यौन-संवंध, विवाह का संवंध, और वाकी रक्त के संवंध।

कुटुम्ब में स्त्री और पुरुष का सह-जीवन दो ही शर्तों पर होता है। या तो उनका रक्त का संवंध हो या फिर यौन-संवंध, विवाह-संवंध, हो। जहाँ रक्त-संवंध भी नहीं है और विवाह-संवंध भी नहीं है, वहाँ स्त्री-पुरुषों का संवंध 'नागरिक का संवंध' कहलाता है। इसे मैंने 'सहनागरिकत्व' कहा है।

सहनागरिकत्व का विचार

इसका वैज्ञानिक विचार केवल 'कम्युनिज्म' में हुआ। जिन परिणामों पर वे लोग पहुँचे, उससे वहुत भिन्न परिणामों पर हम नहीं पहुँचे। आज उनका विचार यहाँ तक पहुँचा है कि स्त्री की जो कौटुम्बिक भूमिका है, वह उसके नागरिकत्व से समृद्ध होनी चाहिए। स्त्री की कौटुम्बिक भूमिका में और स्त्री के नागरिकत्व में अन्तर नहीं होना चाहिए। शुरू में उन लोगों ने कुटुम्ब-संस्था का विरोध इसलिए किया कि कुटुम्ब-संस्था में स्त्री दासी थी। कुटुम्ब-संस्था में स्त्री की कोई भूमिका नहीं थी। पर आज वे कहते हैं कि समाज की प्रगति चक्करदार, पेंचदार, जीने की तरह होती है और क्रांति के वाद की आज की कुटुम्ब-व्यवस्था पहले से ऊँचे स्तर की है।

स्त्री के नागरिक वन जाने के वाद की कौटुंविक रचना में मातृत्व का आशय वदल जाता है, पत्नीत्व का आशय वदल जाता है, भगिनीत्व का आशय वदल जाता है और कन्यात्व का भी आशय वदल जाता है। पहले, जैसा कि मैंने कहा, स्त्री वेचने की चीज थी, खरीदने की चीज थी, जीतने की चीज थी और चुराने की भी चीज थी। इसलिए स्त्री एक प्रकार से व्यक्ति नहीं थी, वह हमारी संपत्ति का, जायदाद का एक प्रकार से हिस्सा थी। जव वह पुरुष की संपत्ति का एक हिस्सा थी, उस वक्त की कुटुंव-रचना और स्त्री जिस दिन

पुरुष की बराबरी की व्यक्ति और नागरिक बन जाती है, उस वक्त की कुटुम्ब-रचना में मूलतः अंतर पड़ जाता है। इसलिए उन्होंने इसे उच्च स्तर कहा। उसका स्तर, उसकी भूमिका बदल गयी है।

नीति के दो मानदण्ड

तो यदि हम स्त्री के नागरिकत्व को चरितार्थ करना चाहते हैं, तो समाज में और आर्थिक क्षेत्र में हमें उसकी भूमिका बदल देनी होगी। स्त्री की सामाजिक भूमिका में सबसे बड़ा दोष है नीति के दो मानदंड। पुरुष के लिए एक मानदंड और स्त्री के लिए दूसरा मानदंड।

एक स्त्री सती हुई। अब आप कहते हैं—"कितना त्याग है! कितना बलिदान है! कैसी अद्भुत भक्ति है! इसमें कितना प्रेम है कि पति के जीवन के साथ समरस हो गयी। पति के जीवन का अंत होते ही उसके बाद उससे रहा नहीं गया, उसके साथ वह समाप्त हो गयी। उसने पति की चिता में पति के शरीर के साथ अपने-आपको भस्मसात् कर लिया।" यह बहुत बड़ा आदर्श है, मैं मानता हूँ। लेकिन अब इसके साथ एक दूसरी बात ले लीजिये—एक पुरुष अपनी स्त्री के साथ चिता पर जल मरता है। आप कहेंगे—लंपट है! भला, स्त्री के साथ भी कोई मरता है? ऐसा मूर्ख पुरुष! जो सिर्फ औरत के लिए मरता है! पुरुषनिष्ठ स्त्री **'पतिव्रता'** कहलाती है, स्त्रीनिष्ठ पुरुष **'लंपट'** कहलाता है। अब बतलाइये, कितना भयानक यह पैमाना है! नैतिकता के लिए ये जो दो कसौटियाँ हैं, ये कितनी भयंकर कसौटियाँ हैं?

स्त्री के लिए ब्रह्मचर्य का निषेध

स्त्री मुझसे कहती है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक नैतिक हैं। अधिक नैतिकता का मतलब यह तो नहीं कि अधिक संयमी हैं, अधिक ब्रह्मचर्यनिष्ठ हैं। ब्रह्मचर्य का तो उनके लिए निषेध है। वृद्ध कुमारिका **'वृषली'** कहलाती है। जब तक उसकी शादी न हो जाय, तब तक उसके हाथ का कोई पानी नहीं पीता। कोई भी नेता लड़कियों के स्कूल में जाकर कहता है—"लड़कियो, तुम वीर माता बनो, शिवाजी की माता बनो। गांधी की माता बनो, तिलक

की माता बनो।" पर लड़कों के कॉलेज में जाकर कोई यह नहीं कहता कि तुम लोग वीर-पिता बनो। वह ऐसा इसीलिए नहीं कहेगा कि पुरुष का धर्म और पुरुष का व्यक्तित्व स्वतंत्र और स्वायत्त है; स्त्री का नहीं है। ऐसा विरोध रहते हुए कि एक नागरिक रक्षित रहे और एक नागरिक उसका रक्षणकर्ता रहे, लोकसत्ता चरितार्थ कैसे हो सकती है? इसलिए मेरा नम्र सुझाव यह है कि स्त्री के जीवन में ब्रह्मचर्य का स्थान वही होना चाहिए, जो पुरुष के जीवन में है। इसे मैं **'ब्रह्मचर्य व्रत का सामाजिक मूल्य'** कहता हूँ।

ब्रह्मचर्य का गलत अर्थ

पुराने लोगों ने 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ कर लिया है—स्त्री से दूर रहना और स्त्री से डरना, स्त्री-द्रोह। केवल स्त्री-निरपेक्ष जीवन नहीं, स्त्री-विरोधी जीवन। बचपन में हमारे यहाँ एक ब्रह्मचारी थे। वे स्त्रियों के आते ही मुँह पर कपड़ा डाल लेते थे। कारण पूछने पर कहते—"स्त्रियों का मुँह नहीं देखते।" "क्या माँ का मुँह नहीं देखते?" तो कहते, हमारा तो ब्रह्मचर्य का आदर्श ही यह रहा है कि मैं केयूर नहीं जानता, कुण्डल नहीं जानता, केवल नूपुर जानता हूँ, **नित्यं पादाभिवन्दनात्**। लक्ष्मण कहता है, "मैं जानकी के दूसरे कोई गहने नहीं जानता।" परन्तु क्या लक्ष्मण सुमित्रा के बारे में ऐसा कह सकता है कि "मैंने कभी उसका चेहरा नहीं देखा?" विद्यारण्य स्वामी लिखित 'शांकर दिग्विजय' में मंडन मिश्र का और शंकराचार्य का पार्लमेंटरी ढंग का संवाद आता है। पर उसमें एक बात बहुत महत्त्व की है। मंडन पूछता है—"जिन स्त्रियों की कोख से तू पैदा हुआ, और जिनका स्तन्य तूने पिया, उन स्त्रियों से तू घृणा करता है? उनका द्रोह करता है? तू उनसे दूर-दूर फिरता है, ब्रह्मचारी बनता है?" यह थी स्त्री और पुरुष का भेद करनेवाले मंडन की दृष्टि। शंकराचार्य जवाब देता है और वह जवाब एक ऐसा जवाब है, जिसे मैं और आप, सब याद रखें। उसने जवाब दिया—"अरे, जिनकी कोख से पैदा हुआ और जिनका दूध पिया, तू पशु की तरह उन्हींसे शादी करता है। मैं ऐसा नहीं करता।" यह ब्रह्मचर्य की दृष्टि कहलाती है।

मातृत्व की दृष्टि

ब्रह्मचर्य की जो दृष्टि है, वह मातृत्व की है, वह कोई पितृत्व की प्रतियोगी नहीं है। मेरी माता मेरे पिता की स्त्री नहीं है, वह मेरी माँ है और मेरी स्त्री मेरी पत्नी नहीं है, मेरे बच्चों की माँ है। इस भावना में फर्क है। इसीलिए तो हम दूसरी स्त्री से माताजी कह सकते हैं। याने मातृत्व की भावना में, 'माता' शब्द के संकेत में विवाह-भावना नहीं है। मैं बता चुका हूँ कि ब्रह्म-चर्य-भावना में, स्त्री-पुरुष-संबंध में, काम की जो भावना है, उस भावना का निराकरण है और सामाजिक संकेतों की स्थापना है, जिससे स्त्री-पुरुषों की कामवासना और कामभावना कम हो। पुरुष आक्रमणशील न रहे, स्त्री रक्षणा-कांक्षिणी न रहे, इसके लिए नये सामाजिक संकेतों की और नयी भावनाओं के विकास की आवश्यकता होती है। आखिर सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन ही तो क्रान्ति है।

स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में भी हमें मूल्यों का परिवर्तन करना होगा। मातृत्व की भावना का आज से भिन्न अर्थ करना होगा। हमारी जगन्माता काली जो है, हमारी जगन्माता भगवती जो है, हमारी जगन्माता दुर्गा जो है वह त्रिलोचनकुटुम्बिनी नहीं है—जगन्माता है। 'त्रिलोचनकुटुम्बिनी' कहते ही उसका अर्थ बिलकुल बदल जाता है। 'ब्रह्माऽपि यां नौति नुतः सुरेन्द्रैः, यामर्चितोऽप्यर्चयतीन्दुमौलिः। यां ध्यायति ध्यानगतोऽपि विष्णुः, तामादिशक्तिं शिरसा प्रपद्ये॥'

"ब्रह्मा भी जिसको नमन करता है, इन्द्र भी जिसको नमन करता है, विष्णु भी जिसका ध्यान करता है, वही आदिशक्ति हमारी जगन्माता है।" मनुष्य जब ऐसा कहता है, तो मातृत्व को यह विश्वव्यापी बना देता है। इस मातृत्व की भावना का विकास हमारी कौटुम्बिकता का आधार होगा। कुटुम्ब में नैतिकता का आधार क्या होगा? मेरी माँ मेरे पिता की पत्नी नहीं है और मेरी अपनी पत्नी मेरे पुत्रों की माँ है,—यह तो कौटुम्बिक क्षेत्र में हो गया। कौटुम्बिक क्षेत्र से बाहर, स्त्री और पुरुष जहाँ बराबर हैं, मेरी बेटी को भी एक ही वोट, मेरी बहू को भी एक ही वोट, मेरी माँ को भी एक ही वोट। बेटी का

मैं बाप हूँ, पर नागरिक के नाते उसको भी एक वोट और मुझे भी एक वोट। इतना ही नहीं, वह म्युनिसिपैलिटी की प्रेसिडेंट बन सकती है और मैं म्युनिसिपैलिटी का चपरासी रह सकता हूँ। नागरिक के नाते हम समान भूमिका पर आ जाते हैं।

मनुष्यत्व के आधार पर नागरिकत्व

स्त्री-पुरुष से व्यापक मनुष्यत्व की भूमिका है। हम स्त्री का स्त्रीत्व भूल जाते हैं, पुरुष का पुरुषत्व भूल जाते हैं—दोनों के मनुष्यत्व के आधार पर नागरिकत्व की रचना होती है। स्त्री और पुरुष में एक सामान्य मनुष्यत्व है। उस सामान्य मनुष्यत्व के आधार पर दोनों के नागरिकत्व की रचना होती है। विशिष्टत्व उनमें है। कार्यक्षेत्र इसीलिए उनके भिन्न होते हैं। लेकिन नागरिकत्व का आधार उनका सामान्य मनुष्यत्व है। अलग-अलग कार्यक्षेत्र हैं, तो कार्यक्षेत्रों के मूल्य समान मान लिये जायँ।

स्त्रियों का कहना है कि हमको नागरिकत्व दो, हमको स्वतन्त्रता दो, लेकिन हमारी स्वतन्त्रता का रक्षण तुम करो। पुरुष-साम्राज्यांतर्गत स्वराज्य उन्हें चाहिए—सुरक्षित स्वराज्य। हम कहते हैं कि उनका स्वराज्य, उनकी स्वतंत्रता स्वायत्त हो। स्त्री आगे सुरक्षित नहीं रहेगी, स्वरक्षित होगी। पुरुष की ओर से तो सुरक्षित रहेगी, लेकिन अपनी तरफ से स्वरक्षित रहेगी। जो स्वरक्षित नहीं है, वह सुरक्षित कभी हो ही नहीं सकता। स्त्री स्वरक्षित रहे, इसके लिए अहिंसा सबसे अनुकूल है। अहिंसा हमारा मूलभूत सामाजिक सिद्धांत है और वह स्त्री की स्वतंत्रता के लिए सबसे अधिक अनूकूल है। हिंसा शस्त्र का भरोसा करती है। हिंसा शरीर-शक्ति का भरोसा करती है। लोग कहते हैं कि स्त्री का शरीर पुरुष के शरीर की अपेक्षा कम सामर्थ्यवान् है। स्त्री का शरीर पुरुष के शरीर की अपेक्षा कम शक्ति-सम्पन्न है। तो अहिंसा ने कहा, शक्ति का अधिष्ठान शरीर है ही नहीं।

अहिंसा का मूलभूत सिद्धान्त

गांधी, विनोबा और जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रों के नेता हो सकते हैं।

मार्क्स और लेनिन क्रांतियों के नेता हो सकते हैं। सब जानते हैं कि वे अपने जमाने के पहलवान नहीं थे। इनसे कई बड़े पहलवान रूस में उस जमाने में थे और आज भी हैं। दुनियाभर में जो लुई और किंगकांग का बोलबाला है। फिर भी जो पहलवान नहीं थे, वे ही लोग दुनिया के नेता हुए और क्रांति के नेता हुए। शक्ति का अधिष्ठान शस्त्र भी नहीं होता और शरीर भी नहीं होता। यह अहिंसा का मूलभूत सिद्धान्त है। तो अब स्त्री के लिए और कौन-सी बात बाकी रह गयी? समाज में शरीर-शक्ति यदि श्रेष्ठ नहीं है, शरीर-शक्ति से दूसरी शक्ति श्रेष्ठ है, तो अब स्त्री को एक ही संकल्प करना है कि आज से हम इस संसार में पुरुष के भरोसे नहीं जियेंगी। पुरुष के साथ जियेंगी। १०० में से ९० पुरुष स्त्रियों के साथ तो जीते हैं, कोई शुकाचार्य तो है नहीं, लेकिन स्त्रियों के भरोसे नहीं जीते। यह पुरुष-जीवन की विशेषता है, जिसे मैं ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा कहता हूँ। मैं यह नहीं कहता कि पुरुषमात्र शुकाचार्य है, नैष्ठिक ब्रह्मचारी है, लेकिन पुरुष-जीवन में ब्रह्मचर्य का मूल्य होने के कारण उसकी नीतिमत्ता में इतनी शक्ति आ गयी है। वह यह कहता है कि मैं स्त्री के भरोसे नहीं जिऊँगा। स्त्री कहती है कि मुझे पुरुष के भरोसे जीना पड़ता है। भगवान् ने मेरे शरीर की रचना दूसरे प्रकार से की। इसे प्राकृतिक दलील कहते हैं। मुझे खुशी है कि चाहे ब्रह्मचर्यवादी हों, भौतिकवादी हों या अध्यात्म-वादी हों, संसार के सभी क्रान्तिकारियों ने, इस दलील को नहीं माना।

जगन्माता रक्षणाकांक्षिणी क्यों ?

अब संकल्प इतना ही करना है कि मेरी इज्जत मेरी जान से अधिक प्यारी होगी। पहले जान जायगी, बाद में इज्जत जायगी। जिसकी इज्जत दूसरे के कब्जे में होती है, उसकी भी कोई इज्जत है? आपने अपनी इज्जत मेरे कब्जे में दे दी, तो इज्जत मेरी हो गयी या आपकी रही? स्त्री की इज्जत आज पुरुष के भरोसे है, इससे स्त्रियों की अपनी इज्जत है ही नहीं। यह मैं बहुत ही कठोर बात कह रहा हूँ, लेकिन एक स्त्री के पुत्र के नाते कह रहा हूँ। मैं अपनी माँ की यह स्थिति सह नहीं सकता। जिस माँ को मैंने पिताजी से श्रेष्ठ माना, थोड़ा-सा भय होते ही जिसके नाम से पुकारा, जिस जगन्माता

के मन्दिरों में जाकर मैंने कहा कि 'क्वचिदपि कुमाता न भवति'। जिस जगन्माता के वारे में मैंने यह गाया :

'यदेतस्यैश्वर्यं तव जननि सौभाग्यमहिमा ।'

'इस महेश्वर का जो ऐश्वर्य है, वह ओ जननि, तेरे सौभाग्य की महिमा है। इसका अपना कुछ नहीं है।'

यह जिसके लिए मैंने गाया, वह अन्त में स्त्री के नाते पुत्र का रक्षण खोजे, वहन के नाते भाई को राखी बाँधकर उसका रक्षण खोजे, विवाह में पत्नी के नाते भर्ता का रक्षण खोजे, वाल्यावस्था में कन्या के नाते पिता का रक्षण खोजे ?

नारी स्वरक्षित बने

जो रक्षक वन सकता है, वह नीयत बदलते ही आसानी से भक्षक वन सकता है। इसलिए जव तक स्त्री पुरुष-रक्षित है, तव तक वह सुरक्षित भी नहीं है। उसे स्वरक्षित वनना चाहिए और स्वरक्षित वनने के लिए उसके जीवन में ब्रह्मचर्य का मूल्य आना चाहिए। जो पुरुष स्त्री-निरपेक्ष जीवन व्यतीत करता है, वह गृहस्थाश्रमी से श्रेष्ठ माना जाता है। स्त्रियाँ भी ऐसा मानती हैं। वे हनुमान्‌जी और दत्तात्रेय की ही पूजा करने जाती हैं। यह पुरुष के जीवन में ब्रह्मचर्य का मूल्य है। विनोबा को किसीने नहीं कहा कि यह वाप नहीं हुआ, तो इसका जीवन सार्थक नहीं हुआ। लेकिन मातृत्व के विना स्त्री के जीवन की सार्थकता नहीं है। मातृत्व के विना यदि जीवन की सार्थकता नहीं है, तो स्त्री विवाहाकांक्षिणी वन जायगी। कुंकुम-पत्रिकाओं में लड़की के लिए लिखते हैं 'सौभाग्यकांक्षिणी' अमुक की, इसकी शादी है। यह सौभाग्यकांक्षिणी है। शादी करना चाहती है, इसे आकांक्षा है सौभाग्य की। पर इसका जो पति होनेवाला है, वह अपने को सौभाग्यकांक्षी नहीं लिखता। यह कोई दुर्भाग्य-कांक्षी है ? वह तो सौभाग्यवती हो गयी, पर यह कुछ नहीं हुआ। क्यों ? इसीसे कि इसमें कोई आकांक्षा नहीं है।

नारी-जीवन की अनर्थ-परम्परा

जीवन में ये भिन्न मानदंड इसलिए आ गये हैं कि स्त्री और पुरुष के लिए हमने अलग-अलग नैतिक मूल्य मान लिये हैं। जव हम नैतिक मूल्यों को एक

वार अलग मान लेते हैं, तो उनकी ऐसी परम्परा बन जाती है। मातृत्व के बिना स्त्री-जीवन की सार्थकता नहीं। विवाह के बिना मातृत्व नहीं। पुरुष के बिना विवाह नहीं। इसलिए पुरुष-सापेक्ष जीवन बन गया। यह है नारी-जीवन की अनर्थ-परम्परा।

हम चाहते हैं कि स्त्री का जीवन पुरुष-सापेक्ष न रहे, ब्रह्मचर्य पर अधिष्ठित हो। इसका मतलब यह नहीं कि स्त्री शादी नहीं करेगी। कितनी ही लड़कियाँ मुझसे आकर पूछती हैं—"तो क्या हम शादी न करें ?" मैं कहता हूँ, "क्या लड़के शादी नहीं करते ? वे शादी तो करते ही हैं, लेकिन तुम्हारे भरोसे नहीं जीते।" शादी होते ही लड़की की चिन्ता समाप्त हो जाती है और लड़के की चिन्ता शुरू हो जाती है। लड़के से कहिये कि "शादी करो" तो वह कहता है, "अभी तैयारी नहीं।" "क्यों नहीं है ?" तो कहता है, "अभी मैं कुछ कमाता नहीं हूँ।" और कॉलेज की लड़की से पूछता हूँ, "शादी करोगी ?" तो कहती है, "हाँ, अब तक हुई ही नहीं है, इसीलिए नहीं की है। कल हो जायगी, तो फिर नौकरी-चाकरी की चिन्ता नहीं रहेगी। वह रिक्शा चलायेगा और मैं भीतर बैठूँगी !"

पुरुषों के लिए तीन सुझाव

सहनागरिकत्व के लिए मैंने स्त्री-पुरुष, दोनों को कुछ सुझाव दिये हैं। पुरुषों के लिए मेरे तीन सुझाव हैं—

जब तक पुरुष विद्यार्थी है, तब तक उसमें विवाह-भावना बिलकुल न होनी चाहिए। हमारे विद्यालय वर-वधू-शोध-क्षेत्र नहीं बनने चाहिए। लड़के-लड़कियों, दोनों का जीवन अकलुषित और ब्रह्मचर्यनिष्ठ होना चाहिए। तभी सह-शिक्षण सफल होगा, अन्यथा नहीं। इसके लिए समाज में परिस्थिति का जितना परिवर्तन करना आवश्यक हो, उतना वस्तु-परिवर्तन कर लेना चाहिए। लेकिन मूल्य-परिवर्तन हमेशा शिक्षण से होता है। इसलिए शिक्षण के क्षेत्र में वस्तु-परिवर्तन के बाद मूल्य-परिवर्तन शुरू हो जाना चाहिए।

कुटुम्ब में स्त्री का नागरिकत्व दाखिल हो जाना चाहिए। स्त्री नागरिक बन गयी है, इस बात की चेतना, इसका बोध, पुरुष को होना चाहिए।

अब वह केवल कुटुम्बिनी नहीं रह गयी है। नागरिक के नाते सरोजिनीदेवी गवर्नर बन सकती हैं और उनके पति एक साधारण नागरिक रह सकते हैं। इसलिए नागरिक के नाते अब स्त्री की जो सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ गयी है, उसे जो नयी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी है, उसकी प्रतिध्वनि, उसका प्रतिबिम्ब पुरुष के घर में पड़ना चाहिए। स्त्री के नागरिकत्व में वह जितनी सहायता पहुँचा सकता है, उतनी सहायता उसे पहुँचानी चाहिए। यह मैंने गृहस्थाश्रम की मर्यादा बतलायी।

एक उम्र के बाद पुरुष के जीवन में से विवाह-भावना का अंत होना चाहिए। अब देखिये, आदि में ब्रह्मचर्य, अंत में ब्रह्मचर्य, तो बीच में जो गृहस्थाश्रम होता है, उसका आधार भी ब्रह्मचर्य बन जाता है। गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य कैसे प्रकट होता है? अपनी माँ की ओर मैं अपने पिता की पत्नी के नाते नहीं देखता और अपनी पत्नी की ओर अपनी सन्तान की माता के नाते देखता हूँ। याने कुटुम्ब में स्त्री के लिए मातृत्व मुख्य हो जाता है और उसका मातृत्व नागरिकत्व से सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार कौटुंबिक क्षेत्र में भी ब्रह्मचर्य का मूल्य आ जाता है। काम का मूल्य कम हो जाता है और ब्रह्मचर्य का मूल्य प्रतिष्ठित हो जाता है।

ब्रह्मचारिणी पवित्र मानी जाय

स्त्री के लिए मेरा सुझाव है कि ब्रह्मचारिणी अपवित्र है, यह भावना स्त्री-जीवन से निकल जानी चाहिए। जो विधवा है, वह संन्यासी से कम पवित्र है, यह भावना भी निकल जानी चाहिए। वैधव्य स्वायत्त नहीं होता, संन्यास स्वायत्त होता है। पुरुष संन्यासी बनता है, पर स्त्री विधवा बनती नहीं, होती है। इतना अन्तर तो रहेगा। लेकिन उसका यह मतलब नहीं है कि विधवा अमंगल मानी जाय, अपवित्र मानी जाय। स्त्री का वैधव्य संन्यास से कम मंगल नहीं माना जाना चाहिए। ब्रह्मचारी पुरुष का ब्रह्मचर्य जितना सुप्रतिष्ठित है, उतना ही सुप्रतिष्ठित स्त्री का ब्रह्मचर्य माना जाना चाहिए।

नारी तत्त्वनिष्ठा का संकल्प करे

इसके लिए स्त्री को अपने जीवन में यह संकल्प करना होगा कि वह पुरुष

के साथ जियेगी, लेकिन पुरुष के भरोसे नहीं जियेगी। यह शक्ति उसमें कैसे आयेगी? तभी, जब वह अपनी इज्जत को अपनी जान से कीमती मानेगी। अपनी इज्जत को अपनी जान से कीमती वह कब मानेगी? जब वह पुरुषनिष्ठ नहीं होगी, तत्त्वनिष्ठ होगी।

रामचन्द्रजी ने कहा, "अयोध्यावासियो, तुम्हारे लिए मैं क्या नहीं छोड़ सकता? 'यदि वा जानकीम् अपि'—जानकी को भी छोड़ना पड़ा, तो छोड़ दूंगा।" अब रामचन्द्रजी की जगह जानकी को रख लें। वह कहती है, "जहाँ पुरुष जाता है, वहाँ उसकी छाया जाती है, इसी तरह हे राम, जहाँ तुम जाओगे, वहाँ मैं जाऊँगी।" यदि जानकी को राम का त्याग करना पड़े तो? जानकी के जीवन में ऐसा मूल्य ही कौन-सा है, जिसके लिए उसे राम को छोड़ना पड़े? तारामती के जीवन में ऐसा मूल्य ही कौन-सा है, जिसके लिए उसे हरिश्चन्द्र का शिरच्छेद करना पड़े? दमयन्ती के जीवन में ऐसा मूल्य ही कौन-सा है, जिसके लिए उसे नल का त्याग करना पड़े? स्त्री व्यक्तिनिष्ठ है, तत्त्वनिष्ठ नहीं है, इसलिए स्त्री के जीवन में नैतिकता नहीं रह गयी है। स्त्री को तत्त्व-निष्ठ बनाना चाहिए। जिस दिन स्त्री तत्त्वनिष्ठ बनेगी, उस दिन उसके जीवन में नैतिकता आयेगी और वह पुरुष से प्रेम कर सकेगी। लोग मुझसे कहते हैं कि स्त्री के जीवन में पुरुष के लिए बहुत प्रेम है। मैं कहता हूँ कि स्त्री पुरुष से डरती भी है और पुरुष से प्रेम भी करती है—मैं तो समझ ही नहीं सकता। शेर से बकरी क्या प्रेम कर सकती है? जो पुरुष से डरती है, वह पुरुष से क्या प्रेम करेगी? लेकिन जब वह प्रेम करती है, तो कैसे? वह माता के नाते प्रेम करती है, बहन के नाते प्रेम करती है, कन्या के नाते प्रेम करती है। भय का तत्त्व जहाँ से निकल जाता है, वहाँ वह प्रेम करने लगती है। इन कौटुम्बिक भावनाओं का विस्तार नागरिक जीवन में शुरू कीजिये। तो कृष्ण-द्रौपदी का प्रतीक समाज में चरितार्थ हो जायगा।

कृष्ण-द्रौपदी का आदर्श वांछनीय

सह-नागरिकत्व को चरितार्थ करने के लिए कृष्ण-द्रौपदी पूजे जाने चाहिए, जिनमें यौन-संबंध नहीं था। द्रौपदी कृष्ण की गोपी नहीं थी। न वह राधा

थी कृष्ण की और न सुभद्रा। फिर भी उनके जीवन में एक-दूसरे के लिए कितना उत्कट प्रेम था, कितनी त्याग की तत्परता थी, यह हमने देखी! कृष्ण-द्रौपदी का आदर्श, सहनागरिकत्व का आदर्श है। कौटुम्बिक भावनाओं का सामाजिक जीवन में जब विनियोग होता है, तब कौटुम्बिक भावनाएँ सामाजिक मूल्यों में परिणत हो जाती हैं। इन कौटुम्बिक भावनाओं को सामाजिक मूल्य में परिणत कर देने का काम स्त्रियों के हाथ में है। वे पुरुष के भरोसे जीना छोड़ दें, पुरुष का रक्षण खोजना छोड़ दें। ऐसा संकल्प उन्हें करना होगा। यह कहाँ तक हो सकेगा, मैं नहीं जानता। लोग तो कहते हैं कि यह व्यवहार्य ही नहीं है। यदि यह व्यवहार्य नहीं है, तो समझ रखिये कि आपकी स्वतन्त्रता, आपका एक अलंकार हो जायगी। अलंकार जितने बढ़ते हैं, खतरा उतना बढ़ता है। इस बात को न भूलिये। स्त्री के जीवन में यदि स्वतन्त्रता एक आभूपण बनकर आयेगी, तो वह उसके लिए खतरनाक, भयावह, हो जायगी। स्त्री के जीवन में मूल्य-परिवर्तन के साथ स्वतन्त्रता और नागरिकता दाखिल होगी, तभी स्त्री का जीवन धन्य होगा, पुरुष का जीवन समृद्ध होगा और हमारा कौटुम्बिक जीवन उदात्त और मंगलमय होगा।* ●●●

*विचार-शिविर में २६-८-'५५ का प्रातः-प्रवचन।

संस्था और अहिंसक संगठन : १३ :

मुझसे पूछा गया है कि हमारा काम किस प्रकार से हो, कैसे हम आगे कदम बढ़ायें।

हर क्रांति के समय एक अनुभव यह होता है कि समाज के संस्कार और समाज की संस्थाएँ क्रांति की गति के साथ कदम नहीं मिला सकतीं। समाज में संस्थाएँ कायम होती हैं, संस्थाएँ विलीन होती हैं, कुछ संस्कार और कुछ संस्थाएँ रह जाती हैं। जो संस्थाएँ और जो संस्कार रह जाते हैं, उनमें से बहुत से स्थितिस्थापक होते हैं, याने समाज में जो रूढ़ परिस्थिति होती है, उसके संरक्षण में उनका उपयोग होता है। इसलिए कई दफा क्रांतिकारियों को समाज की विद्यमान संस्थाओं और संस्कारों से भी आगे बढ़ना पड़ता है। हमारे अपने देश में और हमारी अपनी आज तक की क्रांति के आंदोलन में गांधी का उदाहरण इसमें सबसे बड़ा उदाहरण है। संस्था का भी मोह न रहे, ऐसा नेता मैं समझता हूँ कि गांधी से पहले विरला ही हुआ होगा और गांधी के बाद भी कोई ऐसा नेता सार्वजनिक क्षेत्र में कम ही दिखाई देता है, जिसने संस्थाएँ कायम की हों और संस्थाओं के मोह में जो न फँसा हो।

संस्थाओं का मोह

१९३१ में असहयोग का आंदोलन शुरू हुआ। गांधी ने कहा कि "शिक्षण-संस्थाओं को भी अंग्रेज सरकार के साथ असहयोग करना चाहिए।" हमारे देश में जो बड़ी-बड़ी शिक्षण-संस्थाएँ थीं, जिनकी स्थापना राष्ट्रीय उद्देश्यों को लेकर हुई थी, जो संस्थाएँ राष्ट्रीय जागरण का काम करती थीं और राष्ट्र के विकास में हाथ बँटाती थीं, ऐसी संस्थाओं में काशी का हिंदू विश्वविद्यालय बहुत बड़ी संस्था थी। उसके प्राणभूत संचालक महामना मालवीयजी थे, जिन्हें बापूजी 'बड़े भाई' कहा करते थे। बापू न अपने 'बड़े भाई' से सबसे पहले कहा कि "आपकी संस्था एक ऐसी संस्था है, जो राष्ट्रीय संस्कारों से सम्पन्न

है, उसका उत्कर्ष आज तक राष्ट्रीय सिद्धांतों के अनुरूप हुआ है। आपकी संस्था यदि अंग्रेज सरकार से संबंध तोड़ देती है, तो हमारी क्रांति में बहुत बड़ी मदद पहुँचेगी।"

मालवीयजी बहुत गद्‌गद होकर बोले—"महात्माजी, आपका कहना तो सही है, लेकिन म क्या करूँ? मुझे इस संस्था से अपत्य प्रेम हो गया है और इस प्रकार अपने अपत्य का बलिदान करने की हिम्मत मुझमें नहीं है।" यह कहकर उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की।

सिद्धान्तों की प्रगति में बाधा

संस्था, संगठन और संघ, ये कभी-कभी सिद्धान्तों की प्रगति में बाधक हो जाते हैं, यदि उनके संचालक भी उतने ही अनासक्त न हों। मेरा अपना यह अनुभव है कि जितना कष्ट मुझे अपने कुटुम्ब को छोड़ने में नहीं हुआ, उतना संस्थाओं को छोड़ने में हुआ है। अक्सर होता ऐसा है कि कुटुम्ब के लिए भीख माँगने में तो शर्म लगती है, पर संस्था के लिए भीख माँगने में आदमी गौरव का अनुभव करता है। कुटुम्ब का प्रपंच जब मनुष्य करता है, तो समझता है कि मैं एक साधारण गृहस्थ हूँ, और जो कुछ कर रहा हूँ, उससे मुझे ऊपर उठना है। लेकिन जब संस्था का प्रपंच करता है, तो समझता है कि पुण्यकार्य कर रहा हूँ और इसीमें मुझे मरना है। इसलिए संस्था का बन्धन कौटुम्बिक बन्धनों से दुष्कर हो जाता है और मनुष्य उसे फिर तोड़ नहीं पाता।

एक मामूली-सी बात है। हम लोग जब चलने लगते हैं, तो सामान उठाने के लिए कुली करते हैं। अब तक यह मेरा अनुभव था कि कुली जब छह आने माँगता था, तो मैं सोचता था कि "दे दो भाई, छह आने माँगता है, तो उठाता भी तो है इतना बोझ!" सरकार ने कानून बना दिया कि तीन ही आने देने चाहिए। लेकिन कानून बन गया, इसलिए यह तो नहीं हुआ कि मेहनत कुछ कम हो गयी। वह माँगता है और अपने पास हैं, तो छह आने दे देने चाहिए! परन्तु अब क्या विचार आता है? यही कि पास छह आने हैं तो, लेकिन ये छह आने सार्वजनिक हैं। इसलिए इसे छह आने नहीं देने चाहिए। तो कुली

से कहता हूं—"अरे! भूमिदान-यज्ञ की यात्रा में हम जा रहे हैं और तू इसमें कुछ मदद नहीं करता है? वोझ के भी कम पैसे नहीं ले रहा है!" तो एक प्रकार की पुण्यमूलक निर्दयता मेरे हृदय में आ जाती है। यह पुण्यमूलक है, क्योंकि इस पुण्य-भावना में से पैदा हुई है कि मैं सार्वजनिक काम कर रहा हूँ। इस तरह से जिन्हें आप संस्थाओं के संचालक कहते हैं, उनमें एक प्रकार से संस्थाओं के प्रति आसक्ति और संस्थावाद की मनोवृत्ति आ जाती है। संस्थाओं को चलाना, संस्थाओं का संचालन करना, यही जीवन का उद्देश्य हो जाता है।

महान् नेताओं में अकेला गांधी ऐसा देखा, जिसने लड़कों के घरौंदों की तरह संस्थाएँ वनायीं और संस्थाएँ तोड़ीं। "मैंने वनायी यह भूलभुलैया! वना-वनाकर मिटा रहा हूँ।" यह चीज गांधी में देखी। सावरमती में आश्रम वनाया। आश्रम का उद्योग-मन्दिर हो गया। उद्योग-मन्दिर का हरिजन-आश्रम हो गया। सव कुछ हो गया, लेकिन गांधी ने सावरमती के तट पर जिस आश्रम का निर्माण किया, उसका सावरमती के विशाल उदर में विसर्जन ही कर दिया।

गांधी सेवा-संघ

गांधी जव वर्धा में आये, उसके वाद उनके साथियों ने 'गांधी सेवा-संघ' वनाया। तो पहले ही उन्होंने पूछा—" 'गांधी सेवा-संघ' का मतलव क्या है? गांधी की सेवा का तो संघ नहीं है? याने यह कैसा समास है? इसका अर्थ गांधी की सेवा है या गांधी ने आज तक जिस तरह लोगों की सेवा करने की राह वतलायी है, उसका संघ है यह?"

हमने कहा, "इसका मतलव इतना ही है कि आपकी वतलायी हुई रीति से हम सेवा करनेवाले हैं। आपकी सेवा नहीं करनेवाले हैं। आपके लिए यह संघ नहीं है।"

१९३८ में कुमरी, हुदली (वेलगाँव) के पास 'गांधी सेवा-संघ' का सम्मेलन हुआ। वापू सम्मेलन में प्रवेश कर रहे थे। दरवाजे पर किसी देहाती ने एक दूसरे आदमी से पूछा, "यह क्या है? यहाँ आज क्या हो रहा है? इतनी वड़ी सभा क्यों हो रही है? हमने तो पहले कांग्रेस देखी थी।"

तो वह जवाब देता है, "वह जवाहरलाल की कांग्रेस है, और यह गांधी की कांग्रेस है।"

अब उसने तो उस देहाती को समझाने के लिए कहा। लेकिन उस बूढ़े के दिल में बात चुभ गयी। वहीं से प्रवचन का आरम्भ हुआ कि क्या कोई कभी यह भी सोच सकता है कि वह कांग्रेस जवाहरलाल की है और यह कांग्रेस गांधी की है। याने गांधी भी कोई अपनी ऐसी संस्था बना रहा है, जो संस्था उसकी अपनी प्रतिष्ठा का औजार, उपकरण होगी। गांधी के व्यक्तित्व का उत्कर्ष करने के लिए कोई संस्था साधन होगी, क्या ऐसा भी कोई सोच सकता है? सोचते रहे। उसके बाद सुभाष बाबू का प्रकरण हुआ और मलिकान्दा में 'गांधीवाद ध्वंस होउक' के नारे लगे। मलिकान्दा में 'गांधी सेवा-संघ' का सम्मेलन हुआ, तब गांधी ने सोचा कि अब हम इस मुकाम पर पहुँच गये हैं कि 'गांधी सेवा-संघ' यदि रहेगा, तो मेरे सिद्धान्तों का प्रचार इस राष्ट्र के जीवन में नहीं हो सकता, इसलिए किशोरलालभाई की अध्यक्षता में विधि-पूर्वक 'गांधी सेवा-संघ' का विसर्जन कर दिया।

संस्थाओं का निर्माण और विसर्जन

जैसे हम गणेशजी की मूर्ति बनाते हैं और उसका विसर्जन करते हैं, उस प्रकार से, उतनी पवित्र भावना से, संस्थाएँ बनाना और उतनी ही पवित्र भावना से समारोहपूर्वक संस्थाओं का विसर्जन कर देना, यह **'गांधी की विशेषता'** थी। इसे मैं **'अहिंसक प्रक्रिया की विशेषता'** मानता हूँ। अनासक्त कर्म की यह एक बहुत बड़ी कसौटी है कि जिन संस्थाओं का हम पवित्र भावना से निर्माण करते हैं, क्योंकि वे हमारे सिद्धान्तों को आगे बढ़ाने का उपकरण होती हैं, उन्हीं संस्थाओं का हम विसर्जन कर देते हैं, जब हम यह देखते हैं कि संस्था के व्यवहार में और संस्था के प्रपञ्च में ही अब हमारा ज्यादा ध्यान लग जाता है, और व्यापक दृष्टि हमारी क्षीण होती चली जाती है। निर्माण की ही तरह संस्थाओं का विसर्जन करने की हिम्मत हममें होती है। यह अनासक्त वृत्ति ही अहिंसक संगठन की विशेषता है।

संस्थाओं के दो प्रकार

आज संसार में उपलब्ध संस्थाएँ दो प्रकार की हैं—सैनिक और संविधानात्मक।

सैनिक-संस्थाएँ

कुछ संस्थाएँ ऐसी हैं, जो सेना की तरह व्यक्तिनिष्ठ होती हैं। वे एक व्यक्ति के आधार पर चलती हैं। वह व्यक्ति जब तक रहता है, तब तक वे उस व्यक्ति के नाम पर चलती हैं। बाद में उस व्यक्ति के नाम पर जो गद्दी होती है, उस गद्दी के नाम पर चलती हैं। ये संस्थाएँ व्यक्तिनिष्ठ होती हैं। उनका एक सभापति या एक गुरु होता है। वह गुरु और वह सभापति ही उनका नियन्ता है, उनका नियम है। वह गुरु और सेनापति ही उन संस्थाओं के लिए सब कुछ होता है। वही है उनका शास्ता, नियन्ता, अधिष्ठाता। नियम भी वही गुरु होता है। इन्हें सैनिक-संस्था मैं इसलिए कहता हूँ कि इनमें कोई नियम कागज पर नहीं होता और किसीके बहुत ज्यादा अधिकार भी नहीं होते। गुरु की आज्ञा और गुरु का आदेश ही एकमात्र नियम होता है। उस गुरु की गद्दी पर जो कोई होगा, उसका आदेश भी वही नियम होता है। ऐसी कुछ राष्ट्रीय स्वरूप की संस्थाएँ होती हैं, कुछ धार्मिक संस्थाएँ। इन संस्थाओं में सबसे बड़ी बुराई यह चलती है कि यदि वह व्यक्ति ध्यान दे सका, तब तो ये संस्थाएँ अच्छी तरह चल सकती हैं। पर यदि वह व्यक्ति संस्था की ओर ध्यान न दे सका और संस्था में न रह सका, तो उस व्यक्ति का नाम होता है और संस्थाओं में उस व्यक्ति के नाम पर अनेक प्रकार के मिथ्याचार शुरू हो जाते हैं।

व्यक्तिनिष्ठ और केवल सैनिक-पद्धति से चलनेवाली संस्थाओं में व्यक्ति जब तक रहेगा, तभी तक वे संस्थाएँ चल सकती हैं।

संविधानात्मक संस्थाएँ

दूसरी, संविधान पर चलनेवाली संस्थाएँ हैं। इनमें यह विशेषता होती है कि पहले तो लोग बड़ी ईमानदारी से संविधान बनाते हैं और उस संविधान

के अनुकूल चलने की चेष्टा करते हैं। परन्तु बाद में इस दृष्टि से संविधान का अध्ययन करने लगते हैं कि यह संविधान हमें कितने अधिकार देता है और इस संविधान के नियमों में से कितनी छूट हम बार-बार ले सकते हैं।

कांग्रेस में ऐसा हुआ। पहले नियम था कि जो आदतन खादी पहनेगा, वही सदस्य बनाया जायगा। एक दफा एक समिति में एक सज्जन बैठे हुए थे। उनसे कहा गया कि "आपके शरीर पर खादी नहीं है।" बोले—"मैं आदतन खादीधारी हूँ। मैं खादी ही खादी पहना करता हूँ और हमेशा पहना करता हूँ। मुझे खादी पहनने की आदत ही हो गयी है। लेकिन सिर्फ धोती ही मैं खादी की नहीं पहनता। अगर रूमाल भी मैं हमेशा खादी का रखता हूँ, तो आपको यह मानना पड़ेगा कि मैं आदतन खादीधारी हूँ।"

तब कांग्रेस के संविधान में लिखना पड़ा कि जो खादी पहनता हो, और खादी ही खादी पहनता हो और खादी के सिवा और कुछ न पहनता हो, 'सत्य, पूर्ण सत्य, और सत्य के सिवा कुछ नहीं'—जैसे अदालत में गवाहों का हलफ-नामा होता है। उस भाषा में सारा का सारा लिखना पड़ा।

विनोबा जब यह कहते हैं कि संगठन में हिंसा का प्रवेश हो जाता है, तो उनका मतलब यह है कि संगठन यदि व्यक्तिनिष्ठ हो और दंडनिष्ठ हो, तब तो हमें मान ही लेना पड़ेगा कि उसमें हिंसा होती है। लेकिन संगठन यदि संविधाननिष्ठ हो, फिर भी उसमें दंड हो, तब भी वह संगठन हिंसक बन जाता है। नियम पालोगे, तो हमारी संस्था में रह सकोगे, नियम नहीं पालोगे, तो अनुशासन-भंग के लिए शासन होगा, तुम संस्था में से निकाल दिये जाओगे। जिन्हें निकालते हैं, वे लोग एक प्रति-संगठन बनाते हैं। तुमने हमें निकाला है। ठीक है। तुम्हें शिकस्त देने के लिए हम प्रति-संगठन बनायेंगे। इस तरह संगठन में से प्रति-संगठन पैदा होता है। इसलिए जिसमें दंड हो, सजा हो, ऐसा संगठन नहीं होना चाहिए। इसलिए विनोबा ने कहा है कि जहाँ-जहाँ संगठन होता है, वहाँ-वहाँ अक्सर ये चीजें आ जाती हैं। अनुशासन-भंग की कार्यवाही तभी सफल होती है, जब संस्था के हाथ में सदस्य को देने के लिए कुछ होता है। सदस्य का संस्था में आने से सेवा के सिवा जब और कोई लाभ होता है, तब उसमें सजा या अनुशासन-भंग की कार्यवाही सफल होती है,

अन्यथा नहीं। इन बातों का विचार करके विनोबा ने कहा कि 'गांधी सेवा-संघ' कब सफल हो सका? जब बापू का सितारा इस देश में चमक रहा था और बापू के नाम के साथ इतनी प्रतिष्ठा थी कि गांधी के संगठन में होना, देश में प्रतिष्ठित नागरिक होने के बराबर बन गया था। तब लोग 'गांधी सेवा-संघ' में आते थे। फिर भी 'गांधी सेवा-संघ' में से किसीको निकाला जाय, ऐसा कभी नहीं होता था। 'गांधी सेवा-संघ' के मंत्री ने लोगों से अनुरोध किया कि आप सदस्य बन जाइये और इन लोगों ने जवाब दिया कि हमारी ऐसी योग्यता नहीं। हम तो गांधीजी के पीछे-पीछे चलनेवाले लोग हैं। किसी ऐसी संस्था के सदस्य बनें, ऐसी हमारी योग्यता कहाँ है?

यहाँ हम देखते हैं कि संगठन की भूमिका ही बदल जाती है। एक संगठन वह होता है, जहाँ व्यक्ति में शक्ति नहीं है, इसलिए लोग कहते हैं कि दस व्यक्तियों को मिलाओ, तो शक्ति आ जायगी। जैसी सेना की शक्ति होती है। नेपोलियन ने लिखा—सेना का एक-एक सिपाही बहादुर नहीं होता, लेकिन सारे सिपाहियों को मिलाकर जो पलटन होती है, उस पलटन में बहादुरी होती है। यह है मिलिटरी याने सैनिक-संगठन की विशेषता।

संविधानात्मक संगठन की विशेषता यह होती है कि कागज पर हम नियम का पालन कर रहे हैं, इतना अगर हम दिखा सकें और उतनी कुशलता हममें हो, तो वह संगठन चल जाता है, फिर और कुछ नहीं करना पड़ता।

अहिंसक संगठन

तीसरे प्रकार के संगठन का उदाहरण है—'गांधी सेवा-संघ'। मैं यह नहीं कहता कि वह एक आदर्श संगठन था। लेकिन एक उदाहरण दिया है कि बापू ने जिस प्रकार से संगठन बनाये, वे केवल स्वेच्छा के ही नहीं थे, लोग उनमें अपनी मर्जी से ही आते थे, इतनी ही बात नहीं थी; उनमें जो अधिष्ठान या अंतिम शक्ति होती थी, वह पूर्ण रूप से नैतिक होती थी। उनमें नैतिक शक्ति के अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नहीं थी। याने अनुशासन-भंग की कार्यवाही की शक्ति भी नहीं थी। जिसे आप निर्वासन या खारिज करना कह सकते हैं कि हम अपनी संस्था में से तुम्हें निकाल देंगे, उस शक्ति का भी प्रयोग

नहीं होता था। और दूसरे किसी प्रकार के दण्ड की शक्ति तो बापूजी की संस्थाओं में थी ही नहीं।

इसलिए जब हम अहिंसक संगठन बनाते हैं, तो उसकी शक्ति का आधार संख्या नहीं होनी चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि ज्यादा-से-ज्यादा आदमी हम उसमें शामिल कराने की कोशिश नहीं करेंगे, लेकिन उस संगठन के कितने सदस्य हैं, इस पर हमारा आधार नहीं रहेगा। संख्या पर जोर देने-वाला संगठन बनेगा, तो परिणाम यह होगा कि हमारी शक्ति का आधार संख्या बन जायगी। सत्याग्रह में व्यक्तिगत सत्याग्रह भी होता है, सामुदायिक सत्याग्रह भी होता है। लेकिन सामुदायिक सत्याग्रह का आधार संख्या नहीं होती, समष्टि का संकल्प होता है, जैसे सामुदायिक प्रार्थना में। सामुदायिक प्रार्थना में संख्या का महत्त्व नहीं होता। मैं भी प्रार्थना करता हूँ, आप भी प्रार्थना करते हैं, सम्मिलित प्रार्थना में मेरा और आपका सम्मिलित संकल्प है, मेरी और आपकी सम्मिलित भावना है। इस प्रकार जब अनेक व्यक्तियों की सम्मिलित भावनाएँ और सम्मिलित संकल्प होते हैं, तब हम उसे **'सामुदायिक सत्याग्रह'** कहते हैं। 'संख्यात्मक सत्याग्रह' एक अलग चीज है और 'सामुदायिक सत्याग्रह' का अधिष्ठान ही अलग हो जाता है। संगठन ऐसा होना चाहिए कि जिसके बारे में हमारी अपनी आसक्ति न हो।

न विधानात्मक, न व्यक्तिनिष्ठ

दूसरी बात यह कि संगठन न विधानात्मक हो, न व्यक्तिनिष्ठ हो। विधान आप बनाइये। विधान का निषेध नहीं है। लेकिन संस्था जो बनेगी, वह विधाननिष्ठ न हो। विधाननिष्ठ संस्था का होना अलग चीज है, संस्था का विधान होना अलग चीज है।

विनोबाजी ने जवाहरलालजी से कहा कि "आप ऐसा कीजिये कि जमीन लीजिये, पर उसका प्रतिमूल्य, मुआवजा मत दीजिये।" तो उन्होंने कहा कि "मैं क्या करूँ? उसके लिए तो संविधान में धारा है कि प्रतिमूल्य देना चाहिए।" याने हमने संविधान बनाकर अपने पैर में एक जंजीर अटका ली। दूसरे देशों ने, इंग्लैंड आदि ने इसके विरुद्ध काम किया। उन लोगों ने पहले

जो कुछ करना था, वह कर लिया और फिर उसे संविधान में रख दिया। तो संविधान ऐसा हो, जो हमारी प्रगति में एक बाधक वस्तु न बन जाय। इसलिए मैंने कहा कि संगठन संविधाननिष्ठ नहीं होना चाहिए। वह व्यक्ति-निष्ठ भी न हो और संविधाननिष्ठ भी न हो। उसका आधार नैतिकता हो और नैतिकता में जितना अनुशासन रहता है, वह एक-दूसरों के स्नेह और विश्वास के कारण रहता है।

सबका स्वागत

दूसरी बात यह कि संगठन व्यापक हो याने उसमें सबके लिए स्थान हो लेकिन संख्या की आकांक्षा उसमें न रहे। वृत्ति उसकी व्यापक हो। जो कोई आना चाहे, वह उसमें अवश्य आये।

एक आदमी आता है, भूदान का काम करना चाहता है। नारायण उससे पूछता है, "खादी पहनते हो ?"

तो कहता है, "नहीं।"

"तो तुम भूदान का काम नहीं कर सकते।"

अब उसकी बात वहीं खतम हो गयी। वह कहता है, "खादी नहीं पहनता हूँ, लेकिन मैंने यह समझ लिया है कि भूमि की समस्या हल करने के लिए पहला कदम उठाना हो, तो आज की परिस्थिति में भूदान के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं है। इसलिए मैं भूदान का काम करना चाहता हूँ। और मुझे तो अनुभव नहीं है, इसलिए आप लोगों के साथ काम करना चाहता हूँ।"

तो नारायण को यह कहना चाहिए कि हम लोगों में तुम्हारा स्थान सदस्य के नाते नहीं हो सकता। लेकिन तुम हमारे साथ काम करना चाहते हो, तो तुम्हारा स्वागत है। भूमिदान की पद्धति से भूमि-समस्या के निराकरण में तुम अगर हमारे साथ आ जाओगे, तो हमें यह आशा है कि ग्रामोद्योगों का सिद्धान्त भी धीरे-धीरे तुम मान लोगे और ग्रामोद्योगों का सिद्धान्त मान लोगे, तो खादी भी तुम धीरे-धीरे मान लोगे। हम आगे की रचना करना चाहते हैं। उसका विचार तुम हमारे साथ करने लगोगे और विचारपूर्वक इसमें आ जाओगे!

रचनात्मक कार्य क्रान्ति-कार्य है ?

मुझसे कई वार पूछा गया है कि हमें यह वताइये कि जो रचनात्मक काम हम कर रहे हैं, वह रचनात्मक कार्य क्या अपने में क्रांति का कार्य नहीं है ?

रचनात्मक कार्य अपने में समाज की प्रगति का कार्य है, लेकिन रचनात्मक कार्य जब एक विशेष संदर्भ में होता है, तभी वह क्रांति-कार्य होता है। यह रचनात्मक कार्य की हमेशा विशेषता रही है। जैसे गांधी ने रचनात्मक कार्य को भारतवर्ष की आजादी की लड़ाई के साथ जोड़ दिया। उसके साथ रचनात्मक कार्य जुड़ गया, तो अंग्रेज लोग खादी को अपने **'दुश्मन की वरदी'** समझने लगे। असल में खादी क्या थी ? क्या पहले इस देश में लोग खादी नहीं पहनते थे ? देहातों में पहनते ही थे। वहाँ मिल का कपड़ा नहीं जाता था। लेकिन मुझे याद है कि एक बार वड़ौदा स्टेशन पर जैसे ही मैं उतरा, तो वहाँ के पुलिसवाले इस तरह से मेरे बाप-दादों का नाम मुझसे पूछने लगे, जैसे तीरथ के पंडे हों। कारण यह था कि मैं गांधी टोपी और खादी पहने हुआ था। दूसरे तमाम लोग जा रहे थे, पर उन यात्रियों से कोई नहीं पूछ रहा था। मैं उसमें सबसे महत्त्व का यात्री बन गया था। कारण, वह खादी एक प्रतीक थी। वह इस देश में से अंग्रेजों की सत्ता का निराकरण करने के लिए आयी थी।

मगनवाड़ी में बापू सोयावीन खाने लग थे। सोयाबीन खानेवाले सब तंग आ गये थे, लेकिन बापू खिलाते हैं, तो क्या करते ? लेकिन आपको आश्चर्य होगा कि सरकार की पुलिस इस बात की हमेशा जाँच-पड़ताल किया करती थी कि गांधी भोजन के ये प्रयोग क्यों करते हैं ? जहाँ दूसरे लोग लाठी और तलवार चलाना सीखते थे, वहाँ कोई नहीं जाता था और जहाँ चटनी—कचूमर बनाने का कार्यक्रम चलता था, वहाँ उसे देखने के लिए लोग आते थे ! क्योंकि वे जानते थे कि गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम से लोकशक्ति बढ़ती है। लोगों में पुरुषार्थ की प्रेरणा बढ़ती है। एक अमेरिकन मित्र ने इसका नाम ही रख दिया था—रचनात्मक असहयोग ! उसके दो पहलू हैं। एक है असहयोग, जो अंग्रेजों के साथ चलता है और दूसरा है रचना-

त्मक असहयोग, जो खादी, अस्पृश्यता-निवारण और ग्रामोद्योग के नाम पर चलता है।

एक विशेष संदर्भ में ग्रामोद्योग क्रान्तिकारी बन जाते हैं। उनमें एक चेतना, एक शक्ति आ जाती है। विनोबा कहते हैं कि मैं 'सीताराम', 'सीताराम' कहता हूँ। सीताराम से मतलब यह है कि भूमिदान और ग्रामोद्योग दोनों साथ-साथ चलने चाहिए। लेकिन भूमिदान में मालकियत की बुनियाद बदलने की जो कल्पना है, वह केवल खादी में या केवल ग्रामोद्योग में नहीं आयेगी।

खादीधारी मिल-मालिक

एक उदाहरण लीजिये। पहले-पहल जब खादी आयी, तब और आज भी ऐसे कितने ही लोग हैं, जो खुद खादी के सिवा दूसरा कोई कपड़ा नहीं पहनते। लेकिन उनकी अपनी कपड़े की मिल है या कपड़े की दूकान है। सोचने की बात है कि क्या ये लोग बेईमान हैं? नहीं, बिलकुल बेईमान नहीं हैं। लेकिन जो कुछ वे कर रहे हैं, वह मिथ्याचार है, इतना तो हमें मानना ही होगा। क्योंकि इसमें से खादी की मूल चीज सिद्ध नहीं होती। गांधी कपड़े को बाजार से उठा लेना चाहता था। ये लोग कहेंगे कि "हम तो खादी पहनते हैं।" तो इतने से काम नहीं चलेगा। परिस्थिति में जो विरोध होता है, उस विरोध के निराकरण के लिए जो आन्दोलन होता है, उसे 'क्रान्तिकारी आन्दोलन' कहते हैं। गांधीजी ने अंग्रेजों के राज्य के निराकरण के जितने प्रयास किये, उनके साथ खादी चलती थी, उनके साथ ग्रामोद्योग चलते थे। इसलिए खादी, ग्रामोद्योग आदि की भूमिका क्रांतिकारी हो गयी थी। इसका यह मतलब नहीं है कि अपने में ये चीजें अच्छी नहीं थीं। वे किसीसे जुड़ी हुई न हों, तब भी अपने में अच्छी हैं ही। क्योंकि, उनके द्वारा समाज-सेवा होती है, व्यक्ति का स्वावलम्बन बढ़ता है। लेकिन वे केवल समाज-सुधार के साधन बन जाती हैं, समाज-परिवर्तन या 'क्रांति के साधन' वे नहीं बनतीं। इसलिए जो लोग भूमिदान का कार्य करते हैं, उन लोगों का विधायक कार्यकर्ताओं के साथ इस दृष्टि से सहयोग हो, क्योंकि हमें आगे चलकर रचना भी तो करनी है।

विनोबा का आवाहन

आज विनोबा हमारा आवाहन कर रहे हैं। वे कहते हैं—"देखो भाई, मुझे सैकड़ों ग्रामदान मिल गये हैं। आप लोगों में से कितने ही ऐसे लोग हैं, जिन्हें रचनात्मक कार्य का अनुभव है। आप यहाँ आइये और इन गाँवों में आकर बैठिये। ये गाँव 'मिल का कपड़ा अपने गाँव में नहीं आने देंगे', 'मिल का तेल अपने गाँव में नहीं आने देंगे'—ऐसी प्रतिज्ञा करने के लिए तैयार हैं। आप लोग चरखे से, अंबर चरखे से या किसी भी प्रकार से इन गाँवों को स्वावलम्बी बना सकते हैं। आइये, इन गाँवों को स्वावलम्बी बनाने के लिए आप सबकी आवश्यकता है।" जो कार्यकर्ता इस कार्य को कर सकते हैं, उनके लिए यह उत्तम अवसर है। आज वे उसमें जान फूँक सकते हैं। ये सभी गाँव यदि स्वावलम्बी बन जाते हैं और विधायक कार्य करनेवालों की शक्ति का वहाँ पर उपयोग होता है, तो सारे देश में एक प्रचण्ड निष्ठा पैदा हो जायगी और सभी आक्षेपों के लिए एक सक्रिय उत्तर हमारे पास हो जायगा। इस दृष्टि से रचनात्मक कार्य का विचार करना चाहिए। जो लोग भूदान का काम कर रहे हैं और जो लोग रचनात्मक काम कर रहे हैं, उन दोनों से मेरी प्रार्थना है कि आपके भूमिदान और रचनात्मक कार्य न केवल साथ-साथ चलें, बल्कि इस प्रकार चलें कि इनमें से आगे चलकर समाज-परिवर्तन की एक नयी आशा हम इस देश में पैदा कर सकें।* ●●●

*विचार-शिविर में २६-८-'५५ का सायं प्रवचन।

व्रत-विचार

हमारे व्यक्तिगत जीवन में सामाजिक मूल्यों का गांधी ने व्रत के रूप में प्रवेश कराया। आज तक इस देश में व्रतों का स्थान व्यक्तिगत मूल्यों के रूप में था। व्रत किसलिए? मेरी अपनी चित्त-शुद्धि के लिए। अपनी चित्त-शुद्धि किसलिए? आत्म-दर्शन के लिए, मोक्ष के लिए या फिर स्वर्ग-प्राप्ति के लिए। यज्ञ के भी दो उद्देश्य होते थे। **'स्वर्गकामो यजेत, जुहुयात् स्वर्गकामः।'** जिसकी स्वर्ग की इच्छा हो, वह यज्ञ करे। उसके लिए यज्ञ का विधान था। या फिर **'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म इति।'** तप से ब्रह्म को जान ले, तप ही ब्रह्म है। उपनिषद् ने इस प्रकार साध्य और साधन का साधर्म्य, साध्य और साधन की एकता का संकेत किया। पहले तो यह कहा कि तप से तू ब्रह्म को जान। **'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व।'** तप से ब्रह्म को जान इतना काफी नहीं मालूम हुआ, तो **'तपो ब्रह्म इति।'** तप ही ब्रह्म है। साधन ही साध्य है, यह संकेत उपनिषद् के ऋषि ने किया।

साधन ही साध्य

लोकमान्य तिलक से अक्सर लोग पूछा करते थे कि "स्वराज्य की परिभाषा क्या है? तुम्हारे साध्य का स्वरूप क्या है?" तो कई दफा वे कह देते थे—"राष्ट्रीय शिक्षण ही स्वराज्य है।" "स्वदेशी ही स्वराज्य है।" "बहिष्कार ही स्वराज्य है।" इस तरह से स्वराज्य का उस वक्त जो प्रमुख साधन माना जाता था, उसके बारे में वे कह देते थे कि यही स्वराज्य है। हमारा साधन ही हमारा साध्य है।

गांधी से जब पूछा जाता, तो वे जिस वक्त जिस साधन पर जोर देना होता था, उसे बताते हुए—"खादी ही स्वराज्य है", "हिन्दू-मुस्लिम एकता ही स्वराज्य है", "अस्पृश्यता-निवारण ही स्वराज्य है", "स्त्रियों का उत्थान ही स्वराज्य है"—इस प्रकार स्वराज्य की परिभाषाएँ करते चले जाते थे।

साध्य को साधन के साथ जोड़कर मनुष्य को साधननिष्ठ बनाने की यह एक कुशलता होती है, क्योंकि सामाजिक क्रान्ति और व्यक्तिगत साधना, ये दोनों जीवन की महान् कलाएँ हैं। संगीत, चित्रकला, शिल्पकला, स्थापत्य-कला आदि जैसी हमारे जीवन की ललित कलाएँ हैं, वैसे ही व्यक्तिगत जीवन की साधना और सामाजिक जीवन का उत्थान और क्रान्ति भी कलाएँ हैं और ललित कलाएँ हैं। इनमें अधिक-से-अधिक सौन्दर्य आना चाहिए। अधिक-से-अधिक कुशलता आनी चाहिए। इसलिए जिन लोगों ने कुशलता से क्रान्ति की, उन्होंने जीवन में और साधना में कला का समावेश करने की कोशिश की। सभी जानते हैं कि गांधी जो भाषा लिखता था, वह कोई बड़ी साहित्यिक भाषा और काव्यप्रधान भाषा नहीं होती थी। लेकिन जीवन में जब कला आ जाती है, साधना में ही जब कला आ जाती है, तो काव्य और भाषा का सौन्दर्य कहीं खोजना नहीं पड़ता, वह स्वतः प्रकट होता है। गाय के बारे में पूछा, तो उन्होंने कहा—"मेरे लिए तो गाय भगवान् की दया पर, करुणा पर लिखी हुई कविता है।" अब कौन-सा कवि गाय के बारे में ऐसा कह सकता था? किस कवि को यह बात सूझती कि भगवान् को कविता लिखनी थी करुणा पर और उसने गाय का निर्माण कर दिया। इसी तरह उन्होंने एक बार यह कहा कि "मैं अहिंसक क्रांति का कलाकार हूँ।" गांधी के मुँह से लोगों ने यह सुना, तो "गांधी का भी संबंध कला के साथ हो सकता है?" इस प्रकार का प्रश्न साहित्यिकों, कवियों और कलाकारों के मन में उठा। यह गांधी भी कहता है कि मैं भी कलावान् हूँ! लेकिन जीवन में व्यक्तिगत साधना और सामाजिक साधना का जब निष्ठापूर्वक प्रयोग होता है, तो सारा जीवन ही कलात्मक बन जाता है। इस दृष्टि से सामाजिक क्रांति में व्रतों का समावेश कराना क्रांति की प्रक्रिया में कला का प्रवेश था। क्रांति की प्रक्रिया में पहले इस प्रकार व्यक्तिगत व्रतों का समावेश किसीने नहीं कराया था। जितने क्रांतिकारी दुनिया में हुए, उनका अपना चरित्र बहुत उच्च था। वे बड़े त्यागी थे। उनमें पराकोटि की तितिक्षा थी। उन्होंने क्या नहीं सहा? ऐसा एक भी क्रांतिकारी नहीं हुआ कि जिसे यंत्रणाएँ नहीं सहनी पड़ीं, कष्ट नहीं हुए, दारिद्र्य नहीं भोगना पड़ा। लेकिन इस सबको अपना व्रत मान लेना, 'सार्वजनिक

जीवन में दारिद्र्य हमारा व्रत है', 'उपवास हमारा व्रत है', इस प्रकार से सार्वजनिक जीवन की और व्यक्तिगत जीवन की साधनाओं को मिलाकर व्रत को सामाजिक मूल्य बना देना तो गांधी की ही सिफत थी। इस तरह उसने हमारी क्रांति में एक नयी कला व्रतों के रूप में दाखिल की।

आइये, अब एक-एक व्रत पर संक्षेप में विचार करें।

सत्य

सत्य हमारे सारे व्रतों का अधिष्ठान है, ध्रुवतारा है। इसको सामने रखकर हम अपनी सारे जीवन की दिशा निर्धारित करते हैं। गांधी से पूछा गया था कि "सत्य क्या है?"

उन्होंने कहा, "मेरा भगवान् सत्य है। सत्य ही मेरा भगवान् है।"

"तुमको दर्शन हुए हैं?"

"मैं नहीं कह सकता। मेरी कोशिश है कि जीवन में मैं उसको चरितार्थ करूँ और उसका साक्षात्कार करूँ। लेकिन यह कहने की मेरी हिम्मत नहीं है कि सत्य का साक्षात्कार मुझे हो गया है।"

यह सत्य क्या है?

सामाजिक जीवन का परम सत्य, ध्रुवसत्य, सारे सामाजिक जीवन का अधिष्ठान क्या है? मेरी दूसरों के साथ एकता। समाज शब्द 'सम' शब्द से बना है। 'सोसाइटी' शब्द में भी जो मूल शब्द है, उसका अर्थ है—'सेमनेस' (समानता)। दूसरों के साथ मेरी जो समानता है, उसका आधार है, दूसरों के साथ मेरी एकता। यह तर्क का विषय नहीं है। पुराने शास्त्रकारों ने इसे 'साक्षि प्रत्यक्ष' कहा है। साक्षि-प्रत्यक्ष याने मुझे अपने अस्तित्व का स्फुरण जैसा है। 'मैं हूँ' यह तर्क का विषय नहीं है। यह अनुमान का विषय नहीं है और यह सिद्ध भी नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष ही है कि 'मैं' हूँ। इस तरह से दूसरों के साथ मेरी जो एकता है, जिसका मुझे अनुभव है, वह साक्षि-प्रत्यक्ष है। इसलिए यह बुद्धिवाद से परे है। विज्ञान यहाँ तक नहीं पहुँच सकता। इसलिए आईन्स्टाईन ने जब अन्त में गांधी के बारे में लिखा, तो यह लिखा कि "जहाँ तक हम लोग कोई नहीं पहुँच सकते थे, वहाँ

तक इसकी पहुँच थी। इसलिए हम कहते हैं कि दुनिया में इस धरती पर ऐसा आदमी इससे पहले कभी नहीं चला था। गिरजाघरों में, मसजिदों में, मन्दिरों में और गुरुद्वारों में जो भगवान् रहते हैं, उन भगवान् में मेरी निष्ठा नहीं, मेरा विश्वास नहीं, मेरी श्रद्धा नहीं, लेकिन उस गांधी ने जिस सत्य और जिस भगवान् की उपासना की, वह वैज्ञानिक है। उसमें मेरी श्रद्धा भी है और निष्ठा भी है।"

सामाजिक मूल्य के रूप में जब सत्य की हम उपासना करते हैं, तो ध्रुवसत्य हमारे लिए यह है कि दूसरे व्यक्ति और मैं एक हूँ। मेरी दूसरों के साथ एकता, मेरी सामाजिकता का आधार है। दूसरों के साथ मेरी एकता मेरी नैतिकता का आधार है। दूसरों के साथ मेरी एकता मेरे सदाचार का आधार है। सदाचार का आधार, नैतिकता का आधार, मनुष्य की सामाजिकता का आधार दूसरों के साथ हमारी पारमार्थिक एकता है। पारमार्थिक से मतलब? जो निरपेक्ष है, सापेक्ष नहीं। जिसे सिद्ध नहीं करना पड़ता। यह सामाजिक दृष्टि से सत्य का अर्थ है। और इसे हम अपने सामाजिक जीवन का ध्रुवतारा समझें।

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिसेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च ॥

इसे छोड़कर यदि हम सामाजिक जीवन का विकास और संयोजन या क्रान्ति का विचार करेंगे, तो वह अप्रतिष्ठित विचार हो जायगा। साधारण या प्रतिष्ठित विचार करने के लिए हमारी दूसरों के साथ एकता, जीवन का परम सत्य है। इसकी वैज्ञानिक व्याख्या है—जीवन की एकता और ईश्वर-निष्ठ परिभाषा में ईशावास्यमिदं सर्वम्। आध्यात्मिक परिभाषा में सर्वं खल्विदं ब्रह्म। सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ईशावास्यमिदं सर्वम्, इनका सामाजिक संकेत हमारे जीवन में सारे जीवन की एकता के रूप में है। पशु से लेकर मनुष्यों तक जितना कुछ जीवन है, इस जीवनमात्र की एकता जीवन का ध्रुवसत्य है।

अहिंसा

सत्य के बाद इसीके आधार पर अहिंसा आती है। गांधी ने कहा था कि "निकला तो था सत्य की खोज में, लेकिन अहिंसा मिल गयी। एक दरवाजा

मिला। वह बन्द था। चाभी अहिंसा थी और जब तक उस दरवाजे में से नहीं जाता, सत्य का दर्शन मुझे नहीं हो सकता है।"

सावली के सम्मेलन में गांधी से पूछा गया—"आपका मुख्य धर्म सत्य है या अहिंसा है?"

उन्होंने जवाब दिया कि सत्य की खोज मेरे जीवन की प्रधान प्रवृत्ति रही है, इसमें मुझे अहिंसा मिली और मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि इन दोनों में अभेद है। वगैर अहिंसा के मनुष्य सत्य तक नहीं पहुँच सकता। यह मेरे जीवन का अनुभव है। मेरी साधना का निचोड़ है। इसलिए इन दोनों की जुगल-जोड़ी को मैं अभेद्य मानता हूँ। सत्य और अहिंसा की मेरे लिए 'जुगल-जोड़ी' है। यह अर्धनारीश्वर नहीं है। सत्य और अहिंसा एक-दूसरे में ऐसे घुले-मिले हैं कि इनका अलग-अलग करना मुश्किल है।

अहिंसा कैसे प्रकट होती है? अहिंसा प्रेम में प्रकट होती है। प्रेम का आरम्भ ममत्व से होता है और उसकी परिसमाप्ति तादात्म्य में होती है। हमारे जीवन में वह कैसे पैदा होता है? दूसरे का सुख हमारा सुख हो जाता है, दूसरे का दुःख हमारा दुःख हो जाता है।

'चार वेद छै शास्त्र में बात मिली हैं दोय।
सुख दीने सुख होत है, दुख दीने दुख होय।।'

सुख देने से सुख होता है, दुःख देने से दुःख होता है। अहिंसा आचरण में कैसे प्रकट होगी? हम सुख ही सुख बोते जायँगे, तो समाज में सुख की फसल होगी।

'जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल।'

'जो तेरे लिए कोई काँटा लगाता है, उसके लिए तू फूल लगाता चला जा।'

'तोकों फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल!'

तेरे फूल से फूल ही निकलेंगे। उसके काँटों से काँटे निकलते चले जायेंगे। तेरी फसल अगर काँटों की फसल से बड़ी होगी, तो काँटों में भी गुलाब लगते चले जायेंगे।

यह अहिंसा का दर्शन कहलाता है। अहिंसा और सदाचार की बुनियाद प्रेममूलक होती है और तादात्म्य में उसकी परिणति होती है, इसलिए दूसरा सिद्धान्त, दूसरा व्रत, अहिंसा का है। इसमें भावरूप शक्ति होती है।

दो सिद्धान्त मैंने आपके सामने रखे थे—'एकाकी न रमते'—अकेले की तबियत नहीं लगती। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'—दूसरे से भय लगता है। जिससे डर लगता है, उससे प्रेम नहीं हो सकता और जिससे प्रेम होता है, उससे कभी भय नहीं होता। उसके वारे में कभी अविश्वास नहीं होता, कभी डर नहीं होता। इसलिए **अहिंसा हमेशा प्रेममूलक होती है। 'सर्वत्र भयवर्जन' इसमें आ जाता है।**

इससे अधिक निर्भयता का अलग विचार नहीं करना पड़ता। भावरूप अहिंसा में उसका समावेश हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि यह अहिंसा व्यक्त कैसे होती है ?

सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा व्यक्त होती है—दूसरे का सुख अपना सुख मानने से, दूसरे का दुःख अपना दुःख मानने से।

आर्थिक क्षेत्र में अहिंसा व्यक्त होती है—सह-उत्पादन और सहयोगी उत्पादन के रूप में। सह-उत्पादन और सम-वितरण । अर्थात् हम साथ उपजायेंगे और साथ खायेंगे। यहाँ सहजीवन सहभोजन के रूप में व्यक्त होता है। सहभोजन का अर्थ केवल भोजन करना नहीं है। इसमें सहयोग आ गया, इसमें सामुदायिक उत्पादन आ गया। आप कितने कदम इस दिशा में रखेंगे, वह आपकी सामर्थ्य की बात है। आर्थिक क्षेत्र में यह अहिंसा का विनियोग है।

राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा लोकनीति के रूप में प्रकट होती है। लोक-नीति का मूलतत्त्व है—नागरिकों का परस्पर विश्वास और परस्पर स्नेह। जब एक नागरिक को दूसरे नागरिक से भय होता है, शंका होती है, जब एक नागरिक दूसरे नागरिक से संरक्षण चाहता है, तब प्रशासन आता है। परन्तु जब एक नागरिक दूसरे नागरिक से संरक्षण नहीं चाहता, हर नागरिक दूसरे नागरिक के जीवन का विचार करता है, तो संयम आ जाता है।

संयम पहले कैसे प्रकट हुआ ? 'तुम जिओ, दूसरे को जीने दो।' लेकिन

इतना ही पर्याप्त नहीं है। एक नागरिक को दूसरे नागरिक के जीवन में सहायता पहुँचानी चाहिए, इसलिए 'जिलाने के लिए जिओ।' यह सह-जीवन है। तुम दूसरों को जिलाने के लिए जिओ। अर्थात् दूसरे के जीवन में सहायता पहुँचाना अहिंसा है। दूसरों के जीवन में रुकावट डालना, बाधा पहुँचाना, हिंसा है। अहिंसा नागरिक जीवन का और लोकनीति का आधारभूत सिद्धांत है। जिस मात्रा में नागरिकों का परस्पर संशय और परस्पर अविश्वास कम होता चला जायगा, उस मात्रा में लोकनीति का विकास होगा, लोकसत्ता की स्थापना होगी और प्रशासन का अंत होगा।

अस्तेय

हमें दूसरों के जीवन में सहायता पहुँचानी है, दूसरों के जीवन में रुकावट नहीं डालनी है। यही अहिंसा अस्तेय के रूप में प्रकट होती है। अस्तेय का अर्थ केवल इतना नहीं है कि मैं चोरी न करूँ। अस्तेय का अर्थ यह भी है कि मैं दूसरे की वस्तु की आकांक्षा भी न होने दूंगा। 'काहू की प्रिय वस्तु न हरहू।' किसीकी प्रिय वस्तु तुम न लो, यहाँ तक अस्तेय आता है। और 'मत लो' से मतलब लेने की इच्छा भी मत रखो। ले तो नहीं रहा है, लेकिन लेने की इच्छा रहती है, तो रात-दिन उसका चिन्तन हो रहा है। तो वही फिर आ गया। 'संगात् संजायते कामः।' अस्तेय का मतलब यह है कि कहीं 'निहित स्वार्थ' न हो, हमारी नीयत कहीं चिपकी हुई न रह जाय। गुड़ में चींटे की तरह नीयत यदि चिपकी हुई रह जाती है, तो फिर वह अस्तेय नहीं है। अस्तेय इसीलिए व्रत के रूप में प्रकट होता है। सिर्फ चोरी न करने से अस्तेय व्रत के रूप में प्रकट नहीं होता। अस्तेय एक वृत्ति भी है, अस्तेय एक प्रवृत्ति भी है। वह निष्ठा है। स्थिति और वृत्ति मिलकर निष्ठा होती है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि हमारी स्थिति तो होती है, लेकिन वृत्ति नहीं होती। जैसे कोई आदमी जेल में चला गया है, वहाँ वह तमाखू खा ही नहीं सकता। तो स्थिति यह है कि वह तमाखू नहीं खाता है। पर वृत्ति यह है कि तमाखू खानी चाहिए। यदि भोजन नहीं मिलता है, तमाखू नहीं मिलती है, तो बड़ी मुश्किल है।

मान लें, शिविर में चाय नहीं मिलती, तो चाय नहीं पीते, यह स्थिति है। पर वृत्ति यह है कि चाय मिल जाती, तो अच्छा होता। वृत्ति और स्थिति मिलकर निष्ठा होती है। केवल स्थिति से मिथ्याचार पैदा होता है।

मनुष्य इन्द्रियों को समेट लेता है और चिन्तन करने लगता है, तो कहा गया कि यह तो **'मिथ्याचार'** है। इसलिए जब व्रतों का विचार करते हैं, तो दो बातें इसमें आती हैं। एक वृत्ति और दूसरी स्थिति। वृत्ति के अनुरूप वर्तन।

एक वैष्णव हैं। कोई वैष्णव नाराज न हो, क्योंकि मेरा अपना सम्बन्ध एक वैष्णव की कन्या से ही हुआ है। तो वे बोले कि "हम तो एकादशी को पानी भी नहीं पीते हैं।" मैंने कहा कि "बहुत प्रखर एकादशी करते हैं आप।" लेकिन एकादशी के दिन वे कोर्ट में जाकर झूठी गवाही दे आये। मैंने कहा कि "यह क्या एकादशी हुई?" कहने लगे, "ऐसा कहीं लिखा है कि इससे एकादशी भंग होती है?" मैंने कहा, "हाँ, लिखा है 'दिन में सोने से, मिथ्या भाषण से, बहुत पानी पीने से' एकादशी का भंग होता है। इस तरह के जो अपवाद लिखे हैं, प्रत्यवाय लिखे हैं, उनमें झूठ बोलना सबसे बड़ा प्रत्यवाय है। आपने सब कुछ पालन कर लिया, लेकिन एकादशी के दिन जाकर झूठी गवाही दे दी!" वे हमसे कहते थे कि "हमने तो झूठी गवाही दे दी और उसका विश्वास भी हम पर हो गया, क्योंकि हम झूठ नहीं बोलते हैं, यह उसको मालूम है।" यह उन्होंने उसका समर्थन भी मेरे सामने रखा! तो व्रत में दोनों बातें चाहिए—वृत्ति भी, स्थिति भी।

मनुष्य के आचरण में और उसकी वृत्ति में हमेशा अन्तर रहेगा, परन्तु उसमें विरोध न हो। अन्तर तो रहेगा, इसीलिए वह साधक है। लेकिन उसमें विरोध नहीं होना चाहिए।

अपरिग्रह

अस्तेय और अपरिग्रह प्रायः साथ-साथ लिये जाते हैं। अपरिग्रह का अर्थ आज तक लोगों ने यह किया है कि हम अपनी जरूरत से ज्यादा चीज नहीं रखते। लेकिन अपरिग्रह की वृत्ति का अर्थ यह है कि अपनी जरूरत की चीज भी जो मैं

रखता हूँ, वह अपने स्वामित्व के लिए नहीं रखता। अपनी जरूरत की चीज तो रखता हूँ, लेकिन जरूरत की चीज पर मेरा अपना स्वामित्व नहीं। जैसे शरीर पर भी हमने अपना स्वामित्व नहीं माना। जो लोग परमार्थी होते हैं या सेवक होते हैं, उन्होंने यह माना है कि यह शरीर-धर्म का साधन है। भक्त कहते हैं कि यह भगवान् का आयतन है। भगवान् के रहने का यह मंदिर है। लेकिन सेवक लोग कहते हैं कि यह तो समाज की थाती है। यह शरीर समाज की धरोहर है और यह मेरे पास है, इसलिए इसके विषय में मेरे मन में ममता नहीं होनी चाहिए। यदि शरीर के लिए भी ममता नहीं है, तो फिर शरीर-यात्रा के लिए जो चीजें आवश्यक हैं, उनके सम्बन्ध में स्वामित्व की कोई भावना कैसे हो सकती है? यह अपरिग्रह, असंग्रह का अंतिम विचार है। अस्तेय में से असंग्रह आता है। अस्तेय के लिए इतना काफी है कि मैं दूसरे की प्रिय वस्तु का हरण नहीं करता। लेकिन अपरिग्रह इससे एक कदम आगे जाता है।

हमें बचपन में सदाचार की पुस्तकें पढ़ायी जाती थीं। उस समय अंग्रेजी चलती थी। सदाचार जैसी कोई वस्तु भारतवर्ष में है, यह हम जानते ही नहीं थे। यहाँ हमने सदाचार केवल इसीमें देखा था कि इसके साथ खाओ, उसके साथ मत खाओ। इससे बाहर सदाचार ही नहीं दिखाई पड़ता था। रोज पूजा-पाठ करनेवाले लोग रिश्वत खाते थे, घूसखोरी करते थे और समझते थे कि उसमें कोई दोष नहीं है। पूजा से सब प्रक्षालन हो जाता है। तीर्थयात्रा के लिए काशी जानेवाले लोग तेरह साल की लड़की का आधा टिकट खरीदते थे और हमसे कहते थे कि गंगाजी में नहाने के बाद यह सब शुद्ध हो जायगा। तो हमें सिखाया जाता था कि 'धन कमाओ तो ईमानदारी से कमाओ। ईमानदारी से धन यदि नहीं कमा सकते हो, तो गरीबी में ही सन्तोष मानो।' यह नीति हमको सिखायी गयी थी। वस्तुतः इस देश की परम्परा में यह नीति नहीं थी। इस देश की परम्परा में तो यह नीति थी, जिसे आगे चलकर जैन लोगों ने और स्पष्ट कर दिया था कि शरीर के विषय में मनुष्य इतना तटस्थ और निराग्रही हो जाय कि शरीर ढँका हुआ है या नहीं, इसकी भी विशेष परवाह न रहे। उन लोगों ने यहाँ तक कमाल कर दिया था। सामाजिक मूल्य के रूप में हम इसमें से इतना ही लेते हैं कि साढ़े तीन हाथ शरीर की ममता

हमें छोड़नी होगी, क्योंकि दूसरों को जिलाने के लिए जीना है। इसका अर्थ यह नहीं कि हमें मृत्युनिष्ठ बनना है। बहुत-से बहादुर लोग यह कहते हैं कि बस, जो मरने के लिए तैयार है, वह सबसे बहादुर! तो हमने कहा कि जीता क्यों है? उसे फिर जीने की जरूरत ही नहीं रह जाती है। उसे तो मृत्यु की ही लगन लगी है। वह मरने के लिए तैयारी करता है, मृत्युनिष्ठ बन जाता है। पर ऐसा नहीं। हमें तो दूसरे के लिए जीना है, दूसरे के लिए अपना शरीर रखना है। 'दूसरे के लिए' से मतलब है समाज के लिए, दूसरों को जिलाने के लिए। इसे कहते हैं : शरीर भी ईश्वरार्पण कर दिया। तुकाराम गाता है कि उनका विषय भी नारायण हो गया। इतना शरीर की तरफ से तटस्थ हो जाता है!

भगवद्गीता में कहा है **'उदासीनो गतव्यथः।'** तब फिर वह **'अनिकेतः स्थिरमतिः'** हो जाता है और फिर भगवान् कहते हैं कि **'तेषां सततयुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।'** 'उनके योगक्षेम की, उनके निर्वाह की, चिन्ता मैं करने लगता हूँ।'

ट्रस्टीशिप का विवेचन

अपरिग्रह कहाँ तक जाता है, यह समझने के लिए हम गांधी की ट्रस्टीशिप की बात भी समझ लें। उसके बारे में लोग चाहे जैसा लिखते हैं और चाहे जैसा कहते हैं। वे यह मानते हैं कि 'ट्रस्टीशिप' का मतलब यह है कि तुम्हारे पास जो धन है, वह धन समाज के लिए है, यह समझकर वह धन बढ़ाते ही चले जाओ। समाज के लिए है, तो समाज के लिए बढ़ा रहा हूँ।

लड़के से कह दिया, **'परद्रव्येषु लोष्ठवत्।'** दूसरे का धन ढेले के समान समझो। तो वह हलवाई के घर से पेड़े ही लाने लगा। लोग पूछने लगे कि ऐसा क्यों कर रहा है? तो कहता है कि "बाप ने यह सिखाया है कि दूसरे के द्रव्य को मिट्टी के ढेले की तरह समझो। इसलिए उसकी कीमत भी नहीं देता हूँ और ले भी आता हूँ, अपने घर में रखता चला जाता हूँ।" कैसा अच्छा अर्थ कर लिया उसने!

लोगों ने ट्रस्टीशिप का मतलब यह कर लिया है कि ब्याज भी लेते जाओ

और उस धन को बढ़ाते भी चले जाओ। उसके विषय में आसक्ति भी रखो। अन्त में केवल इतना करो कि इसका भोग भगवान् को लगा दिया करो। जैसे हम सवा सेर मिठाई लेकर महावीरजी के मन्दिर में जाते हैं, एक पेड़े का भोग लगा देते हैं। बाकी के पेड़े तो हमारे हैं ही। यह महावीरजी का प्रसाद हो गया!

सोचने की बात है कि जिस व्यक्ति ने व्रत के रूप में सत्य-अहिंसा-अस्तेय का प्रतिपादन किया, उसने भला ट्रस्टीशिप का अर्थ ऐसा किया होगा?

ट्रस्टीशिप का अर्थ यह है कि परम्परा से और परिस्थिति से जो धन तुझे प्राप्त हो गया है, उसे दूसरों का समझकर जल्दी-से-जल्दी उससे मुक्त हो जा। नहीं तो ट्रस्टीशिप का कोई अर्थ ही नहीं है। किशोरलालभाई ने सार्वजनिक संस्थाओं के बारे में लिखा था कि सार्वजनिक निधियों को भी हम व्याज ले-लेकर बढ़ाते हैं और उनका संरक्षण करना अपना कर्तव्य समझते हैं। यदि व्यक्तिगत परिग्रह, व्यक्तिगत संग्रह निषिद्ध है, तो सार्वजनिक संग्रह भी कम निषिद्ध नहीं है।

ट्रस्टीशिप के दो पहलू हैं। एक है—संक्रमण-काल का पहलू। संक्रमण-काल के लिए यह व्यवस्था है। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था से हमें श्रमनिष्ठ समाज-व्यवस्था की ओर कदम बढ़ाना है, इसके लिए संग्रह के विसर्जन की आवश्यकता है। संग्रह का यह विसर्जन व्रतनिष्ठा से होना चाहिए याने व्यक्ति का शुद्धीकरण होना चाहिए। क्रांति की प्रक्रिया में व्यक्ति के शुद्धीकरण की, व्यक्ति की चित्तशुद्धि की योजना **'हृदय-परिवर्तन'** कहलाती है। क्रांति की प्रक्रिया ही ऐसी हो कि उसमें व्यक्ति की चित्तशुद्धि की योजना हो। इसलिए जिन्हें आज आनुवंशिक अधिकार से विरासत में संपत्ति मिल गयी है या कानून से मिल गयी है या जिन लोगों ने पहले खरीद ली है या कमा ली है, उन लोगों से गांधी कहता है कि इस संपत्ति को अपनी मत समझो। समाज की धरोहर या थाती समझो। इसका मतलब यह नहीं है कि इसे तुम बढ़ाते चले जाओ। वस्तुतः उसका मतलब यह है कि तुम्हें यह चिन्ता होनी चाहिए कि कब मैं यह सम्पत्ति समाज को लौटा देता हूँ और कब मेरा चित्त शान्त होता है। तब तक मुझे बेचैनी रहनी चाहिए। कवि कहता है, "यह शकुन्तला अब जा रही है,

तो जैसे मैंने दूसरे का न्यास, दूसरे की थाती दूसरे को लौटा दी है, इस तरह से मेरी आत्मा अब सन्तुष्ट हो गयी है।" यह है संक्रमणकालीन पहलू। धनिकों के लिए, मालिकों के लिए, सम्पत्तिमानों के लिए गांधीजी के ट्रस्टीशिप का यही अर्थ है कि उन्हें संग्रह का विसर्जन करना है। यदि यह अर्थ उन्होंने नहीं लिया है और यह माना है कि गांधीजी का यह मतलब था कि तुममें संग्रह की कुशलता है, इसलिए संग्रह ही बढ़ाते जाओ और यह मान लो कि अपने समाज के लिए यह संग्रह कर रहा हूँ, इसमें से तुम हलवा-पूड़ी के रूप में प्रसाद लेते जाओ और दूसरों को बाजरी की रोटी के रूप में कभी-कभी देते जाओ, तो उसका ऐसा मतलब उनके मन में कभी हो ही नहीं सकता।

ट्रस्टीशिप का दूसरा पहलू यह है—केवल धनिक ही ट्रस्टी नहीं है, श्रमिक भी ट्रस्टी है। बहुत सम्पत्ति, धन या संग्रहवाला ही नहीं, अल्प संग्रहवाला भी ट्रस्टी है। उसे भी अपने-आपको ट्रस्टी ही मानना चाहिए। जहाँ वह काम करता है, वह काम समाज का काम है। उस काम के उपकरण भी समाज के हैं, उसके अपने नहीं हैं। उनका वह ट्रस्टी है। हम पहले यह माँग करते हैं कि 'उत्पादन के साधन उत्पादक के कब्जे में होने चाहिए।' बाद में हम यह माँग करते हैं कि उत्पादक भी उनका ट्रस्टी होगा। वे साधन उसके अपने नहीं होंगे। वह उन उपकरणों का और उत्पादन का अपने-आपको मालिक नहीं मानेगा। जितना उत्पादन वह करेगा, उतने उत्पादन का भी वह अपने-आपको मालिक नहीं मानेगा।

संग्रह-परायण मनुष्य ने कहा कि "तुम 'ईमानदारी' से यदि धन कमाते हो, तो उस धन पर तुम्हें अधिकार है।" उसकी ईमानदारी का मतलब यही है कि होड़ में तुम जीत जाते हो, तो उस धन पर तुम्हारा अधिकार है।

दूसरे ने कहा, "यह चढ़ा-ऊपरी और होड़ की पद्धति से जो धन कमाया जाता है, यह चोरी ही है। जितनी सम्पत्ति है, वह सब चोरी ही है।" **'स्तेन एव सः'** भगवद्गीता में कहा गया। सारी सम्पत्ति, सारा संग्रह यदि चोरी है, तो उसके निराकरण के लिए संग्रहवान् से कहा कि तुम अपने को अपने संग्रह का थातीदार मानो, निधिपालक मानो, न्यासधर मानो। तुम समाज की ओर से उसे रखो, लेकिन इसका मतलब यही है कि जितनी जल्दी

खर्च कर सको, उतनी जल्दी उसे खर्च कर डालो और समाज की जिम्मेवारी से मुक्त हो जाओ। जिनके पास अल्प संग्रह है, उनके लिए गांधी कहता है, "तुम ज़ो कमाते हो, अपनी मेहनत से कमाते हो, लेकिन अपनी मेहनत की कमायी हुई रोटी पर भी तुम्हारा अधिकार न हो। भूख का अधिकार है, रोटी भूख के लिए है। तुम्हारे पेट में भूख है, इसलिए भूख का अधिकार रोटी पर अवश्य है। परन्तु तुम्हारे पड़ोस में कोई भूखा है, तो उसे बाँट दो। तुम्हारे पास आधी रोटी हो, तो उस आधी को भी बाँट दो।" गरीब आदमी या अल्प-संग्रहवान् व्यक्ति का भी अपनी मेहनत की उपज पर और अपनी मेहनत के उपकरणों पर स्वामित्व नहीं माना जाता। इसीका नाम है—'ट्रस्टीशिप'। यह शाश्वत 'ट्रस्टीशिप' है।

ट्रस्टीशिप के दो पहलू

इस तरह हमने ट्रस्टीशिप के दो पहलू देखे—१. संक्रमणकालीन ट्रस्टीशिप और २. शाश्वत ट्रस्टीशिप ।

अब इसमें दो तरह की सम्पत्ति आती है। एक, जिसे वास्तविक सम्पत्ति कहते हैं, और दूसरी, जो वास्तविक नहीं होती, लेकिन जिसे हम मानते हैं कि यह सम्पत्ति है। वास्तविक सम्पत्ति में निजी सम्पत्ति भी होती है, जिसे हम व्यक्तिगत और कौटुम्बिक सम्पत्ति कहते हैं। इनका अन्तर हमें समझ लेना चाहिए।

अहमदाबाद में रिक्शे चल रहे हैं। मान लीजिये कि नारायण देसाई ने और मैंने मिलकर चार रिक्शे खरीद लिये। हम रिक्शे कभी नहीं चलाते। रिक्शे चलानेवाले को किराये से दे देते हैं। उनसे कहते हैं कि "तुम चलाओ और किराये में से थोड़ी-सी बचत हमें दे दिया करो।" यह 'वास्तविक सम्पत्ति' कहलाती है। याने हमारी यह केवल सम्पत्ति ही है, उसका उपयोग भी हम नहीं करते। ऐसी हमारी सम्पत्ति, जिसका उपयोग भी हम नहीं करते, पूँजीवाद की परिभाषा में 'वास्तविक सम्पत्ति' है। यह निरपेक्ष सम्पत्ति है। याने इसका हमारे लिए कोई प्रत्यक्ष उपयोग भी नहीं है। अध्यात्म और नीति कहती है कि इस सम्पत्ति से मनुष्य का विनाश होता है। लेकिन पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में

यह 'सम्पत्ति' है। मैं हल रखता हूँ। उसे मैं बहुत-से अन्य किसानों को किराये पर दे देता हूँ, पर खुद कभी नहीं चलाता। यह जो 'हल' है, उसका उपयोग मुझे कुछ नहीं है और फिर भी वह मेरी सम्पत्ति है। ऐसे ही आज जमीन बहुत आदमियों की 'केवल सम्पत्ति' है, जिसका उपयोग वे बिलकुल नहीं करते, लेकिन जिस पर उनका कब्जा है। मैं घोड़े पर कभी नहीं बैठता। घोड़ा दूसरों को किराये पर देता हूँ। इस तरह की सम्पत्ति है यह।

दूसरी व्यक्तिगत सम्पत्ति है, जिसका मैं उपयोग करता हूँ। जैसे मेरा कुर्ता है। नारायण का कुर्ता मेरा नहीं हो सकता, मेरा कुर्ता उसका नहीं हो सकता। इसे 'व्यक्तिगत सम्पत्ति', 'उपयोग की वस्तु' कहते हैं।

आज रूस और चीन में उपयोग की वस्तुओं का संग्रह आप कर सकते हैं, लेकिन उत्पादन के साधनों का संग्रह कोई नहीं कर सकता। रूस और चीन पूँजीवाद से एक कदम आगे कहाँ गये हैं, यह समझ लेना आवश्यक है। इन क्रांतियों ने यह कदम उठा लिया कि कोई भी व्यक्ति उत्पादन के साधनों का संग्रह और स्वामित्व नहीं कर सकेगा। लेकिन वह उपयोग की वस्तुओं का संग्रह कर सकता है। कोई भी चाहे तो दस कुर्ते रख सकता है। लेकिन उसकी दिक्कत यह है कि दस कुर्ते मिल जाने पर भी उसे दस शरीर नहीं मिलते। और फिर वह मौके खोजता है कि ये दस कुर्ते मैं कब-कब पहनूंगा। साधनसम्पन्न हर श्रीमान् भगवान् से नित्य प्रार्थना करता है कि "हे भगवन्! मुझे एक से ज्यादा शरीर तो दे ही दे! रावण को तूने बीस हाथ दिये थे, तो वह कम-से-कम सौ अँगूठियाँ पहन सकता था। पर मुझे तो दो ही हाथ दिये हैं, केवल दस ही उँगलियाँ दी हैं! बड़े दुःख की बात है।" कपड़े सौ हों, तो भी पहनने के लिए तो शरीर एक ही है। मोटरें दस हों, तब भी बैठने के लिए 'बैठक' तो एक ही है। व्यंजन और पक्वान्न हजार हों, पर खाने के लिए पेट तो एक ही है।

इसलिए उपयोग की वस्तु के संग्रह से समाज को बहुत कम भय रहता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति से डर नहीं है। उपयोग की वस्तुओं का संग्रह एक मर्यादा से अधिक नहीं हो सकता। आज दस मोटरें रखनेवाले की शान है, प्रतिष्ठा है। इसलिए दस मोटरें रखता है। कल मोटर की प्रतिष्ठा ही न रहे, तो क्या

होगा ? अब तो भंगी भी मोटर में कचरा ले जाता है ! इस तरह मोटर की प्रतिष्ठा कम हो रही है। तब मोटर में कौन बैठना चाहेगा ?

इसलिए समाजवाद और साम्यवाद में उपयोग की चीजों का संग्रह रख सकते हैं, परन्तु निजी सम्पत्ति नहीं रख सकते। आप उपभोग की वस्तुओं का संग्रह कर सकते हैं और वह भी कब तक ? जब तक समाज में दुर्भिक्ष है। यह तो सभी मानेंगे कि जहाँ दुर्भिक्ष होता है, वहाँ वृत्ति में अनुदारता होती है। वस्तुओं की कमी, याने दारिद्रय, जहाँ है, वहाँ पर चित्त अनुदार रहता है। दस आदमी हैं और एक ही रोटी है, तो मैं दूसरे को बड़ा कौर दूँ, इसके लिए बहुत ही बड़ा दिल चाहिए। जहाँ दुर्भिक्ष होता है, वहाँ पर मनुष्य के लिए उदारता बहुत मुश्किल हो जाती है। इसलिए गांधी ने हमें उपवास का व्रत सिखाया था। जो भूखा होता है, वह दुनियाभर को खा जाना चाहता है। उसके सामने सारी चीजें और सारे प्राणी अन्न के रूप में ही आते हैं। वह सारे जगत् को और दूसरे मनुष्यों को अपना अन्न समझ लेता है। दो तरह के लोग मनुष्य को अन्न बना लेते हैं। एक वह, जिसे भूख है और दूसरा वह, जो पेटू है। '**महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।**'—गीता ३ : ३७—वह जो महाशन है, बकासुर की तरह जिसकी भूख है, खाने का जिसे बहुत शौक है, ऐसे आदमी के लिए दूसरा मनुष्य भी अन्न बन जाता है। इसलिए वह '**शोषक**' कहलाता है। वह मनुष्य को भी चूसता है। और दूसरा, जो बुभुक्षित (भूखा) होता है, वह भी इसी तरह से सोचता है कि मैं सारी दुनिया को खा डालूँ !

गांधी ने बड़ी कुशलता से और बड़ी सहृदयता से हमें इस दुर्भिक्ष में से उबार लेने के लिए गरीबों को भी उपवास का व्रत सिखलाया।

दुर्भिक्ष में से क्रांति तब होती है, जब विवश मानव भूख की जगह उपवास का व्रत ले लेता है। भूख में से क्रांति तब होती है, जब भूखा आदमी उपवास-निष्ठ बन जाता है। पुराने मार्क्सवादियों ने कहा था, "भूख बढ़ाओ, तो क्रांति बढ़ेगी।" पर अब वे ऐसा नहीं कहते, क्योंकि केवल भूख में से भीख भी पैदा होती है। भूख में से क्रांति कब पैदा होती है ? जब भूख में से उपवास की शक्ति पैदा होती है।

इसलिए जहाँ दुर्भिक्ष है, वहाँ पर प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही

नैतिक और आध्यात्मिक प्रयास है। गांधी ने कहा था, "भगवन्, अब इस देश में यदि तुम्हें आना हो, तो रोटी बनकर आना होगा। द्रौपदी के लिए तुम वस्त्र बनकर आये, भूखों के देश में तुम्हें रोटी बनकर आना होगा।" यह इसीलिए कहा कि जहाँ दुर्भिक्ष होता है, वहाँ सांस्कृतिक विकास नहीं होता।

संयोजन के तीन कदम

दुर्भिक्ष में से प्राथमिक संपन्नता की तरफ हमें पहले जाना होता है, इसलिए संयोजन का पहला कदम है निर्वाह। सबसे पहले निर्वाह के लिए संयोजन होना चाहिए। जो विपन्न है, उसकी प्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए। भूखे को रोटी मिलनी चाहिए, नंगे को वस्त्र मिलना चाहिए। लेकिन भीख के रूप में नहीं। यह किसी धनवान् की उदारता से नहीं मिलेगा।

वस्तुओं की कुछ विपुलता अवश्य होनी चाहिए, ताकि बँटवारे के समय झगड़ा न करना पड़े। इसलिए विपुलता के लिए संयोजन, यह दूसरा कदम है, जिसे हम समाजवादी कदम कहते हैं। विपुल उत्पादन के साथ-साथ सम-वितरण समाजवाद कहलाता है। लेकिन प्रश्न है कि सम-वितरण कौन करे?

लड्डू हैं, बेटे हैं, बाँटनेवाली माँ है और उस माँ का कुछ वजन भी है, तो सम-वितरण होगा। पर माँ भी नहीं है, बाप भी नहीं है, लड्डू हैं और बेटे हैं। तब यदि सम-वितरण करना है, तो बेटों में यह भावना होनी चाहिए कि पहले छोटे-से-छोटे को दूँगा, बाद में उससे बड़े को दूँगा, और सबसे बड़ा जो होगा, वह सबसे बाद लेगा। यह बंधुत्व के लिए संयोजन कहलाता है। संयोजन में बन्धुत्व की प्रेरणा दाखिल होनी चाहिए।

अपरिग्रह और असंग्रह का यह अर्थ नहीं है कि 'बस, हम जितना आवश्यक है, उतने का संग्रह करते चले जायँगे और दूसरे का नहीं लेंगे।' भला आवश्यक की भी कोई इयत्ता है, कोई मर्यादा है? उधर तो मर्यादा ही नहीं है, इधर यह मर्यादा कि किसीके धन की अभिलाषा मत कर। शंकराचार्य ने कहा कि 'किसीका' से मतलब 'अपना भी'। याने तीनों पुरुष आ गये। अर्थात् प्रथम पुरुष के धन की भी अभिलाषा मत कर, अपने धन की भी अभिलाषा मत कर। संग्रह की ही अभिलाषा छोड़ दे।

संयोजन की दृष्टि से पहला, जहाँ दुर्भिक्ष है—वहाँ निर्वाह के लिए संयोजन ! दूसरा, जहाँ वस्तुओं की कमी है, वहाँ विपुलता के लिए संयोजन।

लेकिन विपुलता की ओर ही ध्यान न चला जाय, तो मनुष्य की ओर से ध्यान हट जायगा। इसलिए बंधुत्व के लिए संयोजन। यहाँ हम अपरिग्रह तक आ पहुँचे।

व्यक्तिगत संपत्ति वह चीज है, जो हमारे उपयोग की है। जिस मकान में मैं रहता हूँ, उस मकान से सम्पत्ति का निर्माण नहीं होता। मकान से मकान नहीं पैदा होता। ऐसी चीजें, जिनसे कुछ पैदा नहीं होता, जिनका मैं केवल उपयोग करता हूँ, उन्हें आप मुझे रखने देते हैं। क्यों? आज दुर्भिक्ष है, इसलिए। दुर्भिक्ष जहाँ होता है, वहाँ उपयोग की वस्तुओं के संग्रह की सुविधा लोगों के लिए रख देनी होती है। उसमें से फिर वह विपुलता की ओर आते हैं। तो विपुलता के साथ-साथ दूसरा संयोजन करना पड़ता है कि विपुलता का उपयोग एक-दूसरे के लिए हो। इसलिए मैंने सह-उत्पादन की बात रखी थी कि एक-दूसरे के लिए उत्पादन हो और अब उपयोग में, अगर चीजों की विपुलता नहीं होगी तो, जो भी चीज होगी, उसका सम-वितरण होगा। दूसरे को खिलाकर खायेंगे। बन्धुत्व के लिए संयोजन करेंगे। यहाँ पर अपरिग्रह का व्रत और गांधीजी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त एक हो जाता है। दोनों की कसौटी यही है कि संग्रह न रहे।

ब्रह्मचर्य

इसके बाद ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त आता है। इस विषय में मैं पर्याप्त कह चुका हूँ। स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध समान भूमिका पर आ जाना चाहिए। स्त्री और पुरुष का समान मनुष्यत्व सह-नागरिकत्व के रूप में चरितार्थ हो जाना चाहिए। इसके लिए यह करना चाहिए कि जिन नैतिक सिद्धान्तों ने पुरुष का जीवन सुप्रतिष्ठित कर दिया है, उन नैतिक सिद्धांतों को स्त्री-जीवन में भी वही स्थान मिल जाना चाहिए, जो पुरुष के जीवन में है। ब्रह्मचर्य जैसे पुरुष-जीवन में मुख्य है, वैसे ही स्त्री-जीवन के लिए भी माना जाना चाहिए। वैधव्य या तो संन्यास की भूमिका पर आ जाना चाहिए या फिर विधवा और विधुर

की अलग-अलग कक्षा न हो, बल्कि ये दोनों समान भूमिका के माने जाने चाहिए। दूसरा, कुटुम्ब में स्त्री की कौटुम्बिकता मातृत्व की भावना से सम्पन्न हो जानी चाहिए। मेरी पत्नी मेरी पत्नी नहीं है, वह मेरे बच्चों की माँ है, यह भूमिका उसकी रहेगी। उसी प्रकार कुटुम्ब में स्त्री की नागरिकता का स्वीकार हो जाना चाहिए। इस प्रकार हम स्त्री-जीवन को मातृत्व और नागरिकत्व, दोनों से सम्पन्न करेंगे।

पुरुष स्त्री के विषय में अनाक्रमणशील होगा। स्त्री का शरीर अब खरीदने-बेचने या अपहरण करने की वस्तु नहीं रहेगा। इसके लिए पुरुष की वृत्ति अनाक्रमणशीलता की होगी और स्त्री की वृत्ति निर्भयता की रहेगी। स्त्री संरक्षण नहीं चाहेगी, वह सावधान तो रहेगी, लेकिन डरेगी नहीं। यदि ऐसा नहीं होगा, तो स्त्री-पुरुष का सह-नागरिकत्व और सह-जीवन असंभव है। सह-जीवन की बुनियादें शुद्ध और पवित्र होनी चाहिए। स्त्री अपनी जान से अपनी इज्जत को बड़ी मानेगी, तभी वह सुरक्षित ही नहीं, स्वरक्षित भी होगी। आज स्त्री परभृत है, पर-पोषित है, पर-रक्षित है और पर-प्रकाशित भी है। पुरुष के नाम पर वह चलती है। पुरुष यदि स्त्री के नाम पर चलता है, तो वह अधम माना जाता है। वह उसके नैहर में चला जाय, तो लोग कहते हैं कि यह फलानी लड़की का पति आया है। लेकिन और जगह वह कभी अपनी स्त्री के नाम पर नहीं चल सकता। स्त्री के जीवन से ये तीनों बातें निकल जानी चाहिए। अतः स्त्री पुरुषनिष्ठ न रहे, तत्त्वनिष्ठ बने। पुरुष अपने सिद्धान्त के लिए स्त्री का त्याग करता है, तो उसका गौरव होता है। स्त्री भी मीराबाई की तरह भगवान् के लिए अपने पति का त्याग करे, सिद्धान्त के लिए पुरुष का त्याग करे, तो उसका गौरव होना चाहिए। स्त्री व्यक्तिनिष्ठ नहीं होगी, तत्त्वनिष्ठ होगी।

लोक-संख्या का प्रश्न

ब्रह्मचर्य से एक अन्य प्रश्न भी निकलता है, जिसे हम 'लोक-संख्या का प्रश्न' कहते हैं। इस प्रश्न का विचार हमने ब्रह्मचर्य की भूमिका से नहीं किया है। गांधी और कुटुम्ब-नियोजन के प्रवर्तकों में मूलभूत अंतर रहा है। कुटुम्ब-

नियोजन के प्रवर्तकों ने इस समस्या का विचार प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से किया है, याने मनुष्य को करीव-करीब पशु के स्तर पर रखकर किया है। हम देखते हैं कि आज मनुष्य का कोई शरीर-धर्म प्राकृतिक नहीं रह गया है। पाखाने, पेशावखाने, बनवाये जाते हैं। मनुष्य चाहे जहाँ मल-मूत्र विसर्जन नहीं कर सकता। स्नानागार और भोजनालयों की व्यवस्था की जाती है। सह-भोजन कराते हैं। विवाहों में लोग आमंत्रित किये जाते हैं। विवाह एक संस्कार बना दिया गया है। इस सबका अर्थ यह है कि स्त्री और पुरुष का संबंध केवल प्राकृतिक नहीं है, वह सांस्कृतिक संबंध हो गया है और इसलिए प्रजनन भी केवल प्राकृतिक नहीं है, उसकी भूमिका सांस्कृतिक हो गयी है। पशुओं का प्रजनन केवल उपयोग की दृष्टि से होता है कि यहाँ पर गीर जाति की गायें नहीं चाहिए, कांकरेज की चाहिए। तो, या तो दूध की दृष्टि से देख लेंगे या साँड़ की दृष्टि से। लेकिन मनुष्य के पितृत्व का और मातृत्व का कोई ऐसा विचार कर सकेगा ?

एक तरफ गांधी है, दूसरी तरफ किंगकांग है। अब यह निर्णय कैसे होगा कि किसकी संतान बढ़नी चाहिए ? गांधी के नाम के नीचे लिखेंगे 'इसका वंश बढ़े' या लूई के नाम के नीचे लिखेंगे ? किसकी बिरादरी बढ़े ? रावण के नाम के नीचे आप यह लिखेंगे या राम के नाम के नीचे ?

तो प्रश्न है कि मनुष्य का, लोक-संख्या का विचार आप गुण की दृष्टि से करेंगे, शारीरिक प्रचण्डता की दृष्टि से करेंगे या केवल संख्या की दृष्टि से करेंगे ? ये सारे विचार आज प्रस्तुत हैं।

बर्टेण्ड्र रसेल ने एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है—'न्यू होप्स फॉर ए चेंजिंग वर्ल्ड'। उसमें उसने लिखा है कि "यूरोप में तो जन-संख्या कम होती चली जायगी, क्योंकि हम लोगों में संतति-नियमन है और हममें दूसरे शौक पैदा हो गये हैं। परन्तु एशिया में लोग बढ़ते चले जायेंगे। परिणाम यह होगा कि उत्पादन हम करते चले जायेंगे और खाते वे चले जायेंगे। इसलिए या तो उनका उत्पादन बढ़ना चाहिए या उनकी लोक-संख्या कम होनी चाहिए। नहीं तो हमारा जीवन-मान गिर जायगा। हिन्दुस्तान में गांधी के बाद जवाहरलाल नेहरू ही एक आदमी ऐसा आया है कि जो अविवेकी नहीं है।

गांधी तो अविवेकी था। यह अविवेकी नहीं है, क्योंकि यह कहता है कि संतति-नियमन करना चाहिए।"

स्पष्ट है कि आज जनसंख्या की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय समस्या मानी जाती है। इसका एक ही पहलू नहीं है। इसका मुख्य पहलू सांस्कृतिक है और दूसरा पहलू सामाजिक है। आज लोक-संख्या की समस्या एक तरह से वर्ण-भेद की समस्या में परिणत हो रही है। इसलिए इस मामले में भी दो सम्प्रदाय हो गये हैं। कम्युनिस्ट कहते हैं कि यह अवास्तविक समस्या है। दुनिया के वैज्ञानिकों में कम्युनिस्ट ही ऐसे हैं, जो यह कहते हैं कि समस्या वास्तविक नहीं है। इस विषय में पूर्वीय और पश्चिमी, ये दो सम्प्रदाय हो गये हैं। पुरानी पद्धति का पूर्वीय गोलार्ध शुरू होता था यूरल पर्वत से। अब पश्चिमी गोलार्ध शुरू होता है दक्षिण जर्मनी से। बाकी सब पूर्वीय गोलार्ध है। कम्युनिस्टों के प्रभाव में जितनी दुनिया आ गयी है और एशिया और अफ्रिका की जो दुनिया है, वह सब पूर्वीय दुनिया कहलाती है। आज का पूर्व और पश्चिम का भेद पहले के पूर्व और पश्चिम के भेद जैसा नहीं है। कम्युनिज्म को लोग पूर्व की चीज मानते हैं, पश्चिम की नहीं। सब पूर्वीय राष्ट्रों का यह कहना है कि जन-संख्या का प्रश्न आज का गम्भीर प्रश्न नहीं है। पश्चिमी राष्ट्रों का यह कहना है कि जन-संख्या का प्रश्न आज का ही गम्भीर प्रश्न है। इस प्रकार इसमें दो सम्प्रदाय हो गये हैं। आँकड़े और विज्ञान के नाम पर अब भ्रम में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है। जो विज्ञानवादी हैं, जो आँकड़ों पर चलने-वाले हैं, उनमें भी दो सम्प्रदाय हो गये। ये दो सम्प्रदाय हुए हैं वर्णभेद के आधार पर! सन्तान किसकी बढ़े, यह मूलभूत समस्या ली गयी। पश्चिम की संतान तो बढ़ नहीं सकती, इसका मुख्य कारण यह है कि जहाँ जीवनमान बढ़ जाता है, वहाँ संतान-वृद्धि घट जाती है। जीवनमान जितना उन्नत होगा, सन्तान उतनी कम होगी।

हमारे यहाँ पुराणों में बहुतेरे राजाओं को या तो सन्तान के लिए दूसरी शादी करनी पड़ी या पुत्रकामेष्टि यज्ञ करना पड़ा। जीवन जितना सम्पन्न हो जाता है, सन्तान-वृद्धि उतनी कम हो जाती है। प्रकृति का कुछ ऐसा नियम मालूम होता है कि जहाँ पर विपन्नता और गरीबी अधिक होती है, वहाँ सन्तान

भी अधिक होती है। वैज्ञानिक इसका बहुत ज्यादा स्पष्टीकरण नहीं कर सके। लेकिन समाजशास्त्रियों का यह निरीक्षण है कि जो संयमी होते हैं और जिनका जीवन उन्नत होता है, उनकी सन्तान में सत्त्व अधिक होता है, पर उनकी संख्या कम होती है ! जिनका जीवन विपन्न और क्षीण होता है, उनकी सन्तान की संख्या अधिक होती है और सत्त्व कम होता है।

लोक-संख्या का प्रश्न हल करने के लिए विनोबा का एक उपाय है। वे कहते हैं कि समाज में अनुत्पादकों की संख्या न बढ़े। आवश्यकता इस बात की है कि उत्पादकों का जीवन सम्पन्न हो। पर आज अनुत्पादकों का जीवन सम्पन्न है, उत्पादकों का जीवन विपन्न है। इसलिए उत्पादकों की सन्तान तो बढ़ती है, लेकिन उत्पादकों की संख्या समाज में नहीं बढ़ सकती; क्योंकि वे बेकार हो जाते हैं। तो जिन उत्पादकों के घर में सन्तान बढ़ती है, उनमें उत्पादकों की ही संख्या बढ़नी चाहिए और समाज से अनुत्पादक-वर्ग का निराकरण हो जाना चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि उत्पादक का सांस्कृतिक विकास होना चाहिए। उत्पादक का जितना सांस्कृतिक विकास होगा, उतनी ही लोक-संख्या कम होगी।

यहाँ मैंने केवल ब्रह्मचर्य का साधन नहीं रखा है, क्योंकि मैं यह मानता हूँ और यह अनुभव है कि केवल संयम और केवल ब्रह्मचर्य से संख्यावृद्धि नहीं रुक सकती। अपने में वह एक प्रभावी साधन है। जहाँ संयम होता है, वहाँ सन्तान की संख्या कम होती है।

परंपरागत लोकश्रुति है कि शूकरी के अनेक सन्तानें होती हैं। पर सिंहनी के एक ही सन्तान होती है और वह हाथी को मारने के लिए होती है। अब तो हमने सिंहनी के चार-चार बच्चे होते देखे हैं। लेकिन ऐसा इसीलिए माना गया कि जहाँ सत्त्व अधिक होता है, संस्कृति अधिक होती है, वहाँ संयम-प्रधान जीवन होता है और जहाँ संयम-प्रधान जीवन होता है, वहाँ लोक-संख्या गुण की दृष्टि से श्रेष्ठ होती है, संख्या की दृष्टि से कम होती है। इसलिए जिस समाज में जितना सांस्कृतिक विकास होगा, उस समाज में लोक-संख्या के प्रश्न का निराकरण उतनी हद तक होगा। इस दृष्टि से मैंने इस प्रश्न को ब्रह्मचर्य के साथ मिलाया है। यह केवल वैज्ञानिक या प्राणिशास्त्र की समस्या नहीं है, यह

केवल अर्थशास्त्र की समस्या नहीं है। कारण, मनुष्य का विवाह केवल प्राणि-शास्त्र के आधार पर नहीं होता। मनुष्य का विवाह नीतिशास्त्र के आधार पर, समाजशास्त्र के आधार पर होता है, इसलिए विवाह उसका 'संस्कार' है। विवाह 'संस्कार' है, इसलिए प्रजनन भी 'संस्कार' है। प्रजनन में जितनी संस्कारिता आयेगी, लोक-संख्या का सवाल भी हम उतना ही हल कर सकेंगे।

लोक-संख्या के प्रश्न में एक बात और है। यह सभ्य आदमी का स्वभाव है कि जहाँ पर भीड़ हो रही हो, वहाँ वह जगह खाली कर दे। यह सभ्यता का लक्षण है। लोक-संख्या यदि बढ़ रही है, तो सभ्यता का तकाजा है कि आप सबसे पहले जगह खाली कर दें।

परन्तु लोग मानते हैं कि लोक-संख्या अन्यत्र तो बढ़ रही है, हमारे घर में नहीं बढ़ रही है। इसलिए हमारे घर में पोता पैदा होता है, तब हम पेड़े बाँटते हैं!

इस बात की आवश्यकता है कि इस समस्या के सारे पहलुओं पर हम विचार करें। पश्चिम के लोग केवल एशिया के और एशिया के लोगों की दृष्टि से इस समस्या पर विचार करते हैं। इसलिए उनका विचार कलुषित हो गया है। पूर्व के लोगों ने इस समस्या का केवल वैज्ञानिक दृष्टि से और पृथ्वी की वर्तमान उत्पादन-क्षमता की ही दृष्टि से विचार किया। अंकशास्त्रियों का और अर्थशास्त्रियों का यह अनुमान और यह निष्कर्ष है कि आज दुनिया की बस्ती लगभग २ अरब ४३ करोड़ है। बीस वर्ष में यदि इससे दूनी हो जाती है, तो भी कोई बहुत चिंता का विषय नहीं है।

मैंने आँकड़ों की दृष्टि से इस समस्या पर विचार नहीं किया है। आँकड़ों की दृष्टि से हमें विचार तो करना होगा, लेकिन वह विचार आज हमारे लिए इतना जरूरी नहीं है, जितना कि मनुष्य के जीवन का सांस्कृतिक दृष्टि से और उसकी संतान के गुण की दृष्टि से विचार करना आवश्यक हो गया है। भविष्य में जो मनुष्य उत्पन्न हो, वह आज के मनुष्य से अधिक गुणवान् होना चाहिए, वह आज के व्यक्तियों से अधिक संस्कारसम्पन्न होना चाहिए और आज की अपेक्षा उसके जमाने में दुर्भिक्ष कम होना चाहिए।

ये तीनों बातें कब होंगी ? जब इस दृष्टि से आप विचार करेंगे कि हमें दुर्भिक्ष का निराकरण करना है और साथ-साथ सांस्कृतिक विकास भी करना है। दुर्भिक्ष का निराकरण होगा, तो संतान की संख्या कम होगी। सांस्कृतिक विकास जितना अधिक होगा, जीवन में संयम उतना ही अधिक आयेगा। तब सत्त्वप्रधान प्रजनन होगा, संख्या-प्रधान नहीं। उसके साथ-साथ गुण-विकास भी होगा ही।

शरीर-श्रम

शरीर-श्रम को हम व्रत का रूप देना चाहते हैं। हमारा उद्देश्य यह है कि आज का धननिष्ठ, सम्पत्तिनिष्ठ समाज श्रमनिष्ठ समाज में परिवर्तित हो जाय।

इसमें दो प्रक्रियाएँ हैं।

समाज में जो प्रतिष्ठित है, उसे श्रम करना चाहिए। श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए और वर्ग-परिवर्तन की भूमिका बनाने के लिए। वर्ग-निराकरण होगा, वर्ग-समन्वय हरगिज नहीं होगा। वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया का आरम्भ वर्ग-परिवर्तन से होता है। वर्ग-परिवर्तन का आचरण हर व्यक्ति को करना है। इसलिए आज जो श्रम नहीं करते, उन्हें श्रम करना चाहिए और उत्पादक परिश्रम करना चाहिए। उनका उत्पादक परिश्रम श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए व्रत के रूप में हो। लेकिन इतने से हमारा काम पूरा नहीं होता।

आज धनवान् तो धननिष्ठ है, लेकिन श्रमवान् श्रमनिष्ठ नहीं है। किसी मजदूर से कल भगवान् प्रसन्न हो जायँ और पूछें, "तू क्या चाहता है ?" तो वह कहेगा, "भगवन्, रोज मशक्कत करनी पड़ती है, उससे मैं बच जाऊँ।" वह यह वरदान थो ही माँगेगा कि "आज मेरे पास जोड़े कुदाली है, उससे जरा अच्छी कुदाली दे दे।" वह तो यही कहेगा कि "हे भगवन्, इस कुदाली से मुक्ति पाने का दिन कब आयेगा ?" इसलिए हम चाहते हैं कि श्रमवान् श्रमनिष्ठ बने।

विनोबा कहते हैं कि "धनवान् की धननिष्ठा कम करने के लिए मैं सम्पत्तिदान माँग रहा हूँ। भूमिवान् की भूमिनिष्ठा कम करने के लिए मैं उनसे

भूमि माँग रहा हूँ और श्रमवान् की श्रमनिष्ठा बढ़ाने के लिए मैं श्रम-दान माँग रहा हूँ।'

आज जो श्रमवान् है, वह श्रम बेचता है। श्रम जिस दिन बाजार से उठ जायगा, उस दिन श्रमवान् श्रमनिष्ठ बन जायगा। इसलिए शरीर-श्रम को व्रत बना दिया।

केवल असंग्रह पर्याप्त नहीं है। असंग्रह के साथ उत्पादक परिश्रम-निष्ठा चाहिए। मनुष्य का जो शौक का काम होता है, वही उसकी फुरसत का काम भी होता है। फुरसत किसे कहते हैं? पुराने समाजवादियों की एक परिभाषा है, 'फुरसत ही आजादी है।'

मान लीजिये, कल यह नारायण सोच ले कि दादा को आराम देना है। अब वह मुझे कमरे में बन्द कर देता है और बाहर से ताला लगा देता है। प्रबोध आकर खिड़की में से पूछता है—"क्यों दादा, तुम तो बहुत आराम से पड़े हो न?" कहता हूँ—"अरे, आराम से क्या पड़ा हूँ? सजा है। हमें कोई यहाँ से निकलने ही नहीं देता। कहता है—तुम आराम करो, यहाँ से निकल नहीं सकोगे।"

"खिड़की में से बात कर सकता हूँ या नहीं?" तो 'मिलने की मुमानियत' लिख दिया है। कहा—"खिड़की में से भी तुम बात नहीं कर सकते।"

अपनी इच्छा का काम भी आराम है, दूसरों की इच्छा का आराम भी सजा है। हमने फुरसत को समझा नहीं था कि फुरसत आखिर क्या वस्तु है। फुरसत और श्रम के अन्तर को हम कम कर देना चाहते हैं। काम और आराम में आज जो भेद है, जो विरोध है, उसे हम कम कर देना चाहते हैं। शरीर-श्रम के व्रत का यही अर्थ है।

आज काम अप्रतिष्ठित है, आराम प्रतिष्ठित है। हम आराम की प्रतिष्ठा घटाने के लिए काम की प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहते हैं। गांधी ही नहीं, जवाहरलालजी का भी आज नारा है—**'आराम हराम है।'** यही चीज गांधी ने शरीर-श्रम के व्रत के रूप में कही। हम आराम को अप्रतिष्ठित कर काम को प्रतिष्ठित बना देना चाहते हैं, इसलिए जो व्यक्ति काम करता है, वही

आराम का अधिकारी होगा और आराम का जो अधिकारी है, उसे काम करना पड़ेगा। ऐसा जब होगा, तब श्रमनिष्ठ समाज होगा।

अस्वाद

शरीर-श्रम के बाद अस्वाद का व्रत आता है। लोग कहेंगे कि दादा भी अस्वाद की बात करता है! किसीने मुझसे पूछा था कि "स्वर्ग में जाओगे?" तो मैंने कहा कि "स्वर्ग में जाने को तो तैयार हूँ, लेकिन वहाँ की एकाध बात मुझे खटकती है।" "सो क्या?" "यही कि वहाँ अमृत ही अमृत पीना पड़ता है। अचार, पापड़ वगैरह वहाँ नहीं मिलते। इसलिए वहाँ कुछ मजा नहीं आयेगा।" ऐसा आदमी यदि अस्वाद की बात करे, तो यह कुछ बेतुकी-सी बात मालूम होती है। लेकिन **अस्वाद का एक सामाजिक अर्थ है और वह यह है कि उत्पादन मेरे लिए नहीं होगा, समाज के लिए होगा।**

इधर खेतों में तमाम तमाखू ही तमाखू बोते हैं। बोनेवालों को इस तमाखू का क्या कोई उपयोग है? 'वह बिकती है।' बेचने के ही लिए उसका उपयोग है! समाज की आवश्यकता के लिए जब उत्पादन होता है, तब सामाजिक पथ्य रखना पड़ता है। बीमारी में परहेज रखना पड़ता है। डॉक्टर कहता है—खटाई मत खाओ, मिर्च मत खाओ। इसे परहेज कहते हैं, पथ्य कहते हैं। ऐसे ही उत्पादन में और उपभोग में कुछ सामाजिक पथ्य आ जाते हैं। यह जो सामाजिक संयम होता है, इसीमें से मनुष्य को अस्वाद की प्रेरणा मिलती है। क्योंकि अस्वाद के लिए भी कोई प्रेरणा चाहिए। केवल अस्वाद में आगे चलकर कुछ स्वाद नहीं रहता। वह बेमजा हो जाता है, बेलज्जत हो जाता है।

माँ भोजन बनाती है। बहुत स्वादिष्ट भोजन बनाती है। मुझे खिलाती है, नारायण को खिलाती है। अब मैं भी अपने पेट से कुछ ज्यादा खा लेता हूँ और यह भी। माँ के लिए या तो कुछ नहीं बचता या बचता भी है, तो नीचे की कुछ खुरचन बच जाती है। फिर भी वह चटखारे ले-लेकर खाती है। उसे बहुत स्वाद आता है। वह कहती है, "तुमने खाया, तुम्हें मजा आया। तुम्हारे स्वाद से मेरी जीभ का स्वाद द्विगुणित हो गया।" यह अस्वाद की सामाजिक प्रेरणा कहलाती है।

अस्वाद को हम सामाजिक मूल्य बनाना चाहते हैं। मान लें, यह टुकड़ी आज रसोड़े में जायगी। अब ये परोसनेवाले यदि यह सोचें कि सारी भाकरियाँ दूसरे लोग खा लेंगे, हमारे लिए क्या बचेगा, तब तो ये लोग होटलवाले बन जायँगे, शिविरवाले नहीं रह सकेंगे। शिविरवाले वे तभी तक रहेंगे, जब तक कि खानेवाले खाना खाते जाते हैं और खिलानेवाले खुश होते चले जाते हैं। खिलाते-खिलाते इनका दिल आनन्द से नाच रहा है! भले ही अन्त में बरतन खाली हो जाय, उनके लिए कुछ न बचे, पर खिलानेवाले को तब तक होश ही नहीं है, जब तक खानेवाले खा रहे हैं। यह अस्वाद का सामाजिक पहलू है।

सामाजिक मूल्य के रूप में भी अस्वाद आता है। हम दूसरे को खिलाकर खायें। दूसरे को खिलाने में आनन्द मानें। मेरा आनन्द यदि दूसरे को जिलाने में है, तो मेरा आनन्द दूसरे को खिलाने में भी होना चाहिए। विनोबा हमें हमेशा सिखाते हैं कि "अरे भाई! जो दूसरे को खिलाकर खाता है, वह असली मजा चखता है। जो खुद ही खाता है, उसे कभी मजा ही नहीं आता।"

नारायण को आप कोई स्वादिष्ट वस्तु दे देते हैं। उसे वह बहुत अच्छी लगती है। लेकिन उसे तब तक जायका ही नहीं आता, जब तक वह प्रबोध से नहीं कह लेता कि ऐसी चीज थी। कहता है—"क्या बताऊँ! कैसी चीज थी!" वह कहता है—"भाई, कुछ बतला भी तो!" तो बतलाये क्या? वह बतला तो सकता नहीं है। उससे कहता है कि "तू भी खा। तब प्रबोध कहेगा कि "हाँ, यह दरअसल बढ़िया चीज थी।" तब फिर दोनों की खुशी दुगुनी होगी।

आनन्द जब तक दूसरों की आँखों में प्रतिबिम्बित नहीं होता, तब तक वह पूरा नहीं होता। मनुष्य का स्वभाव है यह। इसे आप स्वाद की ओर लगा दीजिये, तो अस्वाद भी सामाजिक मूल्य बन जाता है।

सर्वधर्म-समानत्व

निर्भयता का विवेचन मैं कर चुका हूँ। स्वदेशी, स्पर्श-भावना और सर्वधर्म-समानत्व की भी मैंने विशद रूप से चर्चा कर दी है। सर्वधर्म-समानत्व

का अर्थ यह है कि सम्प्रदायों का निराकरण हो जाना चाहिए। जो मनुष्य-मनुष्य में भेद करता है, वह धर्म नहीं है। मनुष्य-मनुष्य में जो अभेद की स्थापना करता है, वही धर्म है। इस दृष्टि से सारे धर्म समान हो जाते हैं और अगर सारे धर्म समान हो जाते हैं, तो धर्म-परिवर्तन निषिद्ध हो जाता है।

स्वदेशी

स्वदेशी में केवल स्वावलम्बन का सिद्धान्त नहीं होगा, परस्परावलम्बन का भी सिद्धान्त होगा। नहीं तो विकेन्द्रित उत्पादन विकीर्ण उत्पादन हो जायगा। विनोबा के ये दो शब्द हैं। 'विकेन्द्रित उत्पादन' चाहिए, 'विकीर्ण उत्पादन' नहीं। विकीर्ण का अर्थ है छितरा हुआ। छितरा हुआ का अर्थ यह है कि एक के साथ दूसरे का सम्बन्ध नहीं। हर गाँव अलग-अलग हो गया, हर गाँव स्वावलम्बी हो गया, एक गाँव का दूसरे गाँव से कोई सम्बन्ध नहीं है, तब जीवन सम्पन्न होगा या विपन्न? विपुलता में बन्धुत्व की प्रेरणा नहीं है, तो विपुलता बेकार है। इस प्रवृत्ति के विकास के लिए संयोजन में बन्धुत्व की प्रेरणा चाहिए। उसी प्रकार जो उत्पादन होगा, वह मेरे पड़ोसी के लिए होगा। उत्पादन में पड़ोसीपन की भावना होनी चाहिए।

मैं उत्पादन तो करता हूँ, लेकिन उत्पादन का मुझे शौक क्यों है? इसीलिए कि जो चीज मैं बना रहा हूँ, वह बबलभाई पहननेवाले हैं। बबलभाई जो बना रहे हैं, वह दादा पहननेवाला है। इसलिए हमारे स्वयंपूर्ण क्षेत्र केवल स्वावलम्बी नहीं होंगे, परस्परावलम्बी होंगे। याने इन्हें एक-दूसरे की अपेक्षा रहेगी। समन्वयात्मक समाज में सह-उत्पादन एक-दूसरे के लिए होगा। हर जगह हर क्षेत्र में तो सह-उत्पादन होगा ही, सह-उत्पादन अन्तर्क्षेत्रीय भी होगा। उपयोग के विषय में सभी व्यक्ति और क्षेत्र परस्परापेक्षी होंगे।

स्पर्श-भावना

स्पर्श-भावना में जाति-निराकरण और अस्पृश्यता-निवारण, ये दो चीजें आती हैं। जाति जन्मसिद्ध ही हो सकती है, कर्मसिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए जाति के निराकरण के लिए जन्मगत उच्चता और नीचता

का निराकरण करना होगा। जन्मगत उच्चता और नीचता का निराकरण तभी होगा, जब जन्म की परिस्थिति में ही परिवर्तन होगा। जन्म की परिस्थिति का नाम विवाह है। इसके लिए सजातीय विवाह निषिद्ध करार देना होगा, तभी जाति-निराकरण होगा। इसमें जबरदस्ती नहीं है। इसमें पथ्य है। आज की विधि (धर्माज्ञा) क्या है? **'सवर्णां भार्यां उद्वहेत् असमानार्षगोत्रजाम्।'** 'सवर्ण भार्या के साथ विवाह करो, लेकिन उसका और तुम्हारा गोत्र एक नहीं होना चाहिए।' सगोत्र विवाह का निषेध है, सवर्ण विवाह का प्रतिपादन है। जो सगोत्र विवाह को निषिद्ध नहीं मानते, वे सपिंड विवाह का निषेध करते हैं। मैं इतना ही कहता हूँ कि सगोत्र और सपिंड विवाह की जगह सवर्ण-विवाह रख दीजिये, बाकी तो आपकी स्वेच्छा पर सब कुछ है ही। बाकी आपके लिए पूरा क्षेत्र पड़ा हुआ है। मैं आज तक की सामाजिक मर्यादा को केवल बढ़ा रहा हूँ और कह रहा हूँ कि जातिभेद का निराकरण यदि करना है, तो इतना कदम और उठा लेना चाहिए। ऐसा किये बिना अस्पृश्यता का पूर्ण निवारण नहीं होगा।

पहले गांधी, विनोबा और हमारी राष्ट्रीय संस्थाओं और राष्ट्रीय शालाओं में रहनेवाले हम लोगों ने दो भिन्न-भिन्न भूमिका के प्रश्न मान लिये थे। अस्पृश्यता को हमने केवल स्थूल स्पर्श का प्रश्न मान लिया था और सह-विवाह तथा सह-भोजन भिन्न भूमिका के प्रश्न मान लिये थे। लेकिन अनुभव से और अधिक चिन्तन से हम इस परिणाम पर पहुँचे कि ये भिन्न भूमिका के प्रश्न नहीं हैं। ये तो समान भूमिका के प्रश्न हैं। इसलिए **'स्पर्शभावना'** शब्द वहाँ पर रखा। **केवल अस्पृश्यता-निवारण नहीं रखा, स्पर्शभावना रखा। एक विधायक व्रत रख दिया। हम किसी मनुष्य को अशुद्ध न मानें और न किसी मनुष्य के रक्त को अशुद्ध मानें। यहाँ तक स्पर्शभावना जाती है।**

श्री बबलभाई ने यह प्रश्न रखा है कि अस्वच्छ व्यवसाय कौन करे?

कुछ धन्धे ऐसे हैं, जो गन्दे हैं। कुछ धन्धे ऐसे हैं, जिनमें बुद्धि का कुछ काम नहीं पड़ता और दिनभर मनुष्य को उनमें लगा रहना पड़ता है। इन धंधों के बारे में दो ही बातें हो सकती हैं। इन धंधों को बाँट देना चाहिए। जैसे गांधी ने हरएक के हाथ में झाड़ू दे दी। भंगी की कोई जाति या रोजगार

नहीं रहना चाहिए। यदि आप नहीं बाँट सकते हैं, तो ऐसी व्यवस्था हो कि जंजीर खींचते ही पाखाने साफ हो जाने चाहिए। वहाँ यन्त्रीकरण कर देना चाहिए। जो महज मशक्कत के, केवल श्रम के रोजगार हैं, जैसे दिन-रात बोझा ढोने का रोजगार है, उसमें मनुष्य मस्तिष्क का काम नहीं कर सकता। ऐसे रोजगारों को भी या तो सब करें, या फिर ये रोजगार यन्त्रों को सौंप दिये जायँ। ये दो ही उपाय हैं। यन्त्रीकरण से अगर बेकारी होती है, तो उन रोजगारों को सबमें बाँट देना चाहिए। तब हमारे समाज से रोजगारों की उच्च-नीचता निकल जायगी। जाति के साथ ही आज यह नहीं निकलती है। रोजगार बदलने पर भी जाति बनी रहती है। यह हमारा आज तक का अनुभव है।*

---

*विचार-शिविर में २७-८-५६ का प्रातः-प्रवचन।

जब से अंग्रेज इस देश में आये, तभी से अर्वाचीनता का आरम्भ इस देश में हुआ। अंग्रेजों के यहाँ आने से पहले हमारे देश को आधुनिकता का स्पर्श नहीं हुआ था। इसका मतलब यह नहीं है कि इस देश का सम्बन्ध दूसरे देशों से नहीं था। हमारा दूसरे देशों से सम्बन्ध था। उनके आक्रमण भी होते रहते थे। जो विदेशी यहाँ रह जाते थे, वे यहाँ के हो जाते थे। फिर भी जिसे 'आधुनिक संस्कृति' या 'अर्वाचीन सभ्यता' कहते हैं, उसका स्पर्श इस देश को अंग्रेजों के आने के बाद ही हुआ। अंग्रेज जब से यहाँ पर आये, तब से दो तरह की प्रवृत्तियाँ शुरू हो गयीं।

दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ

एक प्रवृत्ति तो यह शुरू हुई कि आधुनिकता का जो आक्रमण इस देश पर हुआ था, उससे इसका संरक्षण किया जाय और प्राचीन संस्कृति का इस देश में फिर से पुनरुज्जीवन किया जाय। दूसरी प्रवृत्ति यह शुरू हुई कि अंग्रेजों की सत्ता इस देश में से मिटा दी जाय। पर उस समय उसके बजाय लोकसत्ता की स्थापना की कल्पना नहीं थी। उससे पहले जो सत्ताएँ थीं, वे सत्ताएँ फिर से आ जायँ, केवल अंग्रेजों की सत्ता इस देश से नष्ट हो जाय, इतनी ही आकांक्षा थी।

सशस्त्र क्रांति की चेष्टा

अब यह तो स्वाभाविक ही था कि उस समय लोगों का यह विश्वास हो कि बगैर हथियार के अंग्रेज नहीं जा सकते। इन दोनों पक्षों में से कोई भी यह सोच ही नहीं सकता था कि बिना शस्त्र के भी कोई प्रतिकार हो सकता है। ये दोनों पक्ष यह मानते थे कि बगैर हथियारों के यह काम होनेवाला नहीं है। इसलिए यहाँ पर जिसे हम शुरू-शुरू का 'राष्ट्रीय आंदोलन' कहते

हैं, वह सशस्त्र क्रांति की ही चेष्टा का आन्दोलन था। कई तरह के लोग इसमें थे। किस-किस प्रवृत्ति से ये आये, यह सब कहना यहाँ आवश्यक नहीं। केवल दो घटनाओं का उल्लेख करता हूँ।

वहाबियों का आन्दोलन

एक है—सशस्त्र क्रांति की वहाबी मुसलमानों की चेष्टा और दूसरी है १८५७ की सशस्त्र लड़ाई।

वहाबियों का आंदोलन कैसे शुरू हुआ, किसने शुरू किया, वहाबी पंथ क्या है, यह सब छोड़कर सिर्फ एक बात आपके सामने रखता हूँ कि उनका एक नेता अहमदशाह था। उसने १८२३ में सिक्खों के विरुद्ध जहाद शुरू की। उसने यह कहा कि "गैर-मुसलिम राज में मुसलमानों का रहना हराम है।" हम लोगों ने उसे राष्ट्रीय आन्दोलन समझा और राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में इसका उल्लेख कभी-कभी आ जाता है, लेकिन दर-असल उसके पीछे कौन-सी भावना थी, यह हमें नहीं भूलना चाहिए। १८६६-६७ में इसी वहाबी पंथ का अमीर खाँ नाम का एक नेता हुआ, जिसने अंग्रेजों के खिलाफ एक षड्यंत्र किया। वह पकड़ा गया। उस पर मुकदमा चला। एनस्टी नामक अंग्रेज बैरिस्टर ने इसके बचाव में भाषण किया। वह भाषण इस देश में इतना फैला कि उस जमाने के विद्यार्थी और तरुण उसे कंठ करते थे। लेकिन इन दोनों आंदोलनों के पीछे उद्देश्य इतना ही था कि 'गैर-मुसलिम राज में मुसलमान नहीं रह सकते।'

प्राचीन व्यवस्था लौटाने की चेष्टा

इसी तरह के जो दूसरे आंदोलन चले, उनके उन्नायक हिन्दू-आंदोलनकारी थे। बहुत से वर्णाश्रम स्वराज्यवादी थे। वे चाहते थे कि यहाँ की जो प्राचीन व्यवस्था है, वह बनी रहे। उसमें किसी प्रकार की बाधा न आये। वे प्राचीन व्यवस्था के अभिभावक थे। इसलिए १८५७ में, जिसे हम **'स्वातंत्र्य युद्ध'** कहते हैं, किसीने कहा कि कारतूसों में 'गाय की चर्बी' लगी हुई रहती है और दूसरे ने कहा कि 'सूअर की चर्बी' लगी हुई रहती है। इस तरह से सिपाहियों में बगावत शुरू हुई। उसमें नाना साहब पेशवा, दिल्ली

का बादशाह और झाँसी की रानी, इन तीनों ने भाग लिया। उस वक्त यह कल्पना नहीं थी कि इस देश में जनता का राज हो या इस देश में लोकसत्ता की स्थापना हो।

वासुदेव बळवंत फडके

सशस्त्र क्रान्तिकारियों में सबसे पहले प्रजासत्ताक राज्य या लोकसत्ताक राज्य की बात करनेवाला वासुदेव बळवंत फडके हुआ। यह वासुदेव बळवंत फडके विनोबा के गाँव के पड़ोस में पनवेल तालुके के शिरधौन नामक गाँव में पैदा हुआ। जनता ने इसका साथ नहीं दिया। सरकार तो खिलाफ थी ही। बड़े-बड़े शहर और गाँव के लोगों ने भी इसका साथ नहीं दिया। भील और रामोशी याने जिन्हें आप गुनहगार जातियाँ, जरायम-पेशा जातियाँ, कहते हैं, उन लोगों ने इसका साथ दिया। लेकिन इसने प्रतिज्ञा यह की कि 'मैं तार तोड़ डालूँगा, रेलें बन्द कर डालूँगा, इनकी कचहरियाँ और पोस्ट आफिस जलाऊँगा, लेकिन इसलिए कि आगे चलकर **मैं सारे देश में छोटे-छोटे प्रजासत्ताक राज्य स्थापित करूँगा।'** यह प्रतिज्ञा पुराने सशस्त्र क्रान्तिकारियों में सिर्फ वासुदेव बळवंत फडके ने की।

धार्मिक पुनरुज्जीवन का प्रयास

एक प्रवाह तो यह चल रहा था। दूसरी तरफ धार्मिक पुनरुज्जीवन का प्रयास हो रहा था। इतने में इस देश में अंग्रेजों से कुछ सीखने का आन्दोलन शुरू हुआ। अंग्रेजी सभ्यता, जिसे हम 'पश्चिम की सभ्यता' कहते थे और जिसे मैंने 'आधुनिक सभ्यता' कहा है, उसके सत्कार और स्वीकार का आन्दोलन इस देश में शुरू हुआ। लेकिन इस अनुकरण में केवल अनुकरण नहीं था याने हिन्दुस्तान के लोगों को 'नकली साहब' या प्रति-यूरोपियन बनाने का ही यह आन्दोलन नहीं था। उनके तत्त्वों को लेकर, उनके सिद्धान्तों को लेकर इस देश में एक राष्ट्रीय पुनरुत्थान करने का आन्दोलन था।

राजा राममोहन राय

इस आन्दोलन का सबसे बड़ा प्रवर्तक था—राजा राममोहन राय।

वड़ा ही तगड़ा और वहुत ही दवंग व्यक्ति था। उसे इस देश में 'आधुनिक भारत का पिता' और 'राष्ट्रीयता का पैगम्बर' कहा जाता है।

उसने वड़े साहस का काम यह किया कि वह इंग्लैण्ड गया और विक्टोरिया रानी से जाकर उसने कहा कि "हमारे देश में अंग्रेजी शिक्षा शुरू होनी चाहिए।" उधर मेकाले भी कहता था कि अंग्रेजी शिक्षण शुरू होना चाहिए। मेकाले ने लिखा कि "इनके इतिहास में तो एक-एक राजा ऐसा है, जो २-२ हजार फीट का ऊँचा है और हजार-हजार साल तक जीता रहा है! इनका भूगोल दही-दूध और मक्खन के समुद्रों का है और शहद की नदियों का है। इन लोगों के साहित्य में, इनके इतिहास में रखा क्या है? इसलिए इन्हें अंग्रेजी शिक्षण देना चाहिए।"

राजा राममोहन राय वेद-उपनिषद् का ज्ञाता था। कुरान उसने सीख ली थी, वाइविल का अध्ययन उसने मिशनरी लोगों के पास वैठकर किया था। इस देश में भारतीय समाचार-पत्र निकालने की कोशिश भी पहले-पहल उसीने की। विधवा-विवाह के लिए और सती की प्रथा के खिलाफ उसने आन्दोलन शुरू किया और इस सम्वन्ध में जो कानून वने, वे सव राजा राममोहन राय की कोशिश से वने। कलकत्ते में २० अगस्त १८२८ में उसने इस उद्देश्य से व्राह्म-समाज की स्थापना की कि अंग्रेजों के समाज में जितनी अच्छी चीजें थीं, वे दरअसल हमारी संस्कृति में पहले से हैं। लोग नाहक ईसाई वनते हैं। ईसाई वनने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारी संस्कृति में और हमारे धर्म में ये सारी खूवियाँ, सारी विशेषताएँ हैं, जिनके लिए लोग अभी ईसाई वन रहे हैं। इस प्रकार के सत्कार और स्वीकार के साथ पुनरुज्जीवन का प्रयास राजा राममोहन राय ने किया। लेकिन ईसाई वनने की जो प्रवृत्ति थी, उस प्रवृत्ति में उसने वहुत वड़ी रुकावट पैदा की और पुनरुज्जीवन की ओर लोगों को मोड़ा। आधुनिकता को स्वीकार करते हुए लोग पुनरुज्जीवन की ओर मुड़े।

वह ऐसा युग था कि उस पर ईसाइयों की वहुत वड़ी छाप थी। उस समय वाइविल का ही अध्ययन होता था। व्राह्म-समाज के वहुत वड़े वक्ता

केशवचन्द्र सेन ने, जिनके व्याख्यानों से लोग दहल जाते थे, यहाँ तक कहा था कि "ईसा के सिवा और कोई इस देश का उद्धार नहीं कर सकेगा।"

ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाज

इस प्रकार 'ब्राह्म-समाज' की स्थापना हुई। ब्राह्म-समाज के साथ-साथ सामुदायिक प्रार्थना आयी। सामुदायिक प्रार्थना में कोई मूर्ति नहीं रहती थी, न कोई देवता। वहाँ पुरानों के लिए कोई स्थान नहीं था। ये लोग इन प्रार्थनाओं और मंत्रों के लिए उपनिषदों और वेदों का आधार लिया करते थे।

पंजाब में इसी समय एक 'देव समाज' स्थापित हुआ, लेकिन वह इस देश में पनपा नहीं।

ब्राह्म-समाज की तरह का ही उधर बम्बई में, जिसमें सिंध से लेकर कर्नाटक तक शामिल था, वहाँ के पारसी, गुजराती, मराठी और सिंधी नेताओं ने मिलकर १८६७ में 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना की। इसमें रानडे, चंदावरकर और आगरकर प्रमुख थे। इसे हम राजा राममोहन राय के 'ब्राह्म-समाज' का ही एक संस्करण कह सकते हैं। सिद्धांत वे ही थे, पूजा-पद्धति, उपासना-पद्धति, प्रार्थना-पद्धति भी वही थी। इन लोगों न जो मुख्य काम किया, वह यह कि इन्होंने लोगों को ईसाई बनने से बचाया, आधुनिकता का स्वीकार किया और भारतवर्ष में स्वाभिमानशून्यता की जो एक लहर आयी थी, उसे एक अंश में कम किया और पुनरुज्जीवन की ओर उसे मोड़ा।

अंग्रेजों का अंधानुकरण

इन सबमें अनुकरण का अंश अधिक था। 'अनुकरण करो, धार्मिक-सांस्कृतिक अनुकरण करो, तब यहाँ अर्वाचीनता और आधुनिकता आयेगी।' इस अनुकरण का हमारी राजनीति पर और राजनैतिक आन्दोलनों पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। सभी जानते हैं कि 'एलन ओक्टेवियन ह्यूम' कांग्रेस का जनक कहलाता है। यह अंग्रेज 'सिविल सर्विस' में था। कांग्रेस के पहले अध्यक्ष व्यामेशचन्द्र बनर्जी का उनके जीवनी-लेखक ने जो वर्णन किया है, उसमें कहा है कि "एक-एक इंच वह अंग्रेज बन गये थे, यानी सिगार भी जब

सुलगाते थे, तो अंग्रेजों की तरह। भाषणों में हाथ का अभिनय करते थे, तो वह भी अंग्रेजों की तरह।" इस तरह वह अंग्रेजी चाल-ढाल और तौर-तरीके का अनुकरण करने में सफल हो गये थे।

इस तरह चाहे हमारा शिक्षण का क्षेत्र हो, चाहे राजनीति का, सभी क्षेत्रों में अनुकरण का दौर आया। जब यह दौर वहुत वढ़ने लगा, तव एक दूसरी तरह की प्रवृत्ति हमारे देश में शुरू हुई।

सैयद अहमद खाँ

शिक्षण के क्षेत्र मे सैयद अहमद खाँ आगे आये। इन्हें भारतवर्ष के 'आधुनिक मुसलिम जीवन का जनक' कहा जाता है। ये अलीगढ़ के मुसलिम विश्वविद्यालय के संस्थापक और मुसलिम शिक्षण-परिषद् के संयोजक थे। इन्होंने २८ दिसंवर १८८६ तथा १६ मार्च १८८८ को दो महत्त्वपूर्ण भाषण किये। इन्होंने दो साल तक इसलिए काफी आन्दोलन किया कि मुसलमानों में अंग्रेजी शिक्षण शुरू हो। उनका कहना था कि अंग्रेजी शिक्षण लेकर हिन्दू तो आगे वढ़ने लगे हैं, मुसलमान पिछड़ गये हैं। इसलिए मुसलमानों को हिन्दुओं की कतार में लाने के लिए मुसलमानों में अंग्रजी शिक्षण का आरम्भ हुआ। हमारे देश में लौकिक स्तर पर अन्तर्प्रान्तीय जीवन का आरम्भ अंग्रेजी भाषा से हुआ। अंग्रेजों के आने से पहले भारतवर्ष का नागरिक नाम का कोई प्राणी दुनिया में नहीं था। सर विलियम हंटर ने यह शब्द पहले प्रयुक्त किया। ली वार्नर ने 'हिन्दुस्तान का नागरिक' नाम की पुस्तक सवसे पहले लिखी। समूचे भारतवर्ष का भी एक नागरिक हो सकता है, इसका संकेत पहले उन्होंने किया। लेकिन अखिल भारत का नागरिक भारत की किस भाषा में हो, यह सवाल था। संस्कृत तो सामान्य नागरिक की भाषा थी नहीं।

पहला अखिल भारतीय आन्दोलन

धर्म के प्रश्नों को लेकर, तीर्थक्षेत्रों की समस्याओं को लेकर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत जैसे सिद्धान्तों को लेकर तो इस देश में पहले अखिल भारतीय यात्राएँ हुई थीं, लेकिन किसी लौकिक प्रश्न को लेकर, अखिल भारतीय यात्रा सबसे पहले १८७१ में हुई और वह सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने की। समस्या थी कि

सिविल सर्विस में आज जहाँ वीस साल का ही तरुण लिया जाता है, वहाँ उसकी उम्र बढ़ाकर तेईस साल कर दी जाय, क्योंकि हमारे यहाँ लड़के कुछ देर से पास होते हैं। यह अखिल भारतीय समस्या थी और इसे लेकर उनका सवसे पहला अखिल भारतीय दौरा हुआ, जिसमें उन्होंने अंग्रेजी भाषा का ही माध्यम रखा था। यहाँ से अन्तर्प्रान्तीय स्तर पर हमारी राष्ट्रीय जाग्रति का आरम्भ होता है। इससे पहले अन्तर्प्रान्तीय स्तर पर अखिल भारत में लोगों को जाग्रत करने का प्रयास और किसीने नहीं किया था।

राममोहन राय ने अपने समाज में जो काम किया, वही काम मुसलिम समाज में करने के लिए सैयद अहमद खाँ ने अलीगढ़ में कॉलेज की स्थापना की। वही आगे चलकर मुसलिम युनिवर्सिटी हुई।

कांग्रेस की स्थापना

१८५७ से लेकर १८९० तक देश में वहुत-सी संस्थाएँ कायम हुईं और अखिल भारतीय आन्दोलन के प्रयास हुए। इसी वक्त वासुदेव बळवंत फडके और दूसरे लोगों ने सशस्त्र क्रांति के भी प्रयास किये। इस बीच यहाँ के पढ़े-लिखे लोगों को यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि राजनैतिक आन्दोलन में भी आधुनिकता का प्रवेश होना चाहिए। हमें यहाँ पर अंग्रेजों के नमूने का स्वराज्य चाहिए। इंग्लैंड में, फ्रांस की राज्य-क्रांति के बाद फ्रांस में और अमेरिका में जिस प्रकार का स्वराज्य आया और जिस प्रकार के स्वराज्य का प्रयास इटली में मैजिनी ने किया, वैसा ही स्वराज्य हमें भी चाहिए। उन दिनों यहाँ पर 'मैजिनी' का साहित्य बहुत पढ़ा जाता था और इंग्लिश साहित्यिकों का हमारे विचारों पर जैसा प्रभाव पड़ा, वैसा ही मैजिनी का भी हम पर बहुत प्रभाव पड़ा। इन देशों के इतिहास से यहाँ पर एक आकांक्षा पैदा हुई कि ऐसा ही स्वराज्य हमारे देश में भी स्थापित हो। इसी उद्देश्य से १८८५ में लोगों ने 'कांग्रेस' की स्थापना की।

सशस्त्र क्रांति की चेष्टा में, वासुदेव बळवंत फडके की चेष्टा को यदि छोड़ दिया जाय तो, जनता का राज्य स्थापित करने की चेष्टा किसीने की ही नहीं थी। पिछले सभी आन्दोलन धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के

आन्दोलन थे। उनमें आधुनिकता का प्रवेश सबसे पहले राजा राममोहन राय ने कराया।

राष्ट्रीय अहंतावाद

इसके बाद लोगों को कुछ ऐसा महसूस होने लगा कि हमारे इस देश में जो कुछ है, वैसा दुनिया में और कहीं नहीं है। भगवान् ने भारतवर्ष को ही अपनी सबसे पवित्र भूमि माना है। **'दुर्लभं भारते जन्म। मानुष्यं तत्र दुर्लभम्॥'** अर्थात् 'भारतवर्ष में तो जन्म पाना ही दुर्लभ है और फिर यहाँ मनुष्य बनकर आना तो और भी दुर्लभ है!' इस प्रकार की राष्ट्रीय दुरभिमान की एक भावना इस देश में फैल रही थी। तब राजा राममोहन राय आये। उनके आने के बाद अंग्रेजों के अनुकरण की एक लहर दौड़ गयी—'अंग्रेजों की तरह खाओ, अंग्रेजों की तरह पियो, अंग्रेजों की तरह रहो, अंग्रेजों की तरह नाचो।'

आर्य-समाज की स्थापना

इसका प्रतिकार करने के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने १८७६ में 'आर्य-समाज' की स्थापना बंबई में की। अब घड़ी का लोलक ही बिलकुल दूसरी तरफ चला गया। कहने लगे कि ऐसी कोई चीज ही नहीं है, जो भारतवर्ष में नहीं है। विज्ञान भी हमारे यहाँ था और आज भी है। तुम्हारे यहाँ पश्चिम में है ही क्या, जो भारतवर्ष में नहीं था? हमारे यहाँ सब कुछ है और जर्मनी, इंग्लैंड और फ्रांस आदि ने जो कुछ उन्नति की है, उसका कारण तो हमारे वेद और पुराण हैं। उन्हींमें से बातें सीख-सीखकर उन्होंने यह प्रगति की है। अर्थात् फिर से 'राष्ट्रीय अहंतावाद' की एक लहर पैदा हुई। विज्ञान यहाँ था, संस्कृति यहीं से दुनियाभर में गयी, साहित्य यहीं सबसे पहले पैदा हुआ और मनुष्य ने भारतवर्ष में ही सबसे पहले बोलना शुरू किया। इस तरह से राष्ट्रीय स्वाभिमान जाग्रत करने के लिए १८७६ में एक दूसरा आन्दोलन शुरू हो गया और उसकी प्रधान भाषा हिन्दी हुई, संस्कृत नहीं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने 'आर्य-समाज' की मुख्य भाषा हिन्दी मानी।

थियासाफिकल सोसाइटी

अब एक ऐसे आन्दोलन की आवश्यकता इस देश में फिर से हुई, जो हमारे स्वाभिमान को जाग्रत रखते हुए आधुनिकता का इस देश में विकास कर सके। तो स्वामी दयानन्द सरस्वती ने १८७९ में अमेरिका से थियासाफिकल सोसाइटी को इस देश में बुलाया। थियासाफिकल सोसाइटी की स्थापना १७ नवम्बर १८७५ के दिन न्यूयॉर्क (अमेरिका) में हुई। १८७९ की १६ फरवरी को स्वामी दयानन्द के निमंत्रण पर थियासाफिकल सोसाइटी भारत में आयी। बाद में तो फिर उसका और आर्य-समाज का बहुत झगड़ा हुआ। लेकिन उसे इस देश में बुलाने का श्रेय स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। उसने यह बतलाया कि धर्म की दृष्टि से भारतवर्ष सारी दुनिया का गुरु है। सारे धर्मों के जो अच्छे तत्त्व हैं, उनका संग्रह हो सकता है, अध्ययन हो सकता है और धर्म के सारे अच्छे तत्त्वों का संग्रह और अध्ययन करके मनुष्य अपने को अच्छा आध्यात्मिक पुरुष बना सकता है। थियासाफिकल सोसाइटी ने यह सिखाने के साथ-साथ थोड़ा-बहुत राष्ट्रीय स्वाभिमान भी जाग्रत किया कि हिन्दू लोगों की पद्धति में कोई बुराई नहीं है। सनातन हिन्दू-धर्म की पुस्तकें थियासाफिकल कॉलेजों में चलायीं। मैं बचपन में कभी-कभी उन पुस्तकों में पढ़ता था कि रेशम का वस्त्र पहनकर भोजन करने से बिजली पैदा होती है, इसलिए पाचन-क्रिया में मदद पहुँचती है। इस प्रकार कुछ वैज्ञानिकता लाने की कोशिश की गयी और यहाँ की बहुत-सी बातों का समर्थन करने की कोशिश हुई। लेकिन उसमें मुख्य जो बात थी, वह यह कि आधुनिक संस्कृति और पौराणिक संस्कृति में जो विरोध था, उस विरोध को कम करने के लिए पहले यह भूमिका उन लोगों ने बाँधी कि इस देश में जितने धर्म हैं, उन सारे धर्मों का अध्ययन हो सकता है और उनका इस देश में सह-अवस्थान भी हो सकता है। समन्वय तक तो वह नहीं आये, लेकिन सारे धर्म साथ-साथ यहाँ रह सकते हैं, और सबका साथ-साथ अध्ययन भी हो सकता है—थियासाफिकल सोसाइटी हमारे विचारों को यहाँ तक ले आयी।

रामकृष्णदेव परमहंस

इसी दरमियान १७ फरवरी १८३६ को गदाधर चट्टोपाध्याय का जन्म हुआ और वे आगे चलकर रामकृष्ण परमहंस देव के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने दो वातें इस देश को दीं। एक तो काली की उपासना और दूसरी, सब धर्मों का सामंजस्य।

काली की उपासना को लोगों ने आगे चलकर मातृभूमि की उपासना में वदल दिया।

त्वमेव दुर्गा दशप्रहरणधारिणी।

यह कोई रामकृष्ण परमहंस की काली नहीं थी, वह तो हमारी काली थी, जो अंग्रेजों को मारने के लिए दौड़ी थी। काली की उपासना को हमने मातृभूमि की उपासना में परिणत कर दिया। बंगाल के कई सशस्त्र क्रान्तिकारी अपने-आपको काली माता के पुत्र कहलाते थे। उनके एक हाथ में रहता था बम और दूसरे हाथ में भगवद्गीता। उस समय जिन अंग्रेजों ने पुस्तकें लिखीं, उन्होंने बहुत घबड़ाकर लिखा है कि 'भगवद्गीता बहुत भयंकर पुस्तक है। इसने सिखाया है कि दूसरों को मारने से पाप नहीं लगता। अर्जुन को भगवान् ने यह सिखाया है कि अनासक्तिपूर्वक खून किया जा सकता है।' उस समय नेविन्सन, चिरोल आदि जितने भी लेखक हुए, उन सबने इस वात पर जोर दिया कि यह जो काली की उपासना है, मातृपूजा है, इसमें से सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा पैदा हुई है और रामकृष्ण परमहंस देव उसके कारण हैं। लेकिन यह आक्षेप निराधार है।

रामकृष्ण परमहंस देव ने इस देश में सांस्कृतिक और धार्मिक सामंजस्य का सबसे वड़ा कदम उठाया। उन्होंने अपने जीवन में सभी धर्मों के कर्मकाण्ड का भी अनुष्ठान किया, केवल सिद्धान्तों का ही नहीं। सारे धर्मों के कर्मकाण्ड का प्रत्यक्ष आचरण करने के वाद उन्होंने यह सिद्ध किया कि सारे धर्म भगवान् की ओर ही ले जानेवाले हैं। यह सबसे वड़ी वात रामकृष्ण परमहंस ने की। इस विभूति ने अपने जीवन में सारे धर्मों की सत्यता सिद्ध कर दी।

स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण परमहंस देव के साथ स्वामी विवेकानन्द भी आये, जिन्हें रोमाँ रोलाँ ने 'हिन्दू-धर्म का नेपोलियन' कहा। इन्होंने एक तरह से हिन्दू-धर्म की दिग्विजय करायी और इस देश में चारों ओर स्वाभिमान की एक लहर पैदा की। विवेकानंद ने १८९७ में 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। रामकृष्ण परमहंस देव ने सामंजस्य का जो कार्य किया, उसका परिणाम सारे क्षेत्रों में हुआ। ब्राह्म-समाज में देवेन्द्रनाथ ठाकुर के बाद पुनरुज्जीवन की प्रवृत्ति में अन्तर पड़ता गया, राष्ट्रीयता का विकास होता गया और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्यों में और उस जमाने के साहित्य में एक नये भारतवर्ष का दर्शन लोगों को होने लगा।

राजनीतिक आन्दोलनों का जन्म

इस तरफ तो ये प्रवृत्तियाँ चलीं और उधर राजनीति में लोगों ने यह देखा कि धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन में आधुनिकता के स्वागत की जो लहर दौड़ी थी, उसके कारण अंग्रेजी राज्य के खिलाफ कोई प्रखर आन्दोलन नहीं चल रहा था। लोग इसका कारण खोजने लगे। इस बीच महाराष्ट्र में बाळ गंगाधर तिलक पैदा हुए और उधर बंगाल में विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष और ब्रह्मबान्धव उपाध्याय जैसे लोग पैदा हुए। उस समय इस देश में कोई भी राजनीतिक काम धर्म के नाम पर ही किया जा सकता था। अंग्रेज सरकार को धार्मिक कृत्यों पर कोई आपत्ति नहीं थी। गणेशोत्सव हो, सत्य-नारायण की पूजा हो, उसके लिए धार्मिक स्वातंत्र्य था। लोकमान्य तिलक ने १८९३ और १८९४ में गणेश-उत्सव जैसा धार्मिक और शिवाजी-उत्सव जैसा ऐतिहासिक उत्सव शुरू कर दिया। लेकिन इसी बीच हिंदू और मुसलमानों के दंगे हुए। लोगों ने कहा कि तिलक के उत्सवों के कारण ये उपद्रव हुए।

उस समय एक बात और थी और वह यह कि अंग्रेजों को कोसना होता, तो मुसलमान को सामने रखना होता था। याने यह कहना हो कि अंग्रेज बड़े दुष्ट और अत्याचारी राजा हैं, तो औरंगजेब को लेकर नाटक लिखा जाता था

और औरंगजेब के खिलाफ कविता लिखी जाती थी। पर असल में उसमें मुसलमानों के विरोध का उद्देश्य नहीं होता था। अंग्रेज समझते थे कि इसका इशारा हमारी तरफ है, लेकिन वे होशियार थे। मुसलमानों से कहते थे कि ये लोग तुम्हारे खिलाफ नाटक लिखते हैं, हमारे खिलाफ नहीं। इस प्रकार बहकाने से हिंदू-मुसलमानों के कुछ दंगे हो गये और यह कहा गया कि इसके लिए लोकमान्य तिलक जिम्मेवार हैं।

नवराष्ट्रवाद

लोकमान्य तिलक और बंगाल के नवराष्ट्रवादियों ने एक बात पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि राजा राममोहन राय की परंपरा के ये जो पुराने लोग हैं, "ये लोग उत्कट देशभक्त हैं, लेकिन इनकी राष्ट्रीयता ही अराष्ट्रीय है।" "क्यों?" इसलिए कि "हिन्दुस्तान यदि नकली इंग्लिस्तान बन जाता है, तो वह हमारे किसीके काम का नहीं है।" इसी उद्देश्य से अरविंद घोष ने उस वक्त 'इंडियन रेनेसाँ' नामक पुस्तक लिखी और ब्रह्मबांधव उपाध्याय, विपिनचंद्र पाल आदि ने अखबारों में और पुस्तकों में नवराष्ट्रवाद का प्रतिपादन शुरू कर दिया।

यह नवराष्ट्रवाद इस देश में तीन बातों को लेकर आया:

१. स्वदेशी,

२. राष्ट्रीय शिक्षण और

३. बहिष्कार।

स्वदेशी अंग्रेजों के खिलाफ थी। उस वक्त स्वदेशी का यह अर्थ नहीं था कि किसी विदेश का हम कोई माल न लें। स्वदेशी का इतना ही अर्थ था कि इंग्लैंड का माल न खरीदा जाय।

'स्वराज्य' शब्द की घोषणा

इन लोगों को सबसे बड़ा समर्थन दादाभाई नवरोजी का मिला। दादाभाई नवरोजी ने कांग्रेस के दो अधिवेशनों में दो बहुत बड़ी बातें कहीं। १८८६ में जो दूसरी कांग्रेस कलकत्ते में हुई, उसमें उन्होंने पहली बार यह कहा कि यह

कांग्रेस सामाजिक नहीं है, यह धार्मिक नहीं है, यह साम्प्रदायिक नहीं है, यह जातीय नहीं है, यह कांग्रेस अखिल भारतीय कांग्रेस है और इसका सम्वन्ध सिर्फ राजनैतिक समस्याओं से रहेगा। उन्हीं दादाभाई ने १९०६ में कलकत्ता-कांग्रेस में 'स्वराज्य' शब्द की घोषणा कर दी। इससे उस समय कुछ शोर हुआ और नवराष्ट्रवाद के लिए एक भूमिका वनी।

देश के प्रथम 'लोकमान्य'

नवराष्ट्रवादियों के प्रमुख नेता तो लोकमान्य तिलक हुए, जो इस देश के प्रथम 'लोकमान्य' इसलिए हुए कि वे जनता के सर्वप्रथम नेता थे। उस समय सशस्त्र क्रान्ति लोकव्यापी नहीं हो सकती थी और वैधानिक आन्दोलन लोक-सुलभ और लोक-संगठन की प्रतिकारात्मक प्रणाली का नहीं हो सकता था। तिलक ने ऐसे लोक-सुलभ और लोक-संगठनात्मक प्रतिकार के मार्ग का आविष्कार किया। उन्होंने वहिष्कार, 'बायकॉट', के रूप में निःशस्त्र प्रतिकार की ओर एक कदम, और शायद पहला कदम, बढ़ाया। उन्होंने कहा कि हम समय आने पर टैक्स (कर) नहीं देंगे और मौका आया, तो कानून को भी नहीं मानेंगे। विपिन पाल ने कहा कि हम अंग्रेजों की नौकरी करने से भी इनकार कर देंगे और उनकी मेमों को घर में खुद काम करना पड़ेगा। इस तरह वहिष्कार की इस प्रक्रिया की व्याप्ति सामाजिक वहिष्कार तक हो गयी। तिलक, विपिन पाल आदि ने जनता को निःशस्त्र प्रतिकार की शिक्षा दी। व्यापक जन-संपर्क का भी आरम्भ हुआ। वारिसाल के अश्विनीकुमार दत्त ने १८८७ में किसी एक प्रश्न को लेकर ५००० किसानों के हस्ताक्षर एकत्र किये थे। परन्तु जनता में प्रत्यक्ष निःशस्त्र प्रतिकार की क्षमता पैदा करने की चेष्टा नवराष्ट्रवादियों ने ही की। इसके तीन द्रष्टा बंगाल में हुए—विपिन पाल, अरविंद घोष और ब्रह्मबान्धव उपाध्याय। वेलेन्टाइन चिरोल ने लिखा था कि भारत में असन्तोष का यदि कोई जनक है, तो वह चित्पावन ब्राह्मण बाळ गंगाधर तिलक है। 'लोकमान्य' की लोकमान्यता का आधार है, उनका निःशस्त्र पराक्रम। उनके व्यक्तित्व और जीवन ने जनता को निःशस्त्र प्रतिकार की दीक्षा दी।

स्वदेशी और बहिष्कार

प्रत्यक्ष राष्ट्रीय आंदोलन का आरम्भ वंग-विच्छेद के बाद हुआ। उस समय राष्ट्रवादियों ने भी और सरकार ने भी, मुसलमानों को अपने में शामिल करने की चेष्टा की। इस समय की सबसे बड़ी घटना 'स्वदेशी और बहिष्कार' आन्दोलन थी। परन्तु लोगों के मन में भावना यह थी कि हमारे पास न तो कोई शस्त्र-शक्ति है, और न अन्य ही कोई शक्ति है, इसलिए ये सारे आन्दोलन करने पड़ते हैं।

'कामागाटामारू' प्रकरण

१९०८ में तिलक जेल चले गये और इधर देश के विभिन्न भागों में शस्त्र-प्रयोग में विश्वास करनेवालों का दौर-दौरा बढ़ा। उनमें कई आतंकवादी थे। कई प्रतिभाशाली वीर और महाप्रतापी नेता थे—सावरकर, अरविंद, श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला हरदयाल और राजा महेन्द्र प्रताप आदि। इन लोगों की कोशिश लगातार १९१४ तक चलती रही। विश्वयुद्ध छिड़ जाने पर १९१५ में इसका परिपाक होनेवाला था। सशस्त्र बगावत की तारीख मुकर्रर कर दी। फलाँ दिन अंग्रेजों के राज्य को उखाड़कर फेंक देंगे, ऐसा सशस्त्र क्रांतिकारियों ने तय किया था, लेकिन सरकार को पता चल गया था। लाला हरदयाल और गुरुदित सिंह आदि के प्रयत्नों से बहुत से क्रान्तिकारी अमेरिका से एक चीनी या जापानी जहाज में बैठकर आये थे और ये लोग यहाँ पर बलवा करना चाहते थे। यह 'कामागाटामारू' से प्रसिद्ध बहुत महत्त्वपूर्ण सशस्त्र प्रयत्न हुआ। पर इसका स्फोट समय पर नहीं हो सका।

होमरूल आन्दोलन

इस बीच १९१४ में लोकमान्य तिलक जेल से छूटकर आये। उसके बाद शीघ्र ही अफ्रिका से गांधी आ गये। ये दोनों मिलकर कांग्रेस में भी आने-जाने लगे। कांग्रेस में यह आकांक्षा पैदा हुई कि अब तक की कांग्रेस-नीति में परिवर्तन किया जाय। इस बीच डॉक्टर एनी बेसेन्ट का 'होमरूल' आन्दोलन शुरू हो गया। इस समय मुहम्मद अली जिना और कांग्रेस के लोगों ने यह कोशिश की

कि हिन्दू-मुसलमानों की एकता हो और इन दोनों की ओर से संयुक्त माँग की जाय। मुसलिम लीग की स्थापना तो हो चुकी थी, पर हिन्दूसभा की स्थापना तब तक नहीं हुई थी। लोकमान्य तिलक ने अंग्रेजों से कहा कि "तुम मुसलमानों को ही राज्य देकर चले जाओ, लेकिन यहाँ से चले तो जाओ।" हिन्दू-मुसलमानों की एकता की योजना १९१६ की लखनऊ की कांग्रेस में आयी। वहाँ वह स्वीकृत भी हुई। तब से इस देश की राजनीति में गांधी का प्रवेश हुआ।

गांधी द्वारा राजनीति में धर्म का प्रवेश

गांधी एक अनोखा व्यक्ति था। इसकी सारी बातें अनोखी थीं। यहाँ की राजनीति में आते ही यह कुछ विचित्र बातें करने लगा, तो लोगों ने कहा कि "यह तो धर्म की बात राजनीति में लाता है। ऐसा आदमी किस काम का ?" उसने इस देश में आकर हिन्दू-मुसलिम एकता को **'सर्वधर्म समभाव'** के अधिष्ठान पर खड़ा करने की कोशिश की। याने आध्यात्मिक क्षेत्र में रामकृष्ण परमहंस देव ने जो प्रयास अपने जीवन में किया था, वह प्रयास राजनैतिक क्षेत्र में और इस देश के स्वराज्य के आन्दोलन के क्षेत्र में, गांधी ने करने की कोशिश की—**सांस्कृतिक समन्वय और धर्मसमन्वय, अर्थात् सारे सम्प्रदायों, धर्मों और सारी संस्कृतियों का समन्वय !** सांस्कृतिक समन्वय का वाहन बनी हिन्दी भाषा और सर्व-धर्म-समन्वय का प्रतीक बनी हिन्दू-मुसलमानों की एकता। उस वक्त गांधी ने इस देश के सभी सम्प्रदायों का समन्वय करने और उनमें सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की। एक ओर से यह चेष्टा की और दूसरी ओर से राष्ट्रीय शिक्षण को बुनियादी तालीम का शास्त्रशुद्ध स्वरूप देने की चेष्टा की, जो बाद में **'नयी तालीम'** के रूप में विकसित हुई। स्वदेशी को खादी और ग्रामोद्योगों का शास्त्रशुद्ध और ग्रामीकरण की ओर ले जानेवाला स्वरूप दिया।

सत्याग्रह और असहयोग

गांधी का सबसे बड़ा काम यह हुआ कि निःशस्त्र प्रतिकार की प्रगति और परिणति सत्याग्रह के अस्त्र में हुई, जो एक जागतिक अस्त्र हो सकता था। गांधी ने इस प्रकार की दीक्षा यहाँ के लोगों को दी और नये-नये उपक्रम किये।

वंगाल में स्वदेशी आन्दोलन के समय उपवास का प्रवेश तो राष्ट्रीय जीवन में हो गया था, लेकिन उपवास को एक प्रतिकार का अस्त्र गांधी ने वना दिया। स्थान-स्थान पर भूख-हड़तालें होने लगीं। यहाँ तक कि सामान्य झगड़ों पर कांग्रेसकर्मियों के दफ्तरों में भूख-हड़तालें होने लगीं। हड़ताल अभी तक दूसरे देशों में केवल मजदूरों का अस्त्र था, पर यहाँ आगे चलकर असहयोग में इसका विकास हुआ। लड़कों से कहा, "स्कूल छोड़ दो", वकीलों से कहा, "अदालतें छोड़ दो।" विपिन पाल की परिभाषा में यह सव 'वैराग्य' था और 'वैराग्य' की उसने शास्त्रीय व्याख्या की है। वह कहता है कि "वैराग्य का अर्थ है—अनात्मा से जो सुख मिलता है, वह छोड़ो। इसलिए अंग्रेज सरकार से जितना सुख मिलता है, वह हमारा राष्ट्र जव छोड़ेगा, तव उसमें शक्ति आयेगी।"

वहुमत नहीं, सर्वमत की माँग

गांधी ने सोचा कि इस देश में जव तक लोकशक्ति जाग्रत नहीं होगी, और केवल वहुमत नहीं, सर्वमत की ओर लोग जव तक नहीं जायँगे, तव तक इस विचार का और इस देश के राष्ट्रीय आंदोलन का पूरा विकास नहीं होगा।

ऐसा नहीं है कि मैं विनोवा की वातें सुनकर सर्वोदय की लोकनीति में 'वहुमत' और 'सर्वमत' की वात गांधी के लिए लागू कर रहा हूँ। वात यह है कि जव लोकमान्य तिलक नहीं रहे, तव गांधी ने पहला मृत्युलेख लिखा कि "वहुमत के राज्य में लोकमान्य की जो निष्ठा थी, उसे देखकर कभी-कभी मैं काफी डर जाता था।" लोकमान्य ने वहुमत के राज्य का प्रतिपादन इसीलिए किया कि पार्लमेंट की नीति इससे आगे नहीं गयी थी। लेकिन गांधी के सारे विचार उनके अपने विचार थे। इसलिए वहुसंख्या का राज्य वे नहीं चाहते थे। गांधी यह चाहते थे कि राज्य की व्यवस्था ऐसी हो, जिससे सर्व-सम्मति आ सके, सारे-के-सारे धर्म उसमें आयें, अल्पसंख्यक लोग भी उसमें आयें, हरिजनों का, अस्पृश्यों का समावेश भी उसमें हो सके। अस्पृश्यता-निवारण को भी उन्होंने अपनी राजनीति का ही एक अंग वना लिया।

आर्थिक क्रान्ति : भूदान-यज्ञ

इस प्रकार धार्मिक पुनरुज्जीवन, समाज-सुधार और राजनैतिक आन्दोलन, तीनों का त्रिवेणी-संगम गांधी की विभूति में और गांधी के आन्दोलनों में हुआ। इस मुकाम पर हम लोगों को वे छोड़ गये। उसके वाद इस देश में भूदान-यज्ञ का आन्दोलन शुरू हुआ, जिसे हम आज विनोवा के व्यक्तित्व के रूप में देखते हैं। इसमें आध्यात्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक सभी सिद्धान्तों को विनोवा आर्थिक क्रान्ति के लिए लागू कर रहे हैं। गांधी ने जिन सिद्धान्तों को राजनैतिक क्षेत्र में लागू करने की चेष्टा की, जिनके लिए स्वदेशी और ग्रामोद्योगों का प्रतिपादन किया और अस्पृश्यता-निवारण जैसे मूल्यों के लिए हमें झाड़ू जैसे प्रतीक दिये, उन सारे मूल्यों को एक बुनियाद देने के लिए और उन्हें आर्थिक क्रान्ति के साथ जोड़ने के लिए विनोबा ने एक नये आन्दोलन का उपक्रम इस देश में किया, जिसे हम **'भूदान-यज्ञ-आन्दोलन'** कहते हैं।

संस्कृतियों का एकीकरण

विनोबा कहते हैं कि उपासना-मन्दिर सवके लिए हों। ऐसा न हो कि हिन्दूमात्र के लिए हिन्दूमात्र का उपासना-मन्दिर है और मुसलमान मात्र के लिए मुसलमानों का। भगवान् सवके हैं, तो जितने उपासना-मन्दिर हैं, वे सवके हों। तीर्थ-क्षेत्र भी जितने हैं, वे सबके हों। याने सर्वधर्म-समन्वय, या सामंजस्य से भी हम अव ऊपर जाकर मानवमात्र के सारे धर्मों और संस्कृतियों के एकीकरण की ओर कदम वढ़ा रहे हैं। आज आर्थिक क्रान्ति की समस्या के समाधान के लिए जो प्रक्रिया हम अपना रहे हैं, उस प्रक्रिया से ही उन्होंने इसका आरम्भ कर दिया है।

इस प्रकार हमने देखा कि हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का पहला पहलू था—आधुनिक संस्कृति के स्वागत और सत्कारसहित राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन। राजा राममोहन राय इसके प्रतीक थे। इस समय ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। उसके बाद एक तरह से राष्ट्रीय स्वाभिमान का युग आया। इस युग में वहुत लोग आये, लेकिन उसके प्रमुख प्रतीक के रूप में स्वामी दयानन्द सरस्वती का, आर्य-समाज का, हम उल्लेख कर सकते हैं। लेकिन

इस विरोध में से घड़ी का लोलक जब दूसरी ओर अर्थात् राष्ट्रीय अहंता की ओर बहुत झुक गया, तो फिर सामंजस्य और विवेक के लिए किसी मध्यस्थ आन्दोलन की जरूरत हुई। यह थियासाफिकल सोसाइटी के रूप में आया। लेकिन 'थियासाफिकल' शब्द ही ऐसा था, जिसे पढ़े-लिखे लोगों के सिवा कोई समझ नहीं सकता था। तब एक परम साधक ने, परमहंस रामकृष्ण देव ने, अपने जीवन में भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुष्ठान से उनकी एकता सिद्ध की। उन्होंने यह जो एकता अपने जीवन में सिद्ध की, उसे राष्ट्रीय जीवन में सिद्ध करने का प्रयास गांधी ने किया, और उसके आधार पर साम्प्रदायिक एकता की, सर्वधर्म-समन्वय की, नींव इस देश में डाली। आज उन्हीं सिद्धान्तों को आर्थिक क्षेत्र में लागू करके विनोबा साम्प्रदायिक और धार्मिक सामंजस्य की बुनियाद डाल रहे हैं। उनका कहना है कि आर्थिक क्षेत्र में भी वे ही आध्यात्मिक सिद्धान्त लागू किये जाने चाहिए, जिन सिद्धान्तों को गांधीजी ने हमारे देश में पहली बार राजनैतिक क्षेत्र में लागू किया, क्योंकि उस समय की समस्या ही राजनैतिक समस्या थी। गांधी ने आर्थिक क्षेत्र में उपक्रम किया, लेकिन आर्थिक क्षेत्र में क्रान्ति के लिए उन्हें समय नहीं मिला। अपने जमाने की समस्या उन्होंने हल की और उनका अवतार-कार्य समाप्त हो गया। इसलिए वहाँ से यह धागा यहाँ आया।

निःशस्त्र प्रतिकार की दीक्षा

उधर राजनैतिक क्षेत्र में एक आन्दोलन चल रहा था, जिसे 'संविधानात्मक आन्दोलन' कहते हैं, दूसरा 'सशस्त्र आन्दोलन' चल रहा था। जनता इनमें किसी प्रकार सीधा सहयोग नहीं दे सकती थी। जनता का पुरुषार्थ जाग्रत नहीं हो सकता था। इसलिए लोकमान्य तिलक ने, उनके साथियों ने, श्री अरविंद, विपिनचंद्र पाल और लाला लाजपतराय ने, मिलकर स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षण और बहिष्कार के रूप में जनता को निःशस्त्र प्रतिकार की दीक्षा दी और गांधी ने उसे असहयोग, कानून भंग और सत्याग्रह के रूप में शुद्ध वैज्ञानिक स्वरूप दिया। सत्याग्रह सहयोगात्मक प्रतिकार है। इसलिए वह वैज्ञानिक और नैतिक दोनों है। इससे आगे सहयोगात्मक प्रतिकार का

विकास करने के लिए हम आर्थिक क्षेत्र में क्रान्ति में सहयोग की प्रक्रिया से कहाँ तक काम ले सकते हैं, यह आकांक्षा हमारे देश में पैदा हुई और वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया में सहयोगात्मक क्रान्ति कैसे हो सकती है, इसकी कोशिश शुरू हो गयी। जवाहरलालजी ने इसे 'सम्पत्तिमानों के सहयोग से क्रान्ति' कहा। ऐसी क्रान्ति दुनिया में कभी सुनी नहीं गयी थी।

राजनीति और अर्थनीति में अहिंसा

इस तरह इस देश में दो प्रकार के प्रयास हुए। एक तो सांस्कृतिक पुनर्जीवन और समन्वय के और दूसरे राजनैतिक और आर्थिक क्रांति के। इनमें सामंजस्य लाकर नैतिक मूल्यों का राजनैतिक क्षेत्र में गोखले ने प्रयोग किया था। उनके लिए कहा गया है कि 'ये राजनीति में पहले सज्जन व्यक्ति हैं।' क्यों? इसीलिए कि 'ये राजनीति में आध्यात्मिकता लाना चाहते हैं।' गांधीजी ने इस प्रयत्न को आगे बढ़ाया और सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन में अहिंसा का प्रवेश कराया। अब अध्यात्म को विज्ञान के साथ जोड़ने का प्रयत्न आज विनोबा का चल रहा है।*

◆◆◆

* विचार-शिविर में २७-८-'५५ का प्रवचन।

भू-दान-यज्ञ नख-दर्पण में : १६ :

भूमि-दान किसलिए है ?

भूमि-दान के तीन कारण हैं :

१. कृषि-प्रधान देश में समाज-परिवर्तन का आरम्भ जमीन की व्यवस्था के परिवर्तन से होता है।

२. आज जमाने का जैसा रुख है, उससे यह साफ है कि दुनियाभर में आगे की अर्थ-रचना अन्न-प्रधान और कृषि-प्रधान होनेवाली है।

३. जमीन केवल अन्न-उत्पादन का साधन नहीं है, जमीन वसुंधरा भी है। सारी खदानें जमीन में हैं, कच्चा माल और इंधन आदि चीजें भी जमीन से ही मिलती हैं।

इसलिए क्रान्ति का आरम्भ जमीन से होगा। पहली वात, देश कृषि-प्रधान है। दूसरी वात, जमाने का रुख कृषि-प्रधान अर्थ-रचना की ओर है। तीसरी वात, भूमि वसुंधरा है। इसलिए हमने भूमि से आरम्भ किया।

क्या हम एक से मालकियत लेकर दूसरे को मालकियत देना चाहते हैं ?

विलकुल नहीं। हम मालकियत की वुनियादों को और उत्पादक की भूमिका को वदल देना चाहते हैं।

इसके लिए पहला कदम यह है कि हम उत्पादन के साधन उत्पादक के कब्जे में दे देना चाहते हैं। जोतनेवाले के कब्जे में जमीन हो, गैर-जोतनेवाले के कब्जे में जमीन न हो। उत्पादक की मालकियत की स्थापना हो, अनुत्पादक की मालकियत का निराकरण हो। और अन्त में मालकियत का ही निराकरण हो। उत्पादन के साधन पर मालकियत किसीकी न रहे।

मालकियत की वुनियाद वदलने का अर्थ है—अनुत्पादक की मालकियत का निराकरण, उत्पादक की मालिकी की स्थापना। उत्पादक की भूमिका

बदलने का मतलब यह है कि उत्पादक भी अपने को उत्पादन के साधनों का मालिक नहीं मानेगा, उनका समाजीकरण होगा। आरम्भ होगा भूमिदान से और परिसमाप्ति होगी ग्रामदान और ग्रामीकरण से।

सम्पत्ति-दान किसलिए ?

सम्पत्तिदान है--संग्रह के निराकरण के लिए, जीविका के शुद्धीकरण के लिए और अनुत्पादक व्यवसायों के निराकरण के लिए।

१. संग्रह का विसर्जन,

२. जीविका का शुद्धीकरण और

३. अनुत्पादक व्यवसायों का निराकरण।

संपत्तिदान केवल इसलिए नहीं है कि एक करोड़ में से आपने हमें पचास लाख दे दिये और हमने पचास लाख रख लिये। इसका मतलब सम्पत्ति-दान नहीं है। सम्पत्ति-दान में आपका यह संकल्प है कि जो रोजगार मैं कर रहा हूँ, उस रोजगार का समाज से निराकरण चाहता हूँ। इस रोजगार में यदि मुझे गलत काम करने पड़ते हैं, तो उन्हें कम करता चला जाऊँगा। जीविका का शुद्धीकरण और संग्रह का विसर्जन उसका अर्थ है। 'विनोबा को छठा हिस्सा भी देता चला जाऊँगा और सम्पत्ति भी बढ़ाता चला जाऊँगा', यह नहीं होगा। संग्रह का विसर्जन और अनुत्पादक व्यवसायों का निराकरण करना होगा।

अनुत्पादक व्यवसाय कितने प्रकार के हैं ?

अ--(१) व्याज पर चलनेवाले,

(२) किराये पर चलनेवाले,

(३) ठेकेदारी-दलाली पर चलनेवाले,

आ--(१) मनुष्यों के गुनाहों पर चलनेवाले,

(२) मनुष्यों की बीमारियों पर चलनेवाले और

(३) मनुष्यों के व्यसनों पर चलनेवाले।

इन छह प्रकार के अनुत्पादक व्यवसायों का हम निराकरण करना चाहते हैं। यह सम्पत्तिदान है।

श्रम-दान किसलिए है ?

मैंने दो सिद्धान्त आपके सामने रखे हैं। जो लोग श्रम नहीं करते, वे लोग श्रम की प्रतिष्ठा की स्थापना के लिए श्रम-दान करें। जो लोग श्रम करते हैं, वे भी बाजार से श्रम को उठा लेने के लिए श्रमदान करें। श्रम विनिमय की वस्तु न रहे, श्रम विक्रय की वस्तु न रहे। इसलिए श्रमदान हो। जिनके पास संपत्ति नहीं है और भूमि नहीं है, वे भी दाता बनें। वे दीन न रहें। उनके पास भी देने के लिए है और सबसे बड़ी संपत्ति है, वह श्रम-संपत्ति है, जो उत्पादन का प्रधान साधन है। वह जिसके पास है, उसीका दान वह करे। इस तरह समाज में वे भी प्रतिष्ठित नागरिक हो जाते हैं।

भूमि-दान तलवार से क्यों नहीं ?

तलवार से होगा तो तलवार की ही सत्ता होगी।

भूदान कानून से क्यों नहीं ?

हमें लोगों को शांतिपरायण तो बनाना है, लेकिन मुकदमेबाज नहीं बनाना है। सत्ताभिमुख लोग नहीं होंगे। मुकदमेबाजी नहीं होनी चाहिए। दोनों दो बातें हैं। समाज में मुकदमेबाजी कम हो और शांति-परायणता नागरिकों में बढ़े। इसलिए हम जितने सुधार करना चाहते हैं, वे कानून के विरोध में नहीं हैं, लेकिन कानून-निरपेक्ष हैं। तलवार का विरोध है, कानून का विरोध नहीं।

प्रक्रिया कौनसी हो ?

क्रांति में भी, त्याग में भी, संपत्ति के विसर्जन में भी नागरिकों का पारस्परिक सहयोग, याने परस्पर समर्पण वांछनीय है। यह दान की प्रक्रिया कहलाती है। दान की प्रक्रिया एक दाता और दूसरा आदाता, यह हमारी भूमिका नहीं है। सभी दानी, सभी लेनेवाले। इसलिए दान किसी व्यक्ति को नहीं होता, दान विनोबा को होता है, जिसे हम समाज का प्रतिनिधि मान लेते हैं।

वितरण कैसे करें ?

वितरण कोई व्यक्ति नहीं करता। दान के दिन से भूमि भूमिहीनों की

हो जाती है। या तो वितरण भूमिहीनों के एकमत से हो या फिर चिट्ठी डाल-कर हो। वितरण एकमत से भूमिहीन करें। भूमिहीन एकमत से वितरण करते हैं, तो भगवान् उनके मुँह में बैठ जाता है। यदि वे ऐसा नहीं कर सकते, तो अव्यक्त भगवान् ही उनका वितरण करे और जनता के दरबार में ही करे—कोई पक्ष नहीं, कोई सरकार नहीं, विनोबा भी नहीं क्योंकि वह संपत्ति, वह मालकियत भगवान् की हो जाती है।

यह भूमि-वितरण की प्रक्रिया है।*

---

* विचार-शिविर में २७-८-'५१ का प्रवचन।

भू-वितरण और उसकी समस्याएँ : १७ :

भू-वितरण में आर्थिक कठिनाइयाँ हैं। नियम है कि जो कठिनाइयों का सामना करेगा, उसकी बुद्धि और शक्ति बढ़ेगी। भूदान-यज्ञ जहाँ एक समस्या का हल करता है, वहाँ कई नयी समस्याएँ खड़ी करता है। वह ऐसी समस्याएँ खड़ी करता है, जिन समस्याओं से दाता की ताकत बढ़ती है, आदाता की ताकत बढ़ती है, कार्यकर्ता की ताकत बढ़ती है और गाँव की ताकत बढ़ती है। समस्याएँ समाप्त हो जाने से हमारा जीवन समाप्त हो जायगा।

जोतनेवालों की मालकियत

मालकियत की भावना का जो प्रश्न है, वह मूलभूत प्रश्न है। उसमें एक बुनियादी बात यह है कि हम पहले मालकियत की बुनियाद को बदल देते हैं। भूमिदान-यज्ञ-आंदोलन में शुरू में हम पहला काम यह करते हैं कि आज जो मालकियत की बुनियाद है, उसे हम बदलते हैं। आज खरीदनेवालों की मालकियत हो जाती है, छीननेवालों की मालकियत हो जाती है। उसके बदले हम जोतनेवालों की मालकियत कायम करते हैं। यह पहला कदम है।

उत्पादन की भूमिका में क्रान्ति

भूदान उत्पादक की भूमिका ही बदल देता है। आज उत्पादक अपना परिश्रम बेचता है। हम यह चाहते हैं कि परिश्रम समाज में बेचने की चीज न रहे। हमारे कच्छ के एक मित्र ने कहा कि आज वे द्विधा में पड़ जाते हैं। एक तरफ मजदूर है, दूसरी तरफ किसान है। किसानी करता है, तो मजदूरी में जो ज्यादा पैसा मिलता है, वह चला जाता है। मजदूरी करता है, तो मजदूरी अपने हाथ की है नहीं। एक चीज अपने हाथ की नहीं है, जिससे ज्यादा दाम मिलते हैं। दूसरी चीज अपने हाथ की है, उससे ज्यादा दाम नहीं मिलते। आज गाँव में मजदूरी देनेवालों की जो परिस्थिति है, उसीको हम बदल देना चाहते

हैं। वहाँ किसीको अपनी मेहनत बेचने की जरूरत न हो। किसान में और मजदूर में सबसे पहले इस भावना का विकास होना चाहिए कि आज मुझे मेहनत बेचनी पड़ती है, कल अपनी मेहनत का मैं मालिक बनूंगा। मुझे वह नीलाम में नहीं बेचनी पड़ेगी। यह परिस्थिति पैदा करने के लिए हम पहले उसे 'मालिक' बना देते हैं। मालिक बनाने के बाद आज मजदूर और किसान, दोनों में जो संघर्ष है, वह समाप्त हो जाता है। मजदूर चाहता है अन्न सस्ता हो, किसान चाहता है अन्न महँगा हो। केवल अमीर-गरीब में ही लड़ाई नहीं है। पूँजीवाद में गरीब-गरीब में भी संघर्ष रहता है। यह जो स्वार्थों का संघर्ष है, इसे समाप्त करने के लिए हम यह कदम उठाना चाहते हैं कि, कम-से-कम देहातों में, हर रोजगारी अपने औजारों का मालिक हो और हर जमीन जोतनेवाला अपनी जमीन का मालिक हो।

दान होते ही भूमिहीनों का स्वत्व

वितरण की बुनियादी चीज यह है कि जिस दिन जमीन दान में मिल गयी, उसी दिन वह भूमिहीनों की हो गयी। वह फिर न समिति की है, न सरकार की है, न विनोबा की है, न उस गाँव की है। वह जमीन सबसे पहले भूमिहीनों की होती है। किसी एक भूमिहीन की नहीं, गाँव के सभी भूमिहीनों की है। जब गाँव के सब भूमिहीन मिलकर निर्णय करते हैं कि किन भूमिहीनों को वह दी जाय, तो मालकियत का वितरण भी हो जाता है और मालकियत की भावना का इसी प्रक्रिया से निराकरण भी शुरू हो जाता है। कारण, इसमें भूमिहीनों को अपना अधिकार छोड़ना पड़ता है।

जनतात्मा का साक्षात्कार

हमने यदि जनतात्मा और लोकात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कहीं किया है, तो वह वितरण की प्रक्रिया में ही किया है। वह गरीब आदमी, जिसके पास कुछ भी देने को नहीं है, सब कुछ लेने के लिए तैयार है।

मेरे एक मित्र ने कहा कि ऐसी हालत में वे एक-दूसरे का खून करने के लिए उतारू हो जाते हैं। ऐसे जो गरीब आदमी हैं, उनमें हम सबसे पहले

त्याग की भावना पैदा कर देना चाहते हैं। आज तक की क्रांतियों में क्या हुआ? जिनके पास है, उनसे ले लो, और जिस तरीके से हो सके, उस तरीके से ले लो। याने आज तक गरीबों के दिल में सिर्फ लेने की भावना पैदा हुई थी। देने की भावना पैदा नहीं हुई थी। मालकियत के विसर्जन की भावना यदि अमीर के हृदय में पैदा करनी है, तो आगे चलकर मालकियत का विसर्जन मुझे भी करना है, यह भावना आज ही गरीब के दिल में पैदा करनी होगी। इसलिए वितरण की प्रक्रिया में हम अधिक-से-अधिक कोशिश यह करते हैं कि चिट्ठी डालने का मौका न आये। वोट की चिट्ठी से लोकशाही पैदा नहीं होती। जनतात्मा का साक्षात्कार चिट्ठी से नहीं होता। वह लोगों की आत्म-विसर्जन की प्रक्रिया से होता है। इसलिए कोशिश यह होनी चाहिए कि वितरण के समय जहाँ तक हो सके, अधिक-से-अधिक लोग अपने स्वामित्व का विसर्जन करें।

सरकारी जमीन का प्रश्न

यह भी कहा गया था कि राज्य की जो जमीन है, वह वितरण के लिए समिति को सौंप दी जाय। समिति अपना ही वितरण नहीं कर पा रही है, और बोझ कहाँ से ले ले? हम मिट्टी लादनेवाले नहीं बनना चाहते हैं। राज्य के पास जो जमीन है, वह दान में नहीं मिली है। वह जमीन राज्य ने कानून से ले ली है। उस जमीन में जिनकी जमीन शामिल है, उनकी नीयत अब तक उसके साथ चिपकी हुई है। ऐसी जमीन यदि हम बाँटेंगे, तो सिर्फ बँटवारे का काम, सिर्फ मेहनत करने का काम, हमारे हाथ में आ जायगा। जो सद्-भावना हम पैदा करना चाहते हैं, वह उसमें से पैदा नहीं होती। बाँटने में बहुत मेहनत करनी पड़ती है। इसलिए यह जिम्मेवारी हम नहीं ले सकते।

पारस्परिक विश्वास की प्रक्रिया

एक मित्र ने कहा कि "जमीन के लिए तो आज मारपीट होती है, खून होते हैं।" हम मानते हैं कि ऐसा होता है, पर वह इसीलिए होता है कि बीच में कानून आ जाता है। आदमी और आदमी के बीच कानून तभी आता है, जब

आदमी आदमी का भरोसा नहीं कर सकता। अपने भाई पर मेरा भरोसा नहीं होता, तव हम दोनों बँटवारे का दस्तावेज वना लेते हैं। पर वह दस्तावेज अपनी जगह रह जाता है और भाई के साथ मेरी मारपीट हो जाती है! भू-दान-यज्ञ की प्रक्रिया लोगों में परस्पर विश्वास पैदा करने की प्रक्रिया है। न तो कानून इसका इलाज है और न पुलिस और फौज ही। एक नागरिक के मन में दूसरे नागरिक के लिए विश्वास पैदा करना ही सबसे बड़ी वात है और इसका आरम्भ हम जमीन से कर रहे हैं।

प्रश्न है कि जिन्होंने पहले किसी कारण से खेती छोड़ दी हो और अब वे फिर खेती पर लौटना चाहते हों, तो क्या उन्हें हम खेती न करने दें? आप उन्हें अवश्य जमीन दें, लेकिन यह बात भी आप भूमिहीनों से शुरू करें। आज जो जमीन जोत रहा है और मालिक नहीं है, वह उसका सबसे पहला अधिकारी है। इन भूमिहीनों को यदि यह बात समझायेंगे कि यह भी किसान वनना चाहता है, इसे भी शामिल कर लो, तो हमारा अनुभव यह है कि वे उसे भी अपने में शामिल कर लेंगे। ऐसा यदि उन्हींकी सम्मति से होगा, तो गाँव में सहयोग बढ़ेगा।

सहयोगी खेती का प्रश्न

एक मित्र ने यह सुझाया कि भूमि-वितरण के साथ सहयोगी खेती का भी आरम्भ होना चाहिए। उन्होंने रूस और चीन का उदाहरण भी बतलाया। रूस और चीन में सहयोगी खती सफल नहीं हो सकी, इसका मुख्य कारण यह था कि वह सहयोग स्वयंस्फूर्त नहीं था। सहयोग अपनी प्रेरणा से होना चाहिए। सहयोगी खेती का मूल तत्त्व यह है कि वह स्वेच्छा से होनी चाहिए। कानून से जो सहयोगी खेती होती है, उसका सहयोग केवल कागज पर रह जाता है। सहयोग के लिए सहयोग की भावना पैदा होनी चाहिए। इसलिए अब रूस के बाद जितने कम्युनिस्ट देश हैं, उन सबने यह नियम बना लिया है कि हमारे यहाँ वहीं सहयोगी खेती होगी, जहाँ स्वयंप्रेरणा है। जहाँ स्वयं-प्रेरणा नहीं है, वहाँ सहयोगी खेती केवल औपचारिक हो जाती है। रूस और चीन की क्रान्ति से हम यह सबक सीख सकते हैं।

जोतनेवाले से भी दान

जो लोग जमीन जोतते हैं, उन लोगों में झगड़ा न हो। भूमिदान का मूल सिद्धान्त यह है कि जो जोतता है, उसीको जमीन मिले, और मालिक वह रहे। यहाँ से भूमिदान शुरू होता है। पर आगे चलकर हम कहते हैं कि जो जोतता है, वह भी सारी जमीन न रखे, वह भी अधिक जमीन न रखे, वह भी आगे चलकर मालकियत का विसर्जन कर दे। इसलिए हम जोतनेवाले से भी दान लेते हैं। सिर्फ गैर-जोतनेवाले से ही दान लेते होते, तो बात अलग थी। हम जमीन जोतनेवाले से भी दान लेते हैं।

काम टालने की मनोवृत्ति

एक आपत्ति यह उठायी गयी थी कि जो जमीन जोतते हैं, उनमें भी काम न करने की वृत्ति है।

ऐसा क्यों है? पूँजीवाद का आरंभ मुनाफे से होता है। पूँजीवाद का उत्कर्ष सट्टेबाजी में होता है और पूँजीवाद का परिपाक जूआखोरी में होता है। इसका मूल सूत्र यह है कि बगैर काम के दाम जो पाता है, वह सबसे होशियार समझा जाता है। तो जब तक समाज में यह परिस्थिति है, यह संदर्भ है, तब तक हर काम करनेवाले में काम टालने की मनोवृत्ति रहेगी। इसलिए हम श्रम न करनेवालों से श्रम करने को कहते हैं। गाँव में जमीन के वितरण के समय यदि प्रदेश के राजस्वमंत्री भूमिहीन को मिले खेत में जाकर पहली कुदाली चलायें और गाँव के प्रतिष्ठित लोग, जिन्होंने आज तक कभी कुदाली हाथ में नहीं ली है, भी एक जुलूस निकालकर उस गरीब आदमी के खेत में एक-एक कुदाली चला दें, तो आज श्रम के प्रति जो अरुचि है, वह अरुचि कम हो जायगी। उनका तो यह कर्म सांकेतिक ही होगा, लेकिन उनके सांकेतिक कर्म से श्रम के प्रति जो अरुचि है, वह अरुचि कम होती चली जायगी।

नालायकों को जमीन क्यों?

लोग कहते हैं कि नालायक लोगों को जमीन क्यों देते हो? हम इन्हें जमीन तो देते हैं, लेकिन इनका हक मर्यादित कर देते हैं। इसलिए इनकी

नालायकी की प्रक्रिया भी थोड़ी-बहुत मर्यादित हो जाती है। सोचने की बात है कि अब तक कौनसे लायकों के पास जमीन थी? उन लोगों ने तो जमीन जोती भी नहीं, वे तो सिर्फ बेचते ही रहे। जमीन के बेचनेवालों को हमने लायक कभी नहीं माना है। उन्होंने जो उत्पादन किया, वह सिर्फ मुनाफे के लिए किया। उन्हें क्या हम ज्यादा लायक मानेंगे? जो जोतता है, उसमें आज लियाकत नहीं है, इसका मुख्य कारण यह है कि उसका रोजगार समाज में हमेशा अप्रतिष्ठित रहा। दूसरा कारण यह है कि और सब लोगों के सामने प्रतिकार के लिए एक-न-एक साधन था, किसान के जीवन में ही प्रतिकार का कोई साधन नहीं था। मजदूर हड़ताल कर सकता है, मुन्शी हड़ताल कर सकता है, वकील हड़ताल कर सकते हैं, डॉक्टर हड़ताल कर सकते हैं, पर क्या कभी गरीब किसान की हड़ताल हो सकती है? वह यदि हड़ताल करेगा, तो खुद मरेगा। इसलिए उसके जीवन के, उसकी क्रांति के नियम ही दूसरे की क्रांति से कुछ भिन्न हो जाते हैं। आज जो किसान इस प्रकार से असहाय और हताश हो गया था, उसके जीवन में क्रांति करनी है। इसलिए भू-दान की प्रक्रिया का आरंभ जोतनेवाले से होता है, लेकिन जोतनेवाले में भी मालकियत की भावना जड़ न पकड़े, इसलिए इसकी सावधानी हम रखते हैं। जो काम-चोर है, काम टालनेवाला है, वह ज्यादा दिन तक अपने हाथ में खेती न रख सके, इसकी भी सावधानी इसमें रखी गयी है। मनुष्य जितनी सावधानी रख सकता था, उतनी सावधानी इस योजना में है, किन्तु अन्ततः यह मनुष्य की ही योजना है, इसलिए प्रमाद-सुलभ भी है। और तभी तो पुरुषार्थ के लिए अवसर है।

वितरण की तीन मुख्य बातें

वितरण में तीन बातें बड़े महत्त्व की हैं :

पहली बात : जिस जमीन का वितरण होता है, वह गाँव के भूमिहीनों की हो गयी है।

दूसरी बात : वह जमीन जिन भूमिहीनों की हो गयी है, उन्हींको

वितरण में निर्णय करना है। वह भी बहुमत से नहीं, एकमत से। इसमें हम बहुमत किसीका नहीं लेते।

तीसरी बात : जहाँ निर्णायकों का बहुमत नहीं होता, वहाँ हम चिट्ठियाँ तो डालते हैं, लेकिन चिट्ठियाँ डालना हमारा आपद्धर्म है। हमारा मुख्य धर्म यह है कि सब-के-सब भूमिहीन इस प्रक्रिया में स्वामित्व-विसर्जन का कदम भी उठाना शुरू कर दें।*

०००

* विचार-शिविर में २८-८-'५५ का प्रातः-प्रवचन।

अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया : १८ :

सबसे पहली बात यह है कि हमारे विचारों में संकीर्णता न हो, हमारे व्यवहार में संकुचितता न हो। विचार के नाम पर कहीं हम लोग सम्प्रदाय में न डूब जायँ।

विचार अपौरुषेय है

विचार का सबसे बड़ा लक्षण ही यह है कि उसमें निष्ठा होनी चाहिए, लेकिन हमारी अहंता उससे मिली हुई न हो। मैंने विचार को अपना लिया, इसलिए विचार कुछ हद तक मेरा अवश्य है, लेकिन विचार विचार है, विचार न मेरा है, न तेरा है। किसी मनुष्य का नहीं है। विचार व्यापक होता है, जैसे आकाश व्यापक होता है। हम विचार को, सद्विचार को, अपौरुषेय ही मानते हैं।

चित्रकला में मॉडल खींचने के लिए लड़के बैठते हैं। सामने बैठा हुआ लड़का एक आड़ी लकीर और कई खड़ी लकीरें खींचकर कहता है—"मैंने मेज का चित्र बनाया।" दूसरा लड़का एक कोण खींचकर कहता है—"मेरा भी चित्र मेज का चित्र है।" सबके चित्र सही हैं, लेकिन किसीका चित्र सम्पूर्ण नहीं है। इसीमें से हमारे दिल में नम्रता आ जाती है।

विचार सत्यनिष्ठ होना चाहिए, पक्षनिष्ठ नहीं। विचार की व्यापकता सत्यनिष्ठा पर होती है। सत्य का जितना दर्शन मनुष्य को होता है, उसे वह अपने जीवन में उतारने की कोशिश करता है। उससे उसकी भूमिका उन्नत होती चली जाती है। आचार की भूमिका जितनी उन्नत होती है, विचार का दर्शन उतना ही व्यापक होता है। जो आदमी एक मेज पर खड़ा है, वह यह सभा देख सकता है। छत पर खड़ा हो जाय, तो सारा आश्रम देखेगा। मीनार

पर खड़ा हो जाय, तो पूरा अहमदाबाद देखेगा। गौरीशंकर शिखर पर खड़ा हो जाय, तो क्षितिजव्यापी दर्शन हो जाता है।

भूदान की व्यापक भूमिका

हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भू-दान का व्यासपीठ केवल एक सर्वपक्षीय मंच नहीं है, उसकी भूमिका अधिक व्यापक है। जो कम्युनिस्ट भाई यह मानते हैं कि इस देश में अब तानाशाही नहीं चल सकती; चीन और रूस की क्रान्ति के बाद अब क्रान्ति की प्रक्रिया में परिवर्तन हो रहा है, और जिस देश में गांधी की प्रक्रिया से आजादी प्राप्त की गयी, उस देश में क्रांति की आर्थिक प्रक्रिया में भी गांधी की ही प्रक्रिया से काम लेना होगा, उनका स्वागत है। क्रांति की प्रक्रिया में भी क्रांति करनी होगी, इस मुकाम पर आज सारी दुनिया पहुंची है। क्योंकि आज अमेरिका और रूस, दोनों ही सह-अवस्थान की बात कर रहे हैं। जवाहरलाल नेहरू जैसे राज्य-पुरुष का रुतबा संसार में बढ़ रहा है। निःशस्त्रीकरण के आयोजन हो रहे हैं। हमारी धारणा है कि अंतर्राष्ट्रीय और जागतिक संदर्भ में, अंतर्गत मामलों के समाधान के लिए, गांधी की प्रक्रिया के सिवा दूसरी प्रक्रिया हो ही नहीं सकती। इसलिए जो-जो हमारे साथ क्रांति के विचारों को मानने के लिए तैयार हैं, उन सबका यहाँ स्वागत है। भूमिदान-यज्ञ-आन्दोलन कांग्रेस का भी है, प्रजा-समाजवादियों का भी है, कम्युनिस्टों का भी है, जो-जो उसे अपना मानेंगे, उन सबका है। इसकी भूमिका को हम अहंता से ऊपर उठा देना चाहते हैं। जो-जो उसमें आकर काम करना चाहें, उन सबके साथ सहयोग है। 'समत्वं योग उच्यते', 'योगः कर्मसु कौशलम्।' अमीरी और गरीबी के निराकरण के विषय में सबकी समान आकांक्षा है। उस समानता का हम संग्रह करेंगे और ऐसी कुशलता की चेष्टा करेंगे कि हमारी निष्ठा में बाधा न आये और हमारा साधन शुद्ध रहे। क्रान्ति में खतरा होता है, इसलिए कुशलता की भी आवश्यकता होती है।

लोकशाही की जड़ें दृढ़ करना आवश्यक

रेंगलर परांजपे पुराने जमाने के एक महान बुद्धिवादी नेता हैं।

लोकमान्य तिलक के वारे में गोखले की जीवनी लिखते हुए उन्होंने लोकमान्य तिलक पर एकांगिता का आरोप करते हुए लिखा कि कितने ही मामलों में मतभद हो सकता है, लेकिन मतों की समानता भी कुछ मामलों में हो सकती है, यह वात लोकमान्य ने नहीं सीखी। हमको इस देश में लोकशाही की नींव मजवूत करनी है, लोकशाही की बुनियादें पक्की और व्यापक वनानी हैं। इसलिए इस देश में विचार का स्वातंत्र्य होगा और आचार में भी जब तक वह दूसरे के विचार-आचार में बाधक नहीं होता, तव तक स्वतंत्रता होगी। इस ओर हम जनता को ले जाना चाहते हैं। जिन-जिनको लोकशाही की वुनियादें व्यापक और पुख्ता वनानी हैं, उनमें एक समानता है कि हमें सैनिकता की ओर से नागरिकता की ओर कदम बढ़ाना है। हमें सिपाहियत और शराफत को मिला देना है।

लोकशाही की गुणात्मक आधार-शिलाएँ

अस्पृश्यता का कानून वना हुआ है। शराबबन्दी का कानून हो गया। कोई भी सरकार इससे अधिक कुछ नहीं कर सकती। पर समस्या यही है कि कानून का अमल नहीं होता है। कुछ वुद्धिमान् लोग तो यह तक कहते हैं कि कानून ही लौटा लो। मानो कोई गलत काम कर लिया हो। पहले कानून की माँग हुई, तब कानून बना। पर अब कहते हैं कि सारे देश में चोरी से शराब बन रही है। अस्पृश्यता-निवारण का कानून वन गया है, लेकिन अस्पृश्यों में हिम्मत नहीं है, सवर्णों में उदारता नहीं है। पर सोचने की बात है कि यह भावरूप मूल्य भला कौन-सा कानून पैदा कर सकेगा? वह कौन-सा कानून है, जो लोकशाही की ये गुणात्मक आधार-शिलाएँ पैदा कर सकेगा? कानून का अधिष्ठान हमेशा कानून से बाहर का होता है। हम यह चाहते हैं कि इस देश में जो भी लोग लोकशाही के पक्षपाती हैं, फिर वे किसी भी पार्टी के क्यों न हों, उन सबको मिलकर इस लोकशाही का संरक्षण करना चाहिए। हम २००० वर्षों के बाद बड़ी मुश्किल से एक तपस्वी की पुण्याई और भगवान् की कृपा से इस देश में इस लोकशाही की स्थापना कर सके हैं। आज सत्ता जिनके हाथ में है, वे सत्ता का प्रयोग कम-से-कम करना चाहते हैं। उन्हें दंड

का प्रयोग करने का शौक नहीं है। फिर भी बाहर निःशस्त्रीकरण की बात हो और इस देश में कभी लाठी चलानी पड़े, कभी गोली चलानी पड़े, क्या इसकी जिम्मेवारी आप पर और मुझ पर कुछ नहीं आती ? इसके लिए नागरिकों में एक अहिंसक भूमिका का निर्माण करना क्या आपका और मेरा कर्तव्य नहीं है ? यह एक जिम्मेवारी का काम हमें अपने सामने रखना चाहिए।

साधन-शुद्धि का आग्रह

मुरारजी भाई ने कहा है कि हम सिद्धिपूजक न बनें, सफलता के कायल न बनें। हम सफलता की तैयारी करें, पर असफलता के लिए हमेशा तैयार रहें। इसका मतलब यह नहीं है कि हम संयोजन ही असफलता का करेंगे। संयोजन सफलता का करेंगे, लेकिन सफलता के लिए अपने साधनों की बलि नहीं देंगे। हम जो संयोजन करेंगे, वह सफलता के लिए करेंगे, पर असफलता के लिए तैयार रहेंगे।

हमारा आग्रह साधन-शुद्धि हो, सफलता का न हो। सावधानी की यह चेतावनी हमें नम्रतापूर्वक स्वीकार करनी चाहिए। विचार हमारा व्यापक हो, भूमिका हमारी संग्राहक हो, अनाग्रह की हो, वृत्ति में अहंता न हो, लेकिन साधनों में शुद्धि का आग्रह हो। कारण, इस देश में जिस लोकराज्य की स्थापना हुई है, उस लोकराज्य को हमें लोक-स्वामित्व में परिणत करना है। लोगों में जितनी स्वयंप्रेरणा और स्वयंकर्तृत्व हम बढ़ा सकेंगे, उतना ही लोकराज्य लोक-स्वामित्व में परिणत करने की दिशा में हमारा आगे कदम बढ़ता चला जायगा।

हृदय-परिवर्तन की क्रान्ति

हम सबको सबसे पहले अपनी तरफ देखना है। एक बार गांधी सेवा-संघ की सभा में हम सब लोग बैठे हुए थे। हम सबने गांधी से पूछा कि "समाजवादी, साम्यवादी और आपमें क्या फर्क है ?" उन्होंने उत्तर दिया कि इनका सबसे ज्यादा जोर वस्तु-परिवर्तन पर है, मेरा सबसे ज्यादा जोर व्यक्ति

परिवर्तन पर। इसलिए मेरी क्रान्ति व्यक्तिगत आचरण का भी विषय है। हृदय-परिवर्तन का प्रारम्भ अपने से होता है। हम सबको दूसरे के हृदय-परिवर्तन की चिन्ता है, पर हमारे अपने हृदय का कहीं पता ही नहीं है! या तो हमने समझ लिया है कि हमारा हृदय पहले ही शुद्ध होकर गंगाजल बन गया है। अतः हम सब पहले अपने से पूछें कि स्वामित्व और सम्पत्ति की भावना का निराकरण हमारे हृदय से कहाँ तक हुआ है। यह गांधी की प्रक्रिया की विशेपता है।

गांधी की प्रक्रिया

एक बार मुझ पर राजद्रोह का मुकदमा चला। मजिस्ट्रेट मुझे जानता था, इसलिए कहने लगा कि "जेल तो तू चला जाता है, मुझे मालूम है। इसलिए मैंने यह तय किया है कि तुझे जुर्माना ही करूँगा, जेल नहीं भेजूँगा।" यह सुनकर दिल में धक्का तो जरूर लगा। मैं कुछ घबराया भी। पर डरकर तो काम चल नहीं सकता था। मैंने कहा—"कीजिये जुर्माना! धमकाते क्यों हैं ?"

मेरी कलाई पर एक सोने की घड़ी थी। उस पर उसकी दृष्टि पड़ी। मैंने सोचा, यह इस घड़ी की कीमत का तो कम-से-कम जुर्माना करेगा ही। यह बात मुझसे कैसे सही जा सकती थी ? मैंने चुपके से एक वकील मित्र के हाथों घड़ी घर भिजवा दी। पता नहीं कैसे उस बूढ़े (बापू) को इस बात का पता चल गया। वह जो नित्य जाग्रत था। मुझे बुलाकर उसने कहा कि "तूने चोरी की है।"

मैंने कहा, "बापू, इसमें चोरी कैसी ? मेरी घड़ी थी, मैंने घर भेज दी।"

बोला—"तेरी थी, तो कलाई पर ही क्यों नहीं रखी ? घर क्यों भेज दी ? इसीलिए न कि तुझे पता चल गया था कि वह तेरी रहनेवाली नहीं है ?"

बापू की यह बात तो ऐसी थी कि दिल में गड़ गयी। मैंने पूछा, "अब क्या करना होगा ?"

बोला—"तुझे खुद जाकर वह जुर्माना दे आना है। पहले सरकार तुझसे वसूल करती, अब उल्टा होगा, तुझे स्वयं जाकर अदा करना होगा।"

ऐसी उल्टी बात बापू हमेशा करते थे। हमने कहा, "सरकार को तो मजा ही है, हम जुर्माना देते चले जायँगे, वह जुर्माना करती चली जायगी।"

हम अहिंसा की प्रक्रिया को नहीं समझते। हमने यह नहीं समझा था कि उस व्यक्ति के शब्दों में कितनी शक्ति है। जुर्माना हमने दे दिया। एक व्यक्ति को दस बार जुर्माना हुआ। सरकार समझ गयी कि "जैसे जेल से ये लोग नहीं घबराते थे, ऐसे ही जुर्माने से भी ये लोग नहीं घबराते हैं।"

हमें सोचना है कि क्या वह भावना अब तक हमारी बनी हुई है? क्या हमने अपने हृदय से संपत्ति और स्वामित्व का निराकरण कर दिया है? बिहार में मुझसे विद्यार्थियों ने पूछा कि "दौलत तो बाप की है, मालकियत उनके पास है। ऐसी स्थिति में हम क्या करें?" मैंने कहा कि "तुम पहले पिताजी से कहो कि हमारे लिए कुछ मत रखिये। सारी संपत्ति दे दीजिये। पिताजी यदि न मानें, तो कह दीजिये कि आज से मैंने आपकी संपत्ति पर से अपना अधिकार छोड़ दिया है।"

जीवन में क्रान्ति कैसे हो?

व्यक्तिगत जीवन में क्रांति कैसे हो सकती है? साबित आदमी होगा, तो साबित दुनिया बनेगी। अहिंसक प्रक्रिया में क्रांति का साध्य भी मनुष्य है और क्रांति का साधन भी मनुष्य है। साबित दुनिया यदि बनानी है, तो साबित आदमियों की जरूरत होगी और साबित इन्सानियत का आरंभ अपने से होगा। हरएक की जैसी दृष्टि होती है, वैसा ही दुनिया का नकशा वह बना लेता है। हमारा व्यक्तित्व जैसा होगा, वैसा ही दुनिया का नकशा हम बनायेंगे। इसे 'चारित्र्य' कहते हैं। इस चारित्र्य की मर्यादाएँ हम लोगों ने देखीं।

हमारे बचपन में मास्टर साहब लड़कों को एक खेल खिलाते थे। दुनिया का एक नकशा कार्ड-बोर्ड के टुकड़ों का बनाया हुआ था। मास्टर साहब खुद टुकड़ों को इकट्ठा करके नकशा जमा देते थे और फिर कहते थे—"लड़को, देख लो, याद रखो, बाद में तुम्हें अपनी स्मृति से इसे जमाना होगा।" लड़के उसे देख लेते थे, लेकिन सब ठहरे एक-से-एक बृहस्पति। इसलिए वह याद तो रहता

नहीं था। तो कभी आस्ट्रेलिया को उठाकर अफ्रिका के नीचे रख देते थे, कामश्चाटका को उठाकर मेडागास्कर की जगह रख देते थे। इस तरह की गल-तियाँ किया करते थे। एक बड़ा चतुर लड़का था। उसे गांधी या विनोबा कह लीजिये। उसने गत्ते का एक टुकड़ा उलटकर देखा, तो मनुष्य की आकृति का एक अवयव उस पर बना हुआ था। वह ताड़ गया कि एक तरफ मनुष्य की आकृति और दूसरी तरफ दुनिया का नकशा बना हुआ है। उसने सारे टुकड़े उलट दिये, मनुष्य को जमाना शुरू कर दिया, मनुष्य जम गया, दुनिया जम गयी। यही हमारी क्रांति की प्रक्रिया है।*

०००

*विचार-शिविर में २८-८-५५ का उपसंहारात्मक प्रवचन।

सर्वोदय के सांस्कृतिक आधार (१) : १६ :

सर्वोदय का आधार और सर्वोदय का स्वरूप सांस्कृतिक है। हमारी समस्या सांस्कृतिक समस्या है। इसमें नैतिकता का भी समावेश है। असल में आज हमारे सामने जो समस्या है, वह मूल्यों की समस्या उतनी नहीं है, जितनी कि साधन की समस्या है। क्रांति की समस्या वस्तुतः साधन की समस्या है। हम क्या चाहते हैं, कैसी दुनिया चाहते हैं, इसके बारे में बहुत ज्यादा मतभेद नहीं है। जितने भी मतभेद हैं, वे केवल ऊपर-ऊपर के हैं। जिस दिन हम नैतिक और मानवीय मूल्यों के आधार पर समाज की रचना करने लगेंगे, उस दिन हमें पता चलेगा कि हमारे सारे मतभेद विलीन हो जाते हैं। असल में जो मतभेद हैं, वे साधनों के मतभेद हैं।

मूर्खस्य नास्ति औषधम् !

संस्कृत का सुभाषित कहता है कि '**मूर्खस्य नास्ति औषधम्**' 'मूर्ख के लिए कोई दवा नहीं है।' यहाँ पर आकर मनुष्य कुंठित हो गया है। जिसने यह कह दिया कि मूर्ख के लिए दवा नहीं है, उसने यह भी मान लिया कि बुद्धि की सत्ता सामाजिक सत्ता नहीं है। मूर्खता को जिसने असाध्य मान लिया, उसने यह मान लिया कि 'मत-परिवर्तन' से, समझाने-बुझाने से, विचार के प्रयोग से, क्रान्ति नहीं हो सकती। क्रान्ति यदि होगी, तो चमत्कार के प्रयोग से ही होगी। मैं भी एक हृदयवान् व्यक्ति हूँ और भगवान् ने मुझे पर्याप्त भावना-सम्पन्न हृदय दिया है। जब मैं कोई पराक्रम की, पुरुषार्थ की, अतुलित उदात्त कर्तृत्व की आख्यायिका सुनता हूँ, तो मेरा हृदय भी उमड़ पड़ता है, लेकिन इससे मुझमें क्रिया-प्रवृत्ति जाग्रत नहीं होती। उसके जाग्रत न होने का मुख्य कारण यह है कि भूदान-यज्ञ-आन्दोलन की ओर उसकी चमत्कार की सम्भावनाओं की दृष्टि से मैंने नहीं देखा है। मैंने यह माना और समझा है कि आज के संसार, समाज और जीवन की जो समस्या है, उसके लिए भूदान-यज्ञ की प्रक्रिया के

सिवा दूसरी कोई प्रक्रिया है ही नहीं। मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ। यदि आप भी पहुँच जायँ, तो शायद आप भी चमत्कार करने लगेंगे और दूसरों के चमत्कार से प्रेरणा लेने की आपको जरूरत नहीं होगी। लेकिन आपकी बुद्धि में यह चीज आ जानी चाहिए और आपको यह मान लेना चाहिए कि **मूर्खता के लिए दुनिया में औषधि है।** उसका निराकरण मन्त्र-प्रयोग से नहीं होता, दवा-दारू से नहीं होता, दण्ड-प्रयोग से नहीं होता। फिर भी उसका निराकरण होता है और मनुष्य उसका निराकरण कर सकता है। **दुष्टता का और मूर्खता का निराकरण सम्भव है और उसका निराकरण करने की प्रक्रिया मानवीय प्रक्रिया है।** मानवीय प्रक्रिया से मेरा मतलब बौद्धिक प्रक्रिया या बुद्धि की प्रक्रिया है।

पढ़े-लिखे लोग एक दलील अवश्य पेश करते हैं कि बुद्धि के प्रयोग से काम नहीं होता। वे कहते हैं कि समाज का परिवर्तन बुद्धि के प्रयोग से नहीं होता। जो यह कहता है, वह सांस्कृतिक प्रक्रिया को स्वीकार ही नहीं करता। 'सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना के साधन भी सांस्कृतिक होने चाहिए'—यह उसने नहीं माना है। दुनियाभर के क्रान्तिकारियों ने यदि सबसे पहले कोई बात मानी है, तो वह यही कि क्रान्ति का साधन क्रान्ति के मूल्यों के अनुरूप होना चाहिए। सबसे पहले यह बात मार्क्स ने कही, इसलिए उसे 'वैज्ञानिक क्रान्तिकारी' कहते हैं। क्रान्ति की कला, क्रान्ति के विज्ञान और क्रान्ति के शास्त्र का आद्यप्रवर्तक मार्क्स है। इसीलिए आज दुनिया में उसकी सत्ता है। मार्क्स का युग समाप्त नहीं हुआ है। मार्क्सवादियों का युग समाप्त हो गया है। लेकिन मार्क्स की सत्ता दुनिया में इस दृष्टि से बढ़ रही है कि उसने यह कहा कि सम्पूर्ण क्रान्ति-विज्ञान में साधन का विचार करना होता है। और साधन ऐसे होने चाहिए, जो क्रान्ति के साक्षात् हेतु हों याने जिनमें से क्रान्ति अपने-आप परिणत हो जाती है। हमारी समस्या यदि सांस्कृतिक है, तो उसका समाधान भी सांस्कृतिक साधनों से होना चाहिए।

विज्ञान और राजनीति

आज के युग में बुद्धि की सत्ता की आवश्यकता है। रावण के राज्य का

वर्णन करते हुए पुराणकार लिखता है कि सभी देवता रावण के पलंग के पायों के नीचे दबे रहते थे। आज दुनियाभर के वैज्ञानिक, राजनीतिक सत्ता-धीशों के पलंग के पायों के नीचे दबे रहते हैं। आईन्स्टीन हिटलर के जर्मनी में नहीं रह सका। यह सिद्धान्त कि मनुष्य में आनुवंशिक संस्कार जन्म के साथ आते हैं, रूस में नहीं सिखाया जा सकता। रूस का कोई वैज्ञानिक उसका प्रतिपादन नहीं कर सकता। जितने भी वैज्ञानिक हैं, वे सत्ताधारियों के पलंग के पायों के नीचे दबे हुए हैं। **'बलं वा विज्ञानात् भूयः·······'** 'बल विज्ञान से प्रभावशाली है। आज एक बलवान् हजारों वैज्ञानिकों को कँपा रहा है। यह आज की दुनिया की परिस्थिति है। इसमें से कौन-सा विज्ञान रास्ता निकाल सकता है? आज तो विज्ञान अशोकवनवासिनी सीता की तरह रावण की कैद में है। उसे वहाँ से उन्मुक्त कराने की आवश्यकता है और ऐसी शक्ति किसी हथियार में नहीं है।

पढ़े-लिखे लोग बड़े तर्कशील होते हैं। मार्क्स ने लिखा है कि 'आलोचना का शस्त्र और शस्त्र की दलील' ये दोनों जब एक-दूसरे के मुकाबले में खड़े हो जाते हैं, तो यह तर्क का शस्त्र है तो बहुत बड़ा हथियार, लेकिन तलवार की युक्ति के सामने वह कुंठित हो जाता है। तलवार की दलील के सामने बुद्धि की तीक्ष्णता काम नहीं देती।

हमारे देश का बुद्धिवादी कहता है कि आखिर सीता को बचाने के लिए राम को भी तो बाण ही चलाना पड़ा। मैं उससे कहता हूँ कि बाण तो चलाना पड़ा, लेकिन मुझे कुछ ऐसा भ्रम होता है कि राम में आपसे अक्ल कुछ कम रही होगी। तभी तो वह रावण का मुकाबला करने के लिए एक ही मुँह लेकर आया। दशमुख का सामना करने के लिए कम-से-कम बीस मुख तो लेकर आता।

दो-मुँही राजनीति

विभीषण राम से कहने लगा कि रावण के पास तो रथ है और आपके पास तो रथ ही नहीं है। राम कहता है कि **'जेहि जय होय सो स्यंदन आना।'** मेरा जो रथ है, वह अलग तरह का है। रावण के बीस बाण और राम का

एक ही बाण। इस एक बाण का प्रभाव क्यों हो सका। उसका सांस्कृतिक मूल्य था—'द्विः शरं नाभिसंधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते।' इसके दो जबानें नहीं हैं, यह दो-मुँहा नहीं है। राजनीति तो हमेशा दो-मुँही होती है। जिसके एक मुँह है, उसके लिए कहा जाता है कि वह राजनीति ही नहीं जानता। बंगाल में बंकिम चटर्जी ने एक गर्दभ स्तोत्र लिखा है, जिसमें ऐतिहासिक मूर्खों की सूची दी है। उस सूची में राजा दशरश का भी नाम है। उसने एक दफा धोखे में कैकेयी को दो वरदान दे दिये। वह अपने वरदान बदल नहीं सका। ऐसा बेवकूफ है राजा दशरथ! बंकिम बाबू ने 'लोकरहस्य' में गधों में उनका नाम गिनाया है। दूसरे एक प्रसिद्ध नेता ने भी गधों की एक सूची तैयार की है। उसमें हरिश्चन्द्र, दशरथ, राम आदि के नाम एक के बाद एक आये हैं। अन्तिम नाम गांधी का है। ऐसा उन्होंने क्यों कहा? 'द्विः शरं नाभिसंधत्ते' इसके दो मुँह नहीं हैं, इसलिए इसके एक बाण में शक्ति है।

शैतान से भी दो कदम आगे

एक दफा बर्नर्ड शा ने आईन्स्टीन के स्वागत में भाषण करते हुए कहा, "धर्म हमेशा सत्य बोलता है, विज्ञान हमेशा असत्य बोलता है।"

पूछा—"शा, आपका मतलब क्या है?"

बोला—"पुरोहित एक ही झूठ बराबर लगातार बोलते रहते हैं, इसलिए धर्म सही है।"

"और विज्ञान झूठ क्यों है?"

"जितने नये आविष्कार होते हैं, उतनी ही तुम अपनी बात बदलते हो।" और इससे आगे राजनीति है। राजनीति क्यों है? वह कहता है कि राजनीति का कोई ठिकाना ही नहीं। क्यों? सुबह और शाम में वह बदलती रहती है। उसका जो सत्य रहता है, वह सुबह के अखबार में अलग होता है, शाम के अखबार में अलग होता है। इसलिए पुराने जमाने में डीन स्विफ्ट, गुलिवर्स ट्रेवेल्स के लेखक, ने एक निबन्ध लिखा था 'राजनैतिक झूठ की कला', जिसमें उसने कहा कि झूठ बोलना शैतान का गुण बतलाया गया है, लेकिन राजनीतिज्ञ ने उस कला को शैतान से बहुत ज्यादा आगे बढ़ा दिया है। रावण

के मुकाबले रामचन्द्र के युद्ध की चर्चा जब आप करते हैं, तो मेरी प्रार्थना है कि उसमें भी आपकी दृष्टि वैज्ञानिक होनी चाहिए, बुद्धियुक्त होनी चाहिए। 'द्विः शरं नाभिसंधत्ते रामो।' बहुत से हथियार या शस्त्र-सम्भार राम की क्रान्ति के साधन नहीं थे। रावण का प्रतिकार करने के लिए राम को जो साधन अपनाने पड़े, उन साधनों में सांस्कृतिक मूल्य सबसे बड़े साधन थे। आज यदि विज्ञान को सत्ता की गुलामी से मुक्त कराना है, तो मानवीय संस्कृति को एक क्रान्तिकारक मूल्य बनाना होगा।

विभूति-योग

प्रश्न है कि मानवीय संस्कृति क्रान्तिकारक मूल्य कैसे बने? यह युग मानवीय विभूति का युग है। विभूति-योग पृथक् वस्तु है, स्थूल देह-पूजा पृथक्। प्रकृति-पूजा पृथक् वस्तु है, विज्ञान पृथक्। प्रकृति-पूजकों का विश्वास जादू और चमत्कार में भी था। उसके बाद वैज्ञानिक आये, जिन्होंने कहा कि गंगा पानी के सिवा कुछ नहीं है, हिमालय बर्फ के सिवा कुछ नहीं है। वैज्ञानिकों ने यह भी कहा कि मनुष्य शरीर के सिवा कुछ नहीं है। इन दोनों का जिसमें समन्वय है और इन दोनों के अतिरिक्त जिसमें एक मानवीय तत्त्व भी है, उसे हम 'विभूति-योग' कहते हैं।

दो दर्शन हैं। एक बकासुर का दर्शन है। दूसरा अकालग्रस्त पुरुष का दर्शन है। एक भूखे का दर्शन कहलाता है, दूसरा पेटू का। इनका नाम लोगों ने भौतिकवादी दर्शन रख दिया है। मैंने ऐसे कोई भेद नहीं किये हैं, लेकिन ये दो दर्शन प्रकृति की ओर देखने की हमारी भूमिका को बदल देते हैं। भूखा कहता है कि यह महिरज आटा बन जाय, तो अच्छा हो। पेटू कहता है कि यह लड्डू या हलुआ बन जाय तो अच्छा हो। हम कहते हैं कि प्रकृति हमारी माता है, भगवान् की विभूति है।

मनुष्य की ओर देखने के भी दो तरीके हैं। एक तरीके का, व्यक्ति-पूजा का निषेध आजकल रूस में हो रहा है। प्रभुत्व की पूजा का आज निषेध हो रहा है। मनुष्य की ओर एक व्यक्ति के नाते देखना एक अलग चीज है, मनुष्य की ओर एक विभूति के नाते देखना एक बिलकुल दूसरी। हम लौकिक और

पारलौकिक, दोनों मूल्यों का निराकरण करना चाहते हैं। हम पारमार्थिक या आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं। अध्यात्म पारलौकिक कभी नहीं होता। अध्यात्म यहीं होता है, इस देह में होता है, इस जीवन में होता है। मोक्ष यहीं, इसी दुनिया में, इसी शरीर में मिलता है या फिर बिलकुल नहीं मिलता। इन पारमार्थिक मूल्यों की हमें स्थापना करनी है। इसलिए हम मनुष्य की देह की पूजा नहीं करा रहे हैं। 'व्यक्ति-पूजा का तत्त्वज्ञान' बिलकुल दूसरी चीज है। मानवीय विभूति की महिमा स्थापित हो, यह सांस्कृतिक मूल्य है। प्रकृति भोग्य वस्तुओं का भंडार मानी जाय और हमारी भोग-दासी बनायी जाय, यहाँ तक विज्ञान पहुँचा है। प्रकृति एक ऐसी सत्ता है, जिससे मनुष्य को डरना चाहिए, यह प्रकृति-पूजा है। हम कहते हैं कि प्रकृति भगवान् की विभूति है। विज्ञान की ओर देखने का यह सांस्कृतिक दृष्टिकोण है। मैं कह चुका हूँ कि विज्ञान को सत्ता के पलंग के पायों के नीचे से उबारना है।

विज्ञान की भूमिका क्या हो ?

विज्ञान आज विश्व के भोगवादियों का दलाल बन रहा है। भोगनिष्ठों और सत्तानिष्ठों के लिए विज्ञान आज एजेंट या दलाल का काम कर रहा है। यह विज्ञान की भूमिका नहीं है। विज्ञान की भूमिका है—सृष्टि और सृष्टि के नियमों का आविष्कार। यह आविष्कार सृष्टि को हमारे जीवन की एक विभूति बनाने के लिए हो। सृष्टि आज काव्य में हमारे जीवन की विभूति है। काव्य एक ओर जाय और विज्ञान दूसरी ओर, यह नहीं होना चाहिए। विज्ञान के लिए सांस्कृतिक दृष्टि से ही इन दोनों प्रवाहों का एकीकरण हो सकता है। अब वह युग आ रहा है कि जब हमें मानवीय विभूति की ओर जाना होगा। मानवीय विभूति की पूजा होगी। राजा और अधिनायक, दोनों का युग समाप्त हो गया। अब साधारण नागरिक का युग आया है। लोगों ने आज तक यह माना कि समाज का परिवर्तन और इतिहास का निर्माण वीर और संत करते हैं। पर मार्क्स की प्रतिज्ञा है कि अब तो साधारण जनता की यह भूमिका होगी कि वह इतिहास का निर्माण करे—साधारण जनता का पुरुषार्थ, नागरिक का

पुरुषार्थ। इसका तत्त्वज्ञान, इसका दर्शन होगा—मानवीय विभूति का दर्शन। जब तक मनुष्य ही विभूति नहीं बनता, तब तक वह दर्शन नहीं होता।

मार्क्स के दो सिद्धान्त

मार्क्स ने दो सिद्धान्त बताये। एक तो यह कि सृष्टि के नियमों के अनुसार और ऐतिहासिक घटनाक्रम के अनुसार अब यह अनिवार्य है कि पूँजीवाद का नाश होगा और उसकी जगह समाजवाद आयेगा। उससे पूछा गया कि "सृष्टि के नियमों के अनुसार यदि ऐसा होने ही वाला है, तो इसमें हमारे पुरुषार्थ के लिए क्या कोई अवसर है?" उसने कहा, "हाँ, है।" "किन पुरुषों के लिए अवसर है?" "जिनकी आँख में यह शक्ति है कि वे जमाने में छिपे हुए क्रान्ति के बीज देख सकते हैं।" मार्क्स से पूछा गया कि "यह बीज कौन देख सकता है?" तो इसका समाधानकारक जवाब नहीं मिला। यहाँ गांधी जवाब देता है, सर्वोदय जवाब देता है। वह यह कि जिन लोगों ने अपने दैनिक जीवन में क्रान्ति के मूल्यों का आचरण किया हो, उनकी आँख में यह शक्ति आती है। जिनके जीवन में क्रान्ति के मूल्यों का आचरण हुआ हो, जिन लोगों ने अपने जीवन में क्रान्ति के मूल्यों का अनुष्ठान किया हो, उनकी आँख में यह शक्ति आती है कि वे समय के गर्भ में छिपे हुए क्रांति के बीज देख सकें।

मार्क्स ने यह भी कहा था कि जनता सिद्धान्तों को तब ग्रहण करती है, जब उन सिद्धान्तों का या क्रान्ति का सम्बन्ध जनता के 'जीवन की आवश्यकता' और 'वास्तविक स्वार्थ' के साथ हो। जनता की मूलभूत आवश्यकताओं और जनता के सच्चे हित के साथ जब क्रान्ति का सम्बन्ध होता है, तब मार्क्स के अनुसार वह तत्त्वज्ञान, वह दर्शन प्रेरक बन जाता है। मार्क्स के कहने का मतलब हुआ कि यह सिफत उसकी आँख में आती है, जो जनता की मूलभूत आवश्यकताओं को और जनता के वास्तविक हित को देख सकता है। ऐसी शक्ति किसमें होगी? उसीमें, जो अपने वर्ग को और अपने जन्म को भूलकर जनतात्मा का साथ, लोकात्मा के साथ, समरस हो सका है।

सन्त, वीर और नागरिक

लोकात्मा की ओर तीन तरह के देखनेवाले लोग हैं। सन्त, वीर और

नागरिक। आज तक जो इतिहास लिखा गया है, उस पर या तो संतों का प्रभाव दिखाई देता है या वीर पुरुषों का। सन्तों की **'सन्त संस्कृति'** और वीरों की **'सैनिक संस्कृति'** अलग-अलग रही। ये सब सांस्कृतिक तत्त्व थे। सांस्कृतिक तत्त्व का एक लक्षण यह है कि मानवीय मूल्यों के विकास में जो-जो साधन सहायक होते हैं, वे सब सांस्कृतिक बन जाते हैं। एक जमाने में शस्त्र, सम्पत्ति और सत्ता, इन तीनों की भूमिका प्रगतिशील रही। यह करीब-करीब मार्क्स की व्याख्या है। जब हम कहते हैं कि हमें इनसे आगे जाना है, तो उसका यह मतलब नहीं है कि हम इन्हें पूर्णतः राक्षस समझ लेते हैं या अधम सत्ताएँ समझ लेते हैं। ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। यह अपने में प्रगतिशील थीं। जब इनमें से प्रगतिशीलता नष्ट होने लगी, तब यह कहना पड़ा कि अब सम्पत्ति, शस्त्र और सत्ता, तीनों का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया है। इसलिए अब जो मानवीय विभूति होगी, मनुष्य का जो व्यक्तित्व होगा, उसमें वीर, संत और नागरिक—इन तीनों का सामंजस्य होगा। इन तीनों के गुणों को लेकर समग्र मानव बनेगा।

प्रश्न है कि इनके लिए कोई आधार है ?

काल भगवान् की विभूति

देश और काल को भगवान् की विभूति मान लेना क्रांतिकारी दर्शन है। हम देश और काल को भी भगवान् की विभूति मान लेते हैं। लोग पूछते हैं कि घड़ी से कभी कोई क्रांति हुई है ? जेल में हमारे एक मामा थे। वे अपने घर के जमींदार हैं। बेचारे जेल में आ गये थे। उनसे लोग कहते थे, "मामा, अब भोजन का समय हो गया।" वे पूछते—"भला भोजन का भी कोई समय होता है ?" लोग कहते—"घंटी बज गयी।" "घंटी तो बज गयी, लेकिन पेट में तो नहीं बजी।" कहते—"वहाँ भोजन तो घंटी पर करना होता है, भूख के साथ नहीं। प्रार्थना भी घड़ी के साथ चलती है।" यों यंत्रीकरण के साथ समय एक यांत्रिक भूमिका लेकर आता है। यह समय का बिलकुल पृथक् दर्शन है।

समय का एक दूसरा दर्शन होता है, जिसे हम **'परिस्थिति का परिपाक'** कहते हैं। रोज ११ बजे घंटी बजती है। राममूर्तिजी और उनके साथियों

को बाद में ऐसी आदत पड़ती है कि भूख पहले लगती है, घंटी बाद में बजती है। इसके लिए 'मन से अपना काम' करने की बात हुई। उसमें से परिस्थिति का परिपाक हुआ। इसे 'मुहूर्त का तत्त्व' कहते हैं। समय भगवान् की विभूति बनकर आता है। देश विश्व की विभूति का एक प्रतीक हो जाता है। हमारा क्षेत्र विश्व की विभूति का एक प्रतीक हो, यह ग्रामीकरण और विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया है।

हमारा देश, हमारा क्षेत्र, ही हमारे लिए सब कुछ हो, यह 'स्थानिक सत्तावाद' है। जिस तरह से देश और काल की ओर देखने का एक तरीका है, उसी तरह से मनुष्य की ओर देखने के ये तीन तरीके थे।

विश्वात्मा और लोकात्मा

ज्ञानेश्वर महाराज ने लिखा है कि भगवान् विश्वात्मा है। परमात्मा तो कहा ही। लेकिन परमात्मा जिन लोगों ने कहा, उन लोगों ने भी उसे विश्वात्मा नहीं माना। सृष्टि में सब जगह वह भरा हुआ है, यह दिखाने के लिए 'विश्वात्मा' संज्ञा है। परमात्मा जिन लोगों ने कहा, उन लोगों से ये कुछ आगे जा रहे हैं। विज्ञान को अध्यात्म के साथ मिला रहे हैं। भगवान् विश्वात्मक है।

उसके बाद लोकशाहीवाला लोकनेता आया। उसने कहा कि लोकशाही के युग में भगवान् लोकात्मा बनकर आता है, जगदात्मा बनकर आता है। जगदात्मा के लिए उन्होंने सूत्र दिया—'जितने नागरिक हैं, वे सब बंधु हैं।' तो इसका मार्क्स ने वर्णन किया—दुनिया में जो सिद्धान्त जीर्ण हो गये हैं, उन सिद्धान्तों को शक्कर का पुट चढ़ाकर ये लोग हमारे सामने रख रहे हैं। उसने कहा कि अब लोकात्मा श्रमिकों के रूप में आयेगा। 'सब लोग भाई-भाई हैं'—इसे उसने क्रांतिकारी सिद्धांत नहीं माना। उसकी क्रांतिकारी प्रक्रिया है—'दुनियाभर के श्रमिको, एक हो जाओ।' गांधी ने कहा—"नहीं, इसे तो दरिद्रनारायण के रूप में देखना चाहिए। आज तो विश्वात्मा और परमात्मा दरिद्रनारायण के रूप में आया है।" मार्क्स ने संत का मत मानने से इनकार कर दिया। उसने कहा कि आज तक इन लोगों ने हमें अफीम खिला-खिलाकर

गाफिल कर रखा है। ये संत हमारे काम के नहीं हैं। पहला 'बुद्धिप्रामाण्यवादी' था, जार्ज जेम्स होलिओक। इस होलिओक ने पहले-पहले क्या कहा? यह मार्क्स से पहले आया था। इसने कहा कि "भगवान् की आधी तनख्वाह कम कर दो। इसका भोग आधा कम कर दो और आधा मनुष्य को दे दो।" मार्क्स उसके बाद आया। वह बोला कि 'भगवान्' का कोई उपयोग नहीं रह गया है।"

मार्क्स की विशेषता

जर्मन 'अभिजात दर्शनशास्त्र', ब्रिटिश 'अभिजात राजनैतिक अर्थशास्त्र' और फ्रेंच 'आदर्शवादी समाजवाद'—इन तीन मसालों से मार्क्स बना। भगवान् और पुजारी तो पहले ही उड़ा दिये गये थे, लेकिन मार्क्स ने तो सैनिक को भी उड़ा दिया। यह मार्क्स की विशेषता है। मार्क्स ने कहा कि "राष्ट्र में सेना नहीं होनी चाहिए। नागरिक को ही सैनिक बनाओ। सैनिक और नागरिक के बीच का अंतर समाप्त कर दो। उत्पादक और अनुत्पादक के बीच का अंतर मिटा दो।" मार्क्स ने इसके साथ-साथ बड़े मार्के की एक बात यह कही है कि सारी जनता को शस्त्र दे दो। सब लोगों को सैनिक बनाओ। इसके अलावा उसने दो और बातें कहीं कि श्रमिक के लिए श्रम जीविका का साधन नहीं होना चाहिए और परिश्रम जीवन की प्राथमिक आवश्यकता ही बन जानी चाहिए। वह कहता है कि जिस दिन मेरी क्रांति सफल हो जायगी, उस दिन दुनिया में युद्ध नहीं रहेगा। क्योंकि सभी जगह श्रमिकों की सत्ता हो जायगी। जिस दिन सर्वत्र श्रमिकों की सत्ता हो जायगी, उस दिन कोई किसीके खिलाफ लड़ाई नहीं करेगा। जब कोई व्यक्ति किसीके विरुद्ध युद्ध नहीं करेगा, तो हथियारों की भी जरूरत नहीं रहेगी।

सैनिकता का निराकरण

इस प्रकार मार्क्स ने सैनिकता के निराकरण की प्रक्रिया का पहला कदम यह बताया कि हथियारबन्द फौज अलग मत रखो; सब लोगों को हथियार दे दो। मार्क्स ने यह बहुत अच्छी बात कही। इस सिद्धांत को आज लागू कीजिये। क्या आज हर नागरिक को 'एटम बम' दिया जा सकता है? 'हाइड्रोजन बम' दिया जा सकता है? लोग कहेंगे कि हर नागरिक को तलवार और बंदूक दे

दो। पर तलवार और बंदूक तो अब सरकस की चीजें बन जायँगी। युद्ध के लिए उनका कोई उपयोग नहीं है। आज हम जिस स्थान पर पहुँचे हैं, वहाँ लोगों को सशस्त्र बनाने का अर्थ हो गया है निःशस्त्रीकरण। इसलिए आज आइसनहावर कहता है—"निःशस्त्रीकरण आज जीवन की आवश्यकता बन गयी है।" मार्क्स के सिद्धांत को ही लेकर हम विचार करें, तो आज इस बात की आवश्यकता है कि निःशस्त्रीकरण ही होना चाहिए, क्योंकि सबके हाथों में अब शस्त्र नहीं दिये जा सकते। सभ्यता के इतिहास में एक ही राजा—अशोक—का नाम आता है, जिसने कहा था कि आज से मैं हथियार फेंक देता हूँ। आज बुल्गानिन और ख्रुश्चेव कहते हैं कि हमने इतने हथियार फेंक दिये, अब तुम बताओ कि तुम कितने हथियार फेंकने के लिए तैयार हो? ये एक-दूसरे को निःशस्त्रीकरण की स्पर्धा के लिए चुनौती दे रहे हैं। निःशस्त्रीकरण की चुनौती इस युग की आकांक्षा और आवश्यकता में से उत्पन्न हुई है। सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना के लिए आज कालतत्त्व अनुकूल है। काल आज भगवान् की विभूति बनकर हमारी सहायता में आया है। अब यह ऐसी कोई बात नहीं रही कि गांधी कहे या विनोबा कहे, यह तो आज के राजनीतिज्ञ कह रहे हैं। भगवान् की विभूति बनकर जो कालतत्त्व आया है, जिसे आप 'आज का जमाना' कहते हैं, वह जमाना अब यह घोषणा कर रहा है कि निःशस्त्रीकरण के सिवा अब मानवीय मूल्यों की स्थापना नहीं हो सकती।

शस्त्र का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त

शस्त्र में दो प्रकार का सांस्कृतिक मूल्य था। एक तो उससे वीर-वृत्ति का विकास होता था और दूसरे दुर्बलों का संरक्षण होता था। ये दो मूल्य जब तक थे, तब तक सांस्कृतिक विकास के तत्त्व शस्त्र में थे। आज ये दोनों नहीं हैं, इसलिए शस्त्र का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया। राष्ट्रीय संरक्षण के लिए कभी शस्त्र का कुछ मूल्य था, लेकिन आज की युद्धकला में संरक्षण की योजना कम है, आक्रमण की योजना अधिक है। संरक्षण के लिए ऐसे कोई उपाय नहीं हैं, जिन पर विश्वास किया जाय। पहले जहाँ युद्ध संरक्षण-प्रधान था, वहाँ

अब वह आक्रमण-प्रधान बन गया है। ऐसी परिस्थिति में युद्ध और शस्त्र, दोनों का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो जाता है।

सैनिक और नागरिक में भेद न हो, यहाँ तक मार्क्स ने हमें लाकर पहुँचा दिया। अब हम यह कहते हैं कि नागरिक और सैनिक में भेद न हो, इसके लिए निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता है। अहिंसा के सिवा अब कोई चारा नहीं रह गया। अब मनुष्य को मानवीय विभूति में परिणत होना होगा। विनोबा 'विश्व मानव' की बात कह रहे हैं। मनुष्य को विश्व के आकार का बनना होगा।

जनता की आवश्यकता

वैज्ञानिक क्रान्ति के सिद्धान्तों में मार्क्स ने दूसरी बात यह कही कि उसका अनुबन्ध केवल समय की आवश्यकता के साथ होना ही काफी नहीं, जनता की आवश्यकताओं के साथ होना चाहिए। जनता का स्वार्थ ही नहीं, उसका वास्तविक हित और उसकी प्रधान आवश्यकता, इन दोनों के साथ उसका सम्बन्ध, उसका अनुबन्ध होना चाहिए, तब क्रांति आगे बढ़ती है। एक प्रश्न के उत्तर में मार्क्स ने कहा कि दर्शन और सिद्धान्त भी तब समाज-क्रान्ति के साधन बन जाते हैं, जब सिद्धान्त को सर्वसाधारण मनष्य की बुद्धि ग्रहण कर लेती है।

तीन बातें मैंने बतायीं—

शस्त्र का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया है।

यंत्र का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया है।

प्रचलित लोकतन्त्र का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया है।

'स्वार्थ' और 'हित' का अन्तर

जब एक वर्ग का हित समाज-हित बन जाता है, तभी उस वर्ग की क्रान्ति समाज-क्रान्ति होती है। यह सिद्धान्त कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में मार्क्स ऐंगल्स ने लिखा। क्रान्तिकारी वर्ग वह वर्ग है, जिसका स्वार्थ समाजव्यापी बन जाता है। स्वार्थ और हित में अन्तर है। आपका स्वार्थ मेरा हित है। इससे अगला कदम है—आपका हित और मेरा हित, दोनों का हित; यह

'परमार्थ' कहलाता है। परार्थ मेरे लिए हित है, आपके लिए स्वार्थ है। आरम्भ यहाँ से होता है कि मैं आपका सुख देखूँ, अपना हित देखूँ। लोकतन्त्र की आज की प्रक्रिया यह है कि आप अपना अधिकार देखें, मैं अपना अधिकार देखूं। आप अपना कर्तव्य देखें, मैं अपना कर्तव्य देखूँ। आज का प्रचलित लोकतन्त्र यहाँ तक पहुँचा है। पर, सर्वोदय का लोकतन्त्र यह होगा कि मैं आपका अधिकार देखूंगा, अपना कर्तव्य देखूंगा। उसी तरह से अब हम यह विचार कर रहे हैं कि आपका स्वार्थ मेरा हित है। आगे चलकर आप भी देखने लगेंगे कि मेरा स्वार्थ आपका हित है। आप मेरे सुख में अपना हित देखेंगे, मैं आपके सुख में अपना हित देखूंगा। दोनों जब एक-दूसरे का सुख देखेंगे, तो दोनों हित का विचार करेंगे। **स्वार्थों में टक्कर होती है, हितों में टक्कर कभी नहीं होती।** दोनों का हित हम देखने लगेंगे। इसका विनियोग आज की परिस्थिति में कैसे हो?

मार्क्स का क्रान्ति-दर्शन

मार्क्स ने क्रान्ति का एक दर्शन किया। उसके सामने कुछ सिद्धान्त आये। व्यक्ति कितना भी बड़ा क्यों न हो, अपने जमाने की जो परिस्थिति होती है, उस परिस्थिति में उसे विचार करना पड़ता है। यह **'देश की विभूति'** कहलाती है। मार्क्स जर्मनी के जिस राइनलैंड में पैदा हुआ, वहाँ की परिस्थिति उसके सामने थी। उस समय यूरोप में व्यापारवाद और यन्त्रवाद का विकास हो रहा था। उसका एक चित्र उसके सामने था। उस चित्र को उसने अपने सामने रखा और क्रान्ति का यह नक्शा दुनिया के सामने पेश किया कि यन्त्रों के सबब से वह जमाना आनेवाला है, जब सम्पत्तिधारी कम होंगे और श्रमिक बढ़ते चले जायेंगे। सम्पत्तिधारियों की संख्या इतनी कम होती चली जायगी कि वह कुछ दिनों के बाद नगण्य हो जायगी। हो सकता है कि वह एक तक पहुँच जाय।

मार्क्स ने यह नकशा देखा कि संपत्तिधारी कम होंगे, श्रमजीवी ज्यादा, इसलिए श्रमजीवियों का स्वार्थ समाज का स्वार्थ हो जायगा। वर्ग-स्वार्थ और समाज-हित, दोनों एक हो गये, यह उसकी प्रक्रिया थी। मार्क्स के सामने यह नकशा था कि संपत्तिहीन वर्ग बढ़ता चला जायगा, जो किसान हैं, वे किसान

भी क्रमशः मजदूर बनते चले जायँगे और धीरे-धीरे सब मजदूर ही मजदूर हो जायँगे। कारखाने में दो बातें होती हैं। एक, मालिक कम और मजदूर ज्यादा। दूसरी, मेहनत मजदूर की, दौलत मालिक की। याने मजदूर अपना काम नहीं करता, मालिक का करता है। इसलिए सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति में सबसे प्रभावशाली अस्त्र है—हड़ताल। दूसरे का काम जहाँ आप करते हैं, वहाँ हड़ताल सबसे ज्यादा प्रभावशाली होती है।

आज विद्यार्थियों की हड़तालें क्यों प्रभावशाली हो रही हैं? बाप पढ़ाना चाहता है, बेटा पढ़ना नहीं चाहता। मास्टर सिखाना चाहता है, विद्यार्थी सीखना नहीं चाहता। इसलिए हड़ताल होती है। याने जहाँ दूसरे का काम होता है, वहाँ हड़ताल हो सकती है। जहाँ दूसरे का काम हो, वहाँ काम से हड़ताल कर दी, काम बंद हो गया। महाराजिन नहीं आयी। हमसे कहती है कि "तुम्हारे यहाँ ज्यादा मेहमान आ गये, हम आज नहीं आयेंगी।" हमारा बेटा कहता है कि "नहीं आओगी, तो तनख्वाह नहीं देंगे।" "तनख्वाह नहीं दोगे, तो रोटी थोड़े ही बननेवाली है!" यह हड़ताल का मर्म है।

कृषि-प्रधान अर्थशास्त्र

संसारभर में कारखानेदारी ज्यादा बढ़ नहीं सकती। संसार के सामने लोकसंख्या का प्रश्न है। लोकसंख्या का प्रश्न अन्न का प्रश्न है और अन्न के प्रश्न का अर्थ है कृषि का उत्पादन। इसलिए अब संसारभर का अर्थशास्त्र कृषिकेंद्रित अर्थशास्त्र होगा। अन्यथा, अन्न की समस्या कभी हल नहीं हो सकेगी और उसके बिना लोकसंख्या की समस्या केवल परिवार-नियोजन और उस तरह के बाह्य उपचार आदि से हल नहीं होनेवाली है। जब सांस्कृतिक दृष्टि और आर्थिक दृष्टि से इस समस्या को हल करेंगे, तो सारी अर्थनीति को बदल देना होगा। अर्थनीति की बुनियाद ही अब खेती होगी। कृषि-प्रधान अर्थशास्त्र होगा, तो उसी ढंग का उसका नकशा होगा। कृषि में मालिक ज्यादा होते हैं, मजदूर कम होते हैं और कारखाने में मालिक कम, मजदूर ज्यादा होते हैं। कारखाने में मजदूर अपना काम नहीं करता, खेती में किसान अपना काम करता है। स्पष्ट है कि अपना काम करनेवाला हड़ताल क्या करेगा?

किसानी में हड़ताल क्या ? पहले मजदूर आगे था और उसके साथ किसान। पर अब यह क्रम वदल जाता है। किसान मुख्य हो जाता है। इसलिए किसान का स्वार्थ समाज-हित वन जाना चाहिए। तव हमारा सिद्धांत क्रांतिकारी तत्त्व बनेगा। आज हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि समाज में छोटे-छोटे मालिकों की संख्या अधिक होने के कारण नागरिकों का स्वार्थ ही क्रांति का कारण वनेगा। नागरिकों की आवश्यकता के साथ क्रांति का अनुबन्ध होगा।

नागरिक की क्रान्ति

नागरिकों की आवश्यकताएँ मैंने वतायीं। पहली आवश्यकता अब यह पैदा हो गयी है कि वीर की क्रांति नहीं होगी, संत की क्रांति नहीं होगी, अब जो क्रांति होगी, वह नागरिक की क्रांति होगी। नागरिक की क्रांति के लिए नागरिक के पुरुषार्थ की प्रेरणा जाग्रत होनी चाहिए। नागरिक में पुरुषार्थ की प्रेरणा जाग्रत करने के लिए मानवीय विभूति का आदर्श रखना होगा। हम मनुष्य को ही विभूति मानेंगे। अव जो क्रांति होगी, वह राज्यनिष्ठ नहीं, लोकनिष्ठ क्रांति होगी। मार्क्स की वैज्ञानिक प्रक्रिया थी, सैनिकता को नागरिकता में परिणत करना। आज सैनिकता को नागरिकता में परिणत करने के लिए निःशस्त्रीकरण के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं है। निःशस्त्रीकरण केवल एक अभावात्मक कदम है। उस अभावात्मक कदम से काम नहीं चलनेवाला है। भावरूप योजना की आवश्यकता होगी। इस भावरूप योजना के लिए क्रांति की प्रक्रिया नवीन होगी। मार्क्स के सामने मजदूरों की क्रांति का जो नकशा था, वह पूरा-का-पूरा नकशा अब बदल गया है। क्रांति के जो केंद्र-विन्दु थे, वे केंद्र-विन्दु वदल गये हैं। इसलिए क्रांति की विभूति बदल गयी है। क्रांति की विभूति वह होगा, जिसकी आँख में क्रांति का दर्शन कर सकने की शक्ति आयेगी। आज वह शक्ति किसान की आँख में आयेगी। और किसान की आँख में जो शक्ति आयेगी, वह उन लोगों के दर्शन से आयेगी, जिनकी बुद्धि और जिनके हृदय किसान की आवश्यकताओं और उसके वास्तविक हित-संबंधों के साथ एकरूप हो गये हों।

क्रान्ति की प्रक्रिया

विज्ञान आज सांस्कृतिक आधारों के विना निःसत्त्व हो गया है। सत्ताधारियों के प्रभुत्व में वैज्ञानिक आज परेशान हो रहे हैं। वैज्ञानिकों को उवारने के लिए आज यदि सैनिक सामने आता है, तो उसमें ऐसी शक्ति नहीं। सैनिक वज्ञानिकों को उवार नहीं सकता, राजनीतिज्ञ वैज्ञानिकों को उबारना नहीं चाहता। दूकानदार और सौदागर वैज्ञानिक को मुनाफे का दलाल बनाना चाहते हैं और सत्ताधारी लोग वैज्ञानिक को 'पोलिंग एजेंट' बनाना चाहते हैं। इसलिए ये दोनों वैज्ञानिक को नहीं उबारेंगे। सीधी-सी वात यह है कि वैज्ञानिक को साधारण नागरिक उबारेगा। साधारण नागरिक वैज्ञानिक को उबारे, तो उसके व्यक्तित्व में कुछ विशिष्ट गुणों का विकास करना होगा, विज्ञान की ओर से उसका रुख बदल देना होगा। सृष्टि को भोग्य वस्तुओं का भंडार नहीं, भगवान् की विभूति मानना होगा। मैं जब पशु-शक्ति का विचार करता हूँ, तो पशु के लिए भी मैं वही कहता हूँ। उसे भी भगवान् की विभूति के रूप में ही देखना होगा। हमें जीवन की ही आवश्यकता के रूप में श्रम का विचार करना होगा। इसके विकास की प्रक्रिया का क्रम ऐसा होगा कि मैं पहले दूसरे के सुख में अपना हित देखूँगा, दूसरा मेरे सुख में अपना हित देखेगा। लेकिन हम दोनों निरपेक्ष रहेंगे। हम एक-दूसरे के लिए रुकेंगे नहीं। जब सव एक-दूसरे के सुख का विचार करने लगेंगे, तो हमारा सुख, हमारा स्वार्थ और समाज का हित एकरूप हो जायगा।

इस दिशा में वढ़ने के लिए हमने पहले विश्वात्मा को, लोकात्मा को लिया। और फिर सर्वहारा, दरिद्रनारायण को। पूंजीवाद के ही विकास में से पूँजीवाद का ह्रास होने लगा और जैसे-जैसे वह क्षीण होने लगा, सम्पत्ति बिखरती चली गयी और सुख बिखरता चला गया। अब जो क्रान्ति होगी, उस क्रान्ति में सैनिक या वीर का नहीं, सारी जनता का पुरुषार्थ होगा। अव सारी जनता इतिहास का निर्माण करेगी। साधारण नागरिक की क्रान्ति की जो प्रक्रिया होगी, वह प्रक्रिया आज इस देश में हमारे सामने एक व्यावहारिक प्रयोग के रूप में विद्यमान है।

विनोबा की सफलता

लोगों ने मुझसे प्रश्न किया है कि "क्या '५७ में विनोबा सफल हो जायेंगे ?" मैंने कहा कि मैं नहीं जानता कि विनोबा सफल होंगे या नहीं होंगे। मेरे सामने तो वह सवाल ही नहीं है। मेरे सामने तो यह सवाल है कि हम सफल होंगे या नहीं होंगे। विनोबा तो सफल होंगे ही। उनकी सफलता में कोई शंका नहीं रह गयी है। क्योंकि उनकी सफलता इस वस्तु में है कि उन्होंने हमारी बुद्धि में इस बात का एक प्रत्यय पैदा कर दिया कि सत्ता-निरपेक्ष और शस्त्र-निरपेक्ष आर्थिक क्रान्ति की प्रक्रिया हो सकती है। जो वस्तु दुनिया पहले मानने को ही तैयार नहीं थी, उसे उन्होंने प्रस्थापित कर दिया। अब '५७ की सफलता या असफलता तो आप लोगों के प्रत्यय पर निर्भर है। आप लोगों में जो स्फूर्तिमान्, पुरुषार्थवान् होंगे, वे सफल क्यों नहीं होंगे? पहले से ही हम यह क्यों कहें कि हम सफल नहीं होंगे। अंग्रेजों के जमाने में लोग पूछते थे कि "क्या अंग्रेज दरअसल चले जायँगे?" मैंने कहा--"यह मुझसे क्यों पूछ रहे हो? ज्योतिषी से पूछो। तुम अपने से पूछो कि अंग्रेज न गये, तो हम क्या करेंगे। ये न गये, तो हम सिर्फ इतना ही कहेंगे कि गांधी के तरीके से अंग्रेज नहीं गये।" यह सारा विवेचन मैंने इसलिए किया कि हमारे सामने दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है।*

❀ ❀ ❀

---

* खादीग्राम में शिविरार्थियों के बीच २९-१२-'५६ का प्रातः-प्रवचन।

सर्वोदय के सांस्कृतिक आधार (२)   : २० :

हमें सोचना है कि क्रान्ति का सांस्कृतिक आधार क्या होगा। कारण, मैं बता चुका हूँ कि शस्त्र में, यन्त्र में और प्रचलित लोकतन्त्र में सांस्कृतिक क्रान्तिकारी तत्त्व नहीं रह गया है। दुनिया में किसी क्रान्ति का ध्येय कभी राजनैतिक और आर्थिक हो ही नहीं सकता। मूल्य और आदर्श न तो कभी राजनैतिक होते हैं, न कभी आर्थिक होते हैं। जितने भी आदर्श और मूल्य होते हैं, वे सब पारमार्थिक होते हैं। उन्हें चाहे आध्यात्मिक कह लीजिये, चाहे पारमार्थिक। उन्हें सांस्कृतिक भी कह सकते हैं।

'संस्कृति' का अर्थ

यहाँ हम यह भी देख लें कि संस्कृति का अर्थ क्या है। मार्क्स के बाद बने समाज-शास्त्रों में संस्कृति की परिभाषा की गयी है, एक विशेप प्रकार का आचरण। संस्कृति की एक पद्धति है कि अपने से बुजुर्ग आदमी मिलते ही हम उसके चरण छू लेते हैं। कुछ अन्य लोग उसके मिलने पर उसका हाथ चूम लेते हैं। ये दोनों संकेत अलग-अलग हैं, लेकिन उनका आशय एक है। ऐसे आचरण को कुछ लोग 'संस्कृति' कहते हैं। यांत्रिक उपकरणों के साथ संस्कृति बदलती है, ऐसा लोग आजकल कहने लगे हैं। टेक्निक के साथ नकशा बदलता है, संस्कृति नहीं बदलती। 'टेक्नालॉजी' में जो परिवर्तन होता है, उसके साथ नकशा और व्यवहार बदलता है, संस्कृति नहीं बदलती। शिविर में आये विभिन्न प्रान्तों के लड़कों की पोशाकें एक तरह की हैं। लेकिन पूर्णिया और सिंहभूम का झगड़ा होगा, तो बिहारी बुशकोट और बंगाली बुशकोट एक-दूसरे से झगड़ने लगेंगे। मतलब, आशय नहीं बदला है, आकृति बदली है। यंत्रीकरण से बाहरी एकरूपता आ जाती है। लेकिन बाहरी एकरूपता सांस्कृतिक एकता नहीं है। वह बुद्धि की और हृदय की एकता नहीं है। यन्त्रीकरण के साथ समानरूपता आती है। बाहरी नकशा एक प्रकार का हो सकता है,

लेकिन उतने से 'मूल्य' एक नहीं हो सकते। आज संस्कृति का जो संकुचित अर्थ है, उसे भुला देना चाहिए। 'संस्कृति' का असली अर्थ है—'जीवन में साझेदारी।' दूसरे के जीवन में शामिल होना और दूसरे को अपने जीवन में शामिल करना 'संस्कृति' है। यह जिन्दगी की साझेदारी, यह शराकत, तहजीब, 'कलचर' या संस्कृति कहलाती है।

यूनानी दंतकथा

यूनानी पुराणों में एक दंतकथा आती है कि दो भाई हैं। इनसे कहा गया कि सृष्टि की रचना करो। पहले एक-एक प्राणी बनाया और उसमें अपनी सारी करामात खर्च कर डाली। किसीको उसने पंखों से विभूषित किया, किसीको रोयें या ऊन से। किसीको पंख दिये, किसीको सींग दिये, किसीको दाँत या नाखून। किसीको हिम्मत दी, किसीको चालाकी। किसीको ताकत दी, किसीको स्फूर्ति। पर जव वह मनुष्य वनाने बैठा, तो इसे देने के लिए उसके पास कुछ नहीं रहा। दूसरे प्राणियों और सृष्टि से मुकावला करने के लिए इसके शरीर में कोई योजना वह नहीं कर पाया। इसलिए मनुष्य जब बना, तो वह सबसे 'बेचारा' वन गया। उसके पास कुछ भी नहीं रहा। दाँत भी नहीं, नाखून भी नहीं, सींग भी नहीं, पंख या रोयें भी नहीं! दूसरा भाई हैरान रह गया! बड़ी मुश्किल से इधर-उधर से खोजकर आग लाया और मनुष्य से कहने लगा कि तू आग ले ले। तेरे पास कुछ तो हो, जिससे तू दूसरे जानवरों से अपना संरक्षण कर सके। लेकिन इतने से ही तो काम नहीं चल सकता था।

दूसरे दो भाई थे। एक को भगवान् ने वरदान दे दिया कि "तू अमर होगा।" दूसरा भी बड़ा गुणवान् था, उससे कहा कि "तुझमें पुरुषार्थ होगा, बुद्धिमत्ता होगी, तरह-तरह के गुण होंगे। लेकिन तुझमें एक दोष यह होगा कि तू अल्पायु होगा।" अव ये दोनों बैठे। बड़े भाई को वहुत शोक हुआ कि भगवान् ने दिया भी तो डेढ़ वरदान दिया। पूरे दो नहीं दिये। वह भगवान् के पास गया और बोला—"भगवन्, एक वरदान और दे दीजिये, तो हमारा काम चल जायगा।" पूछा—"कौनसा वरदान चाहिए?" बोला—"मुझे

यह वरदान दे दीजिये कि मैं अपनी अमरता को बाँट सकूँ और इसकी अल्पायु में शामिल हो सकूँ।"

सुख-दुःख बाँटने की कला

मृत्यु को और जिन्दगी को बाँट लेने की जो शक्ति है, वह मनुष्य की बुद्धि-शक्ति कहलाती है। यह पशु में नहीं है। मनुष्य की जीवन-शक्ति शस्त्र में नहीं है, यन्त्र में नहीं है, राज्य में नहीं है, मनुष्य की जीवन-शक्ति जिन्दगी को बाँटने की उसकी कला में है। उसकी जीवन-शक्ति इसीमें है कि वह जीवन को बाँट सके, मृत्यु को बाँट सके। मृत्यु को बाँटने से मृत्यु समाप्त हो जाती है, जीवन को बाँटने से जीवन अनन्त हो जाता है।

हमारे एक सम्बन्धी का पुत्र मर गया। हमें इस बात का पता बहुत देर में चला। उसने हमें चिट्ठी लिखी कि "आखिर आपने हमें सहानुभूति के दो शब्द भी नहीं लिखे!" एक मित्र ने हमसे कहा कि "आप दो शब्द लिख देते, तो क्या होता? क्या उससे उसका मरा हुआ बेटा वापस आ जाता?" मैंने कहा—"मरा हुआ वापस तो नहीं आ जाता। पर इस बारे में आप उसीसे पूछिये।" उससे पूछा, तो उसने कहा कि "हमारा पुत्र तो वापस नहीं आता, लेकिन दुःख हलका हो जाता!" आँसू बाँट लेने से पुछ जाते हैं। हँसी बाँट लेने से अनन्त हो जाती है। दुःख बँटता है, तो हलका हो जाता है और सुख बँटता है, तो दुगुना हो जाता है। यह दुःख और सुख का फर्क है।

हमारे सामने प्रश्न यह है कि जो लोग पड़ोसी बन गये हैं, वे भाई कैसे बनें? पड़ोसी यदि मित्र नहीं बनते, तो 'पड़ोसी' महाभयानक वस्तु है। एक अंग्रेज लेखक ने पड़ोसी का वर्णन किया है कि "वह प्रकृति की लापरवाही और भयंकरता के साथ आता है।" भगवान् और नियति चाहे जिसको आपका पड़ोसी बना देती है। दोस्त आप बना सकते हैं, दुश्मन आप बना सकते हैं। दोस्त या दुश्मन बनाना आपके हाथ की बात है, पड़ोसी को बनाना आपके हाथ की बात नहीं है। आपको ही वहाँ से हट जाना पड़ेगा, तभी पड़ोसी जा सकता है। वह लिखता है कि पड़ोसी कोई गाय, भैंस, बैल होता, तब भी चल जाता, पर वह मनुष्य है, इसलिए सारे प्राणियों में भयंकर है।

वह कोई भी हो सकता है। पड़ोसी संयोग से होता है, वह हमारे लिए मानवता का नमूना है।

सांस्कृतिक समस्या

यह सांस्कृतिक समस्या है। विज्ञान मनुष्यों को पड़ोसी बना सकता है, लेकिन पड़ोसियों को दोस्त बना देना विज्ञान की शक्ति के बाहर की वस्तु है। भैंस का एक पाड़ा ठंड में पड़ा छटपटा रहा है। छोटा लड़का उसे देखता है और रोने लगता है। उसके पास ओवरकोट है, शाल है। पर वह छटपटाता है और रोता है! विज्ञान के पास इसका क्या जवाब है? विज्ञान केवल इतना बतला सकेगा कि यह काँप क्यों रहा है। कहेगा, इसकी फलाँ मांस पेशी पर फलाँ परिणाम हुआ है। लेकिन 'यह क्यों रो रहा है?' इसका जवाब विज्ञान नहीं दे सकता। सत्यनारायण की कथा में एक लड़के को प्रसाद में एक पेड़ा मिलता है। वह कहता है कि "मैं यहाँ नहीं खाऊँगा, छात्रालय में जाकर खाऊँगा।" वह छात्रालय में जाता है। वहाँ उसका दोस्त समझता है कि इसने तो एक पेड़ा खा ही लिया होगा। दूसरा पेड़ा मेरे लिए लेकर आया है। वह समूचा पेड़ा उठाकर खा लेता है। लेकिन खाता है वह, पर मजा आता है इसे! भला कौनसा विज्ञान इसका जवाब दे सकता है?

आज की समस्या विज्ञान की शक्ति से बाहर की है। इसलिए जो लोग यह समझते हैं कि विज्ञान से क्रान्ति होगी, वे लोग क्रान्ति की समस्या को ही नहीं समझते। विज्ञान हमें जहाँ तक लाकर पहुँचा सकता था, वहाँ तक उसने पहुँचा दिया है। अब इससे आगे विज्ञान की गति नहीं है। लोग पूछते हैं कि क्या आप विज्ञान से इनकार करना चाहते हैं? हम विज्ञान से बिलकुल नहीं इनकार करना चाहते। विज्ञान को आज दो सवारियाँ मिली हैं—एक लाभ और दूसरी सत्ता। हम विज्ञान को उबारना चाहते हैं। इसके लिए उसका आशय ही बदलना होगा। विज्ञान अपने में तटस्थ है, क्योंकि वह जड़ है। मोटर हमारी गति को बदल सकती है, पर वह हमारे मुकाम को, उद्देश्य को नहीं बदल सकती। मुझे सोखोदेवरा जाना है या मुझे गया जाना है, यह मोटर नहीं कह सकती। इसलिए मनुष्य के जो ध्येय या आदर्श होते हैं, वे

हमेशा वैज्ञानिक भी नहीं होते, आर्थिक भी नहीं होते और राजनीतिक भी नहीं होते, वे मानवीय होते हैं। यह समस्या है और इसे विज्ञान नहीं हल कर सकता।

क्रान्तियों के सुपरिणाम

आज तक जितनी क्रान्तियाँ हुई हैं, उनमें सबसे अधिक वैज्ञानिक विचार-पद्धति कम्युनिस्टों की रही। लेनिन की क्रान्ति दुनिया की सबसे पहली अन्त-र्राष्ट्रीय क्रान्ति थी। रूस और चीन की क्रान्तियाँ दुनिया की पहली वैज्ञानिक क्रान्तियाँ हैं। मानव-समाज के इतिहास में मनुष्य ने जो कुछ प्राप्त किया है, जहाँ तक हम आ पहुँचे हैं, उनमें इन दो क्रान्तियों का बहुत बड़ा हिस्सा रहा है। आज दुनिया में 'मार्क्सवादी' लोग तो हैं, लेकिन मार्क्स के सिद्धान्तों पर चलने-वाले बहुत कम हैं। वैज्ञानिक क्रान्ति का विज्ञान और क्रान्ति की कला का शास्त्र देनेवाला पहला व्यक्ति मार्क्स था। लेनिन और माओ की क्रान्तियाँ बड़ी वैज्ञानिक हैं। लेनिन की क्रांति ने संसार में कई महत्त्वपूर्ण बातें कीं—

१. पहली बात तो यह की कि अपने-अपने देश में उन्होंने सामंतशाही और पूँजीवाद को समाप्त कर दिया। आमदनियों में अन्तर भले ही बना रहा हो, लेकिन सामंतशाही और पूँजीवाद को उन्होंने समाप्त कर दिया।

२. दूसरी बात यह की कि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण कर दिया। उसे राज्यीकरण भी कहा जा सकता है। उन्होंने उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर दिया।

३. तीसरी बात यह की कि जिस रूस को कोई पूछता नहीं था, उसे विश्व के राष्ट्रों की प्रथम पंक्ति में लाकर बैठा दिया।

४. चौथी बात यह की कि एशिया और अफ्रिका में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के जितने प्रयत्न हुए, उन्हें बहुत बड़ी गति दे दी।

५. पाँचवीं बात यह की कि ज़ार के जमाने में रूस के किसान और मजदूर जिस हालत में थे, उससे आज कहीं अच्छी हालत में उन्हें ला दिया है।

सवाल है कि फिर झगड़ा कहाँ है ? झगड़ा यह है कि क्रान्ति में इतना काफी नहीं है कि मनुष्य की भौतिक स्थिति सुधरे। क्रान्ति इसलिए है कि

मनुष्य के जीवन का आशय ही उन्नत हो। समस्या यह है कि आज तक मनुष्य जितना दूसरों के साथ मैत्री से रहा है, उससे अधिक मित्रता में वह दूसरों के साथ रह सके। वैज्ञानिक दृष्टि से उन लोगों ने सोचा और इस बात की कोशिश की कि हम विज्ञान से एक-एक समस्या को हल करते चले जायें।

वेश्या-व्यवसाय की समस्या

मैं बहुत-सी समस्याओं को छोड़ देता हूँ, केवल एक ऐसी समस्या लेता हूँ, जिससे यह वस्तु पूर्णतः स्पष्ट हो जाय। वेश्या-व्यवसाय की समस्या विश्व की एक बहुत बड़ी सामाजिक समस्या है। स्त्रियों को वोट का अधिकार दे दिया गया। स्त्रियाँ यदि चाहें और अवसर हो, तो वे प्रधानमन्त्री बन सकती हैं, राष्ट्रपति भी बन सकती हैं। इतना अधिकार स्त्रियों को मिला है। लेकिन आज भी समाज में स्त्री के शरीर और रूप का विक्रय होता है। प्रश्न है कि इस समस्या को कैसे हल करें? वेश्याओं की समस्या कम्युनिस्टों के लिए नैतिक समस्या नहीं है। उनके लिए यह भौतिक और आर्थिक समस्या है। उन्होंने भौतिक भूमिका से इसे हल करने की कोशिश की। इसके लिए उन्होंने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि समाज में किसी स्त्री को अपना रूप और अपना शरीर बेचने की आवश्यकता ही न रहे। दुनिया में रूस और चीन, दो ही देश ऐसे हैं, जहाँ वेश्या-व्यवसाय नहीं है। बाकी सारे देश नीतिमत्ता की डींग तो हाँकते हैं, पर वेश्या-व्यवसाय सर्वत्र है। हमारा देश नीतिमत्ता की सबसे ज्यादा डींग हाँकता है, पर यहाँ के तीर्थ-स्थानों में सबसे ज्यादा चकले हैं। यह देश और दूसरे कई देश वेश्या-व्यवसाय का निराकरण नहीं कर सके।

एक कम्युनिस्ट ने एक पुस्तक लिखी है—'पाप और विज्ञान', जिसमें बताया है कि पाप का प्रतिकार विज्ञान से किस प्रकार किया जाय। उसमें उन्होंने अपनी योजना लिखी है। उस योजना में यह आया है कि हम विज्ञान द्वारा वेश्या-व्यवसाय का प्रतिकार करेंगे। विज्ञान ने वेश्या-व्यवसाय तो समाप्त कर दिया, किन्तु समाज में हर स्त्री को हर पुरुष की बहन बना दे, कृष्ण और द्रौपदी जैसा सम्बन्ध पैदा कर दे, ऐसी क्षमता किसी विज्ञान में नहीं है।

सामाजिक ब्रह्मचर्य

आपकी बहन दूसरे के लिए अनाक्रमण का विषय रहे, इतना विज्ञान कर सकता है। राज्य भी ऐसा कर सकता है। मेरी माँ सुरक्षित रहे, ऐसी व्यवस्था विज्ञान भी कर सकता है, राज्य भी कर सकता है। लेकिन मेरी माँ को आप अपनी माँ मानें, यह कोई राज्य और कोई विज्ञान नहीं कर सकता। यही वह स्थान है, जहाँ पर पहुँचकर जयप्रकाश बाबू का हृदय-परिवर्तन हुआ। वे कहने लगे कि "भौतिक प्रेरणा पर्याप्त नहीं है।' राज्य अधिक-से-अधिक इतना कर सकता है, विज्ञान इतना कर सकता है कि वह हर स्त्री को सुरक्षित कर दे। वेश्या-व्यवसाय को विज्ञान रोक सकता है, पर व्यभिचार को कौनसा विज्ञान रोक सकता है? समाज में ब्रह्मचर्य के मूल्य की स्थापना कोई विज्ञान नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य के मूल्य का अर्थ यह है कि हर स्त्री मेरे लिए माँ हो और हर स्त्री के लिए मैं या तो पुत्र रहूँ, भाई रहूँ या पिता रहूँ। इसे 'सामाजिक ब्रह्मचर्य' कहते हैं। इसलिए अब इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हर मनुष्य स्वतन्त्र हो जाय। आवश्यकता इस बात की है कि हर मनुष्य, हर व्यक्ति को हम भगवान् की विभूति मानें। हर स्त्री माँ होती है, तो भगवान् की विभूति बन जाती है। हर पुरुष उसका पुत्र, भाई या पिता होता है, तो भगवान् की विभूति बन जाता है।

विज्ञान और लोकतन्त्र हमें यहाँ तक पहुँचा गया कि हर स्त्री-पुरुष का वोट एक समान है। स्त्री और पुरुष, दोनों बराबर हैं। हर पिता माँ की कोख से पैदा होता है और हर माँ के पिता होता है, इसलिए ये दोनों बराबर हैं। समाज-विज्ञान यहाँ तक लाकर हमें छोड़ गया। लेकिन समाज-विज्ञान या राज्य, दोनों हमें यहाँ तक नहीं ले जाते कि आप मेरे शरीर को पवित्र मानें और मैं आपके शरीर को पवित्र मानूँ। अगर व्यक्तियों के सम्बन्ध में पवित्रता की भावना नहीं आयेगी, तो लोकतन्त्र चरितार्थ नहीं हो सकता। इतना तो आवश्यक ही है कि जहाँ पर कोई पुलिसवाला या फौजवाला नहीं है, वहाँ मेरे सामने बैठे लड़कों की बहुएँ मेरे पास सुरक्षित रहें और मेरी बेटी इन लड़कों में सुरक्षित रहे। इसके लिए यदि पुलिस की, फौज की और राज्य की जरूरत होगी, तो फिर बर्बरता किसका नाम है? अब इसी बात को नागरिकत्व

के लिए लागू कर लीजिये। गांधी को मारने के लिए जो सजा है, वही सजा भिखारी को मारने के लिए है। कानून यहाँ तक हमें पहुँचा देता है। लेकिन उस भिखारी के शरीर को मैं पवित्र मानूँ, यह कौनसा कानून कर सकता है?

प्रेरणा का सांस्कृतिक मूल्य

आज क्रान्ति की आकांक्षा क्या है? बार-बार लोग पूछते हैं कि कानून से क्यों नहीं करा लेते, तलवार से क्यों नहीं करा लेते? सोचने की बात है कि क्या तलवार कभी आदमी को मिलाने के लिए दुनिया में पैदा हुई थी? तलवार से हार-जीत होती है। तलवार से समस्या हल नहीं होती। आपसी झगड़े में हमने अपने भाई को मार डाला, तो भाई हल हो गया, पर समस्या हल नहीं हुई। समस्या हल करने का मतलब यह है कि भाई दोनों मौजूद हैं, लेकिन झगड़ा समाप्त हो गया। उत्पादन के उपकरण और उत्पादन के साधन अनुत्पादकों के हाथ में नहीं जाने चाहिए, इतना ही पर्याप्त नहीं है। इतनी क्रान्ति तो हमें लेनिन सिखा गया, मार्क्स सिखा गया। लेकिन इतने से ही काम नहीं चलेगा। हमें इससे आगे बढ़ना होगा। गांधी को मारो तो भी फाँसी, भिखारी को मारो तो भी फाँसी—इतना कानून कर सकता है। लेकिन भिखारी के शरीर को पवित्र मानूँ, मानव-शरीर मानूँ और जब तक भिखारी नहीं खा रहा है, तब तक मैं दूध, घी खाता भले ही रहूँ, लेकिन बेचैनी बनी रहे कि यह मैं ठीक नहीं कर रहा हूँ, यह करुणा और यह सहानुभूति कोई विज्ञान, कोई राजनीति, मेरे मन में पैदा नहीं कर सकती। यह है 'भलाई की विधायक प्रेरणा'। इसे 'सांस्कृतिक मूल्य' कहते हैं। यह जो प्रेम की प्रेरणा है, सहानुभूति की प्रेरणा है, इस प्रेरणा को कौन जाग्रत कर सकता है? विज्ञान यह नहीं कर सकता है और न राजनीति ही।

आज की समस्या

आज की समस्या क्या है? रूस और चीन, दोनों एक-दूसरे से डरते हैं और दोनों एक-दूसरे के प्रति सन्देह रखते हैं। इस भय का निराकरण आप कैसे करेंगे? कायरता का निराकरण हथियार कर सकेगा? नहीं, हथियार काय-

रता का निवारण कर नहीं सकता। कायरता का निवारण कानून कर सकेगा ? नहीं, कानून आपको रक्षण देता है, पर वह हिम्मत थोड़े ही दे सकता है। समस्या ही यह है कि रूस के दिल का डर कैसे निकले, अमेरिका के दिल का डर कैसे निकले ? एक नागरिक और दूसरे नागरिक के बीच जो भय है, वह भय यदि समाप्त होता है, तो 'लोकशाही' आती है । राजनीति में प्रशासन होता है और लोकनीति में अनुशासन।

अब क्रान्ति की प्रक्रिया हुई—शासन की ओर से अनुशासन की ओर चलना। राजनीति में सत्ता होती है, लोकनीति में स्वतन्त्रता होती है। सत्ता में नियन्त्रण होता है, स्वतन्त्रता में संयम होता है। राजनीति में अधिकार की स्पर्धा होती है, लोकनीति में कर्तव्य का आचरण होता है। इसका क्रम यही है कि शासन की ओर से अनुशासन की ओर चलो, सत्ता की ओर से स्वतन्त्रता की ओर चलो, नियन्त्रण की ओर से संयम की ओर चलो और अधिकारों की स्पर्धा की ओर से कर्तव्य के आचरण की ओर चलो।

पूँजीवाद के दोष

पूंजीवाद में बदला जितना अधिक होगा, सम्पत्ति उतनी बड़ी होगी। पूंजीवाद मानता है कि मेहनत सम्पत्ति है। लेकिन पूंजीवाद का दोष यह है कि जिसकी मेहनत है, उसकी दौलत नहीं है। सूत्ररूप में कहें, तो पूंजीवाद में मेहनत मजदूर की रहती है, दौलत मालिक की। पूंजीवाद शुरू होता है सौदे से, बढ़ता है सट्टे से और चरम सीमा पर पहुँचता है जुए से। सौदा, सट्टा और जुआ 'पूंजीवाद' कहलाता है। इसमें से तीन खराबियाँ पैदा होती हैं—संग्रह, भीख और चोरी।

समाजवाद का जन्म

संग्रह, भीख और चोरी, पूंजीवाद के इन तीन दोषों को मिटाने के लिए समाजवाद आया। समाजवाद का पहला कदम था—जिसकी मेहनत, उसकी दौलत। मार्क्स ने लिखा कि 'श्रमिक का जीवन समृद्ध करने का साधन परिश्रम होगा'। मार्क्स का एक सूत्र था कि जो मेहनत करता है, उसकी दौलत हो।

उसका दूसरा सूत्र था—**मेहनत हरएक की, दौलत सबकी।** इसे 'सामुदायिक सम्पत्ति' कहते हैं। इसमें से दो चीजें पैदा हुईं। एक का नाम है, 'कल्याणकारी राज्य' और दूसरे का नाम है, 'राज्य-स्वामित्व'। व्यक्ति की साहूकारी बन्द हो गयी, समाज की साहूकारी, समाज की दूकानदारी शुरू हो गयी। इसलिए इससे आगे चलना होगा। आगे चलने का मतलब यह होगा कि सामुदायिक संग्रह का भी लोभ छोड़ देना होगा। तो अब हमारा अगला कदम यह होगा कि **मेहनत इन्सान की, दौलत भगवान् की।** उस हालत में श्रम हमारा व्रत हो गया। श्रम में भी पवित्रता आ गयी। सोवियट संविधान में लिखा है कि काम प्रतिष्ठित भी हो और सुखकर भी। यन्त्र ने काम को सुकर तो बना दिया, लेकिन काम की प्रतिष्ठा बढ़ा देना, उसे पवित्र बना देना और सुकर ही नहीं, सुखकर बना देना, उसके हाथ की बात नहीं है।

मानवीय विभूति का विज्ञान

किताब पढ़नेवाला और झाड़ू हाथ में रखनेवाला, दोनों बराबर हैं, ऐसा राज्य कर सकता है। वह दोनों को एक वेतन दे सकता है, लेकिन प्रो० राममूर्तिजी अपने हाथ में झाड़ू लेकर पाखाना साफ करें, ऐसा कराना राज्य के हाथ में नहीं है। झाड़ू लेनेवाला और वे समान रूप से प्रतिष्ठित हैं, यह जो वर्ग-भेद है, इसका निराकरण कोई राज्य नहीं कर सकता। काम को प्रतिष्ठा तभी मिलेगी, जब श्रम हमारा व्रत हो जायगा और हम समझेंगे कि मेहनत इन्सान की होगी, दौलत भगवान् की। **'सबै भूमि गोपाल की, सब सम्पति रघुपति कै आही।'** सम्पत्ति केवल समाज की नहीं रहेगी, क्योंकि समाज को हमने मनुष्यों का संगठित स्वार्थ समझ लिया है। स्वार्थ विशाल होने से, संगठित होने से, वह निःस्वार्थ नहीं बन जाता। इतना हम समझ लें, तो सृष्टि की ओर देखने की हमारी दृष्टि बदल जायगी। यह पृथ्वी केवल उत्पादन के साधनों का भंडार, 'वसुंधरा', नहीं रहेगी, यह धरती 'माता' बन जायगी। 'वसु' का मतलब है धन, वसुंधरा वह है, जिसमें धन भरा हुआ हो। **'नाना रत्ना वसुंधरा।'** अनन्त रत्न उसमें भरे हुए हैं, सम्पत्ति का भंडार है। यह पृथ्वी केवल सम्पत्ति का भंडार नहीं है। कालिदास ने हिमालय को

'देवात्मा' कहा है। एक चतुर व्यापारी कहता है कि यहाँ तो इतनी बर्फ है, इसलिए आइसक्रीम की फैक्टरी खोलता हूँ। इसे कहते हैं प्राकृतिक साधनों का विदोहन। कठिनाई यही है कि हम सृष्टि को अपनी सहयोगिनी नहीं बनाते। सृष्टि हमारी सहयोगिनी होनी चाहिए। सृष्टि में छिपे हुए भंडारों का आविष्कार विज्ञान ने किया। पर, सृष्टि को अपनी सहयोगिनी बना लेना विज्ञान के बूते के बाहर है। इसलिए मैंने कहा कि सृष्टि को विभूति बनाना होगा। इसे मैंने 'मानवीय विभूति का विज्ञान' कहा। जिस तरह सृष्टि विभूति है, उसी तरह देश विभूति है। मिस्र पर इंग्लैंड और फ्रांस आक्रमण न करे, इतनी बात आपने कही, यह प्रेरणा कहाँ से आयी ? भूमिमात्र ही अनाक्रमणीय है, यह प्रेरणा आप कहाँ से लायेंगे ? आक्रमण की धमकी से भावात्मक प्रेरणा नहीं मिलती। सह-अस्तित्व पर्याप्त नहीं है। हींग और कपूर एक ही डिबिया में रख दें, तो सह-अस्तित्व तो होगा, पर एक की गंध दूसरे में नहीं जायगी। प्रश्न यही है कि इसमें भ्रातृत्व की, प्रेम की भावरूप प्रेरणा कहाँ से आयेगी ? सर्वोदय कहता है कि मनुष्य को विभूति मानने से आयेगी। एक नागरिक दूसरे नागरिक के शरीर को पवित्र माने। इतना ही नहीं, मनुष्य के मकान को हम जिस तरह अनाक्रमणीय मानते हैं, उसी तरह से भूमि को भी पवित्र मानना होगा। मेरे मकान में आप न घुसें, यह कानून है। लेकिन मेरे मकान में आग लगे, तो आप बुझाने आयें, यह कहाँ का कानून है ? यह तभी होगा, जब आप मेरे मकान को उतना ही पवित्र मानेंगे, जितना भगवान् के मन्दिर को मानते हैं। यह भूमि अनाक्रमणीय तब होगी, जब इस भूमि को हम भगवान् की विभूति मानेंगे।

जीवन का सर्वोदय-दर्शन

स्त्री अनाक्रमणीय कब होती है ? जब वह माता बन जाती है। मनुष्य अनाक्रमणीय कब बनता है ? जब वह विभूति बन जाता है। भूमि अनाक्रमणीय कब बनती है ? जब वह विभूति बन जाती है। ऐसे मूल्यों की जब स्थापना होती है, तो विज्ञान का स्वरूप बदल जाता है। विज्ञान क्रान्तिकारी बन जाता है। लोकनीति क्रान्तिकारी बन जाती है।

उसी तरह से समय की भी बात है। प्रो० राममूर्तिजी यहाँ रोज गवाते हैं **'साँस-साँस में जीवन गुजरे'**। लांग फेलो ने लिखा है—"अपने हृदय की हर धड़कन के साथ, मैं मसान की तरफ जा रहा हूँ।" यह तो 'जीवन गुजरे' की बात है। दूकानदार कहता है—"समय ही धन है।" वकील साहब के पाँच मिनट के लिए एक हजार रुपये, डॉक्टर साहब के दस मिनट के लिए चौंसठ रुपये। मास्टर साहब एक हफ्ते में ३० घण्टे पढ़ाते हैं, उसके लिए ढाई सौ रुपये। इस तरह समय सुवर्ण-तुला पर तौला जाता है। समय हमारे जीवन का एक द्रव्य बन जाता है। वह जीवन का एक कच्चा माल, एक उपकरण बन जाता है। लेकिन समय ही जीवन है। **'साँस-साँस में जीवन गुजरे !'** यों हम देखते हैं कि जीवन समय का बना हुआ है। ऐसी हालत में समय एक विभूति का रूप ले लेता है। काल विभूति बन जाता है। तुलसीदासजी ने लिखा है कि **'काल काहि नहिं खाय ?'** काल किसे नहीं खाता ? भगवद्गीता में कहा है—**'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो'**....' 'लोक-क्षय करने के लिए मैं काल बनकर आता हूँ।' और लोगों को जिलाने के लिए मैं जीवन का उपादान बनकर आता हूँ। घड़ा जिस तरह से मिट्टी का बना हुआ होता है, उसी तरह जीवन समय का बना हुआ होता है। समय जीवन का उपादान बनकर जब आता है, तो समय विभूति बन जाता है।

इस प्रकार मनुष्य विभूति बन गया, धरती विभूति बन गयी, सृष्टि विभूति बन गयी और समय विभूति बन गया। यह जीवन का **'सर्वोदय-दर्शन'** कहलाता है। **सर्वोदय-दर्शन का अर्थ यह है कि जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब हमारे जीवन की विभूतियाँ बनेंगी।** ऐसा नहीं होगा, तो सभी जगह संघर्ष होगा। विज्ञान की 'मनुष्य ने प्रकृति पर कैसे विजय पायी ?' नामक अंग्रेजी पुस्तक में पढ़ा था कि सृष्टि से लड़ाई में जीतो। जमाने से लड़ाई है, उसे भी जीतो। मनुष्य से लड़ाई है, उसे भी जीतो। अपने से लड़ाई है, तो उसे भी जीतो। जहाँ देखो, वहाँ लड़ाई ही लड़ाई दीखती है। जीवन की विभूति बनकर कोई नहीं आता। और यहाँ सर्वोदय में सर्वत्र सामंजस्य ही सामंजस्य है।

क्रान्ति का 'विभूति-योग'

मान लीजिये कि शोभा बहन गाने बैठी हैं। हारमोनियम से उनके स्वर

की लड़ाई होती है, हारमोनियम की तानपूरे से लड़ाई होती है, तानपूरे की तवले से लड़ाई होती है और इन सबकी मिलकर हमारे कान से लड़ाई होती है। भला यह संगीत कहलायेगा? संगीत का मतलब ही यह है कि सहगीत और समगीत हो। उसका ताल तानपूरे से मिलता है। तानपूरे का स्वर हारमोनियम से मिलता है। तीनों का स्वर मिलकर शोभा बहन के गले से मिलता है। ये सब मिलकर हमारे कान में प्रतिध्वनित होते हैं, तो हृदय की तन्त्री वजने लगती है। इसलिए संगीत की गणना ललित कला में होती है, नहीं तो उसे ललित कला कौन कहता?

अब जो क्रान्ति होगी, वह ललित कलात्मक ही होगी। जीवन में संवादित्व आयेगा, संगीत आयेगा। विज्ञान विभूति बनकर आयेगा, साहित्य विभूति बनकर आयेगा, समय विभूति बनकर आयेगा, धरती विभूति बनकर आयेगी। यह है हमारा––विभूति-योग। भगवद्गीता की तरह क्रान्ति में भी एक **'विभूति-योग'** होता है। जीवन के साधन और उपकरण भी उस विभूति के विकास के लिए होंगे।

मनुष्य के तीन लक्षण

उपकरणवाद अलग है, उपकरणशीलता अलग है। विज्ञान ने मनुष्य के तीन लक्षण बतलाये। एक लक्षण है––मनुष्य विवेकी प्राणी है अर्थात् विशेष बुद्धिमान्। विवेक और बुद्धिमत्ता में अन्तर है। बुद्धिमत्ता पशु में भी है, साँप में भी है और हाथी में भी है। परन्तु विवेक केवल मनुष्य में ही है। यह मनुष्य की आध्यात्मिक व्याख्या है।

मनुष्य का दूसरा लक्षण यह है कि मनुष्य के पास भाषा है और दूसरे प्राणियों के पास भाषा नहीं है। दूसरे प्राणी मार-पीट कर सकते हैं, लेकिन भाषा उनके पास नहीं। वे गाली नहीं दे सकते। बहुत हुआ, तो थोड़ा गुर्रा लेंगे। जेल में कुछ लोग मौन-व्रत लेते थे। पर मौन में वे लिखकर एक-दूसरे को गालियाँ देते थे। हम लोगों ने कहा कि मौन में लिखना भी बन्द होना चाहिए। तब वे एक-दूसरे को घूँसे दिखाते थे और कभी-कभी उनमें कुश्ती भी हो जाती थी। लेकिन उनका मौन नहीं टूटता था। पशु यहाँ तक पहुँच जाता है। मनुष्य

के पास भाषा है, जिससे वह आशीर्वाद भी दे सकता है और शाप भी दे सकता है, शुभ कामना भी कर सकता है और कोस भी सकता है। मनुष्य और पशु में यह दूसरा अन्तर है।

मनुष्य का तीसरा लक्षण यह है कि उसका अँगूठा सारी उँगलियों को छू सकता है। इसमें हुनर और कारीगरी है। यह हुनर और कारीगरी मनुष्य की उँगलियों में है। इससे मनुष्य 'उपकरणपटु' हुआ।

यन्त्र के पक्ष-विपक्ष का प्रश्न

कुछ लोग पूछते हैं कि आप यन्त्रों के पक्ष में हैं या यन्त्रों के विरोध में हैं? भला यह भी कोई सवाल है। जड़ वस्तु का क्या पक्ष और क्या विरोध? पहाड़ पहाड़ ही है। उसका क्या पक्ष और क्या विरोध? नदी नदी ही है। नदी का क्या पक्ष और क्या विरोध? ऐसे प्रश्न का क्या जवाब दिया जाय? यन्त्र से हमारा कोई वैर है क्या? यन्त्र के पक्ष और यंत्र के विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हमने तो यह माना है कि मनुष्य उपकरणपटु है। अर्थात् अपनी इन्द्रियों और अपने अवयवों की शक्ति को बढ़ाने की सिफत मनुष्य में है। यह सिफत दूसरे किसी प्राणी में नहीं है। अपनी इन्द्रियों की और अपने अवयवों की शक्ति को बढ़ाने की कला ही 'यंत्र-विज्ञान' कहलाती है।

बन्दर से हमारा पाला पड़ जाता है, वह हमें नोच लेता है। कुछ जानवर ऐसे हैं, जो सींग होने के कारण कुछ दूर से हमें मार देते हैं। इनका सामना करने का हमारे पास कुछ साधन नहीं है और वह हमारी पहुँच में भी नहीं है। हम नीचे बैठे हैं, कौआ आकर ऊपर से बीट कर देता है। हम उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। यह देखकर मनुष्य ने क्या किया? उसने देखा कि पत्थर फेंकने से सौ गज जाता है, तो गुलेल ली। लाठी पास में ही मार सकती है, तो दूर के लिए तीर-कमान लिया। उँगली से जमीन नहीं खोद सकता, तो सब्बल और कुदाली ली। यह उपकरणशीलता मनुष्य की संस्कृति है। इसलिए यह कहना गलत है कि सर्वोदय यन्त्रों के खिलाफ है। कोई भी सांस्कृतिक प्रवृत्ति उपकरणों के खिलाफ नहीं हो सकती।

उत्पादन की प्रक्रिया कैसी हो ?

'यंत्रविद्या' से हमारी माँग है कि वह अभाव की पूर्ति करे, लेकिन कला की अभिवृद्धि करे। कमी को पूरा करे और हुनर को बढ़ाये। कोई कहे कि हम अभाव को तो पूरा कर देंगे, पर कला छीन लेंगे, तो ऐसा उपकरण हमारे काम का नहीं। बटन दबाने से भोजन बन जायगा। बटन दबाने से थाली आ जायगी। ठीक है। पर बटन दबाने से खाया तो नहीं जा सकता। उससे जीभ में कोई रुचि नहीं आयेगी। जीभ में स्वाद आना चाहिए। बटन दबाने से सत्तू बन सकता है। पर राममूर्तिजी कहते हैं कि "हमने खुद सत्तू पीसकर अपने हाथ से आपके लिए लड्डू बनाया है।" "आपका बनाया हुआ है, तब तो इसमें जो स्वाद है, वह और किसी लड्डू में हो ही नहीं सकता!" इसे 'उत्पादन में मानवीय स्पर्श' कहते हैं। 'उत्पादन अगर गुमनाम हो जाता है, तो मनुष्य भी गुमनाम हो जायगा।' सोचने की बात है कि लोकतन्त्र में मनुष्य को गुमनाम बनाना है या नामवर बनाना है। **उत्पादन की प्रक्रिया से व्यक्तित्व के विकास का अर्थ यह है कि मनुष्य खो न जाय। उसकी विभूति का विकास होना चाहिए। मनुष्य की विभूति के तीन अंग हैं: श्रम, कला और बन्धुत्व या सहानुभूति। इन तीनों का विकास उत्पादन से होना चाहिए।**

दयानन्द सरस्वती पंजाब की बड़ी सख्त सर्दी में एक स्टेशन पर नंगे बदन बैठे हुए थे। एक सिर से पैर तक ऊनी वस्त्रों में परिवेष्टित बाबूसाहब पहुँचे। इनको उन्होंने देखा, तो हैरान हो गये। पूछने लगे कि "आपको ठंड नहीं लगती? आप नंगे बदन बैठे हुए हैं।" दयानन्द ने कहा—"जी, नहीं लगती।" अब वे और हैरान हो गये और आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे। दयानन्द ने उनसे पूछा—"तुम्हारे गालों में ठंड नहीं लगती? तुम्हारी आँखों में ठंड नहीं लगती?" कहने लगे—"नहीं।" पूछा—"क्यों?" कहने लगे कि "आदत हो गयी है।" "हमारे सारे शरीर को ठंड सहने की आदत हो गयी है।" श्रम से मनुष्य के शरीर में सहन-शक्ति बढ़नी चाहिए। उत्पादन में मनुष्य की सहनशीलता बढ़ने की शक्ति होनी चाहिए। शारीरिक शक्ति भी उसकी बढ़े। आज उत्पादन में तीन तरह के लोग हैं: मजदूर, बाबू

और विशेषज्ञ। तीनों का अन्तर कम करना होगा, तभी सुसम्बद्ध मानवीय विभूति आयेगी। कुशल और अकुशल के बीच के अन्तर तथा व्यवस्था और श्रम के बीच के अन्तर को कम करने पर समाजवादी जोर देते हैं। कम्युनिज्म भी कहता है कि कुशल श्रम और अकुशल श्रम के अन्तर को कम करो, व्यवस्था और श्रम के अन्तर को कम करो। तो इन तीनों के अन्तर को कम करना है। तीनों की विभूति का सामंजस्य करना है। इसको करने के लिए हम कहते हैं कि उत्पादन में ही ऐसी योजना हो कि उसमें श्रम भी करना पड़े और उसीमें से कला का भी विकास हो।

पूँजीवादी उत्पादन

तीसरी चीज वह अनामिक न हो। राममूर्तिजी सत्तू का लड्डू बनाकर लाते हैं! कहते हैं, हमारे यहाँ की मकई है, हमने अपने हाथ से पीसी है। हमारे यहाँ की गाय का घी है। लड्डू हमने बनाया है। अब उस रुचि की कोई सीमा है? बाजार की पकौड़ियों में यह बात कहाँ? हम कहते हैं कि "ये हमसे खायी नहीं जातीं।" दूकानदार कहता है—"खायी नहीं जातीं, तो मत खाओ।" "तो तूने किसलिए बनायी थीं?" "खाने के लिए बनायी थीं। आपके पैसे हमें मिल गये, बस पकौड़ियाँ सफल हो गयीं! हमारी पकौड़ी की सफलता यह है कि पकौड़ी के बदले में पैसे आ जायँ।" इसे **'पूँजीवादी उत्पादन'** कहते हैं। यहाँ विनिमय के लिए, मुनाफे के लिए उत्पादन होता है।

उपयोग के लिए उत्पादन

यहाँ भोजन की घंटी बजती है। हम लोग भोजनालय में पहुँचते हैं। सबको रोटियाँ परोसी जाती हैं। हमारी बगल में बिना दाँतवाले एक भाई बैठे हुए हैं। वे कहते हैं कि "यह रोटी तो खायी नहीं ज़ाती।" "क्यों?" "मेरे दाँत ही नहीं हैं।" भोजन करनेवाले ५० आदमी थे, उन आदमियों के हिसाब से रोटियाँ बनी हैं। यह लाभ के लिए उत्पादन नहीं है, उपयोग के लिए उत्पादन है। जितने आदमी थे, उतनों की रोटियाँ बनी हैं। अब सवाल

है कि जिनसे रोटी नहीं खायी जाती, उनके लिए क्या करें। तो एक विकल्प दिया—'दलिया ले ल।' यह विकल्प ही मिला, रोटी नहीं मिली।

घर में माँ से कहते हैं कि यह रोटी हमसे खायी नहीं जाती, तो वह तीन तरह की रोटी बनाती है। वगैर दाँतवाले के लिए नरम रोटी, कच्चे दाँतवाले के लिए खस्ता और पक्के दाँतवाले के लिए करारी।

हमारे छात्रालय में रविवार के दिन विशेष भोजन बनता था। उस दिन हमारा रसोइया पहले ही अपने लिए भोजन निकाल लेता था। मैं मेस मैनेजर बना, तो उससे पूछा कि "तुमने अपने लिए अलग निकालकर क्यों रख लिया?" बोला—"तुम लोग शैतान होते हो, कहीं तुममें खाने की होड़ लग गयी, तो हमारे लिए कुछ नहीं बचेगा। इसलिए हमने अपने लिए निकालकर रख लिया!"

विश्व-कुटुम्ब-योग

माँ घर में भोजन बनाती है। हम भोजन कर रहे हैं। कुछ मित्र भी आ जाते हैं। हम खूब तारीफ करते हुए खा रहे हैं कि आज तो ऐसी बढ़िया चीज बनी है कि खाते ही बनती है। हम सब भोजन साफ कर देते हैं। माँ के लिए कुछ भी नहीं बचता। वह पड़ोसिन से जाकर कहती है—"सुनती हो, आज ऐसा बढ़िया भोजन बना था कि मेरे लिए कुछ नहीं बचा!"

यह मानव के लिए उत्पादन कहलाता है।

जहाँ भूख है, वहाँ उत्पादन चाहिए। जहाँ कमी है, वहाँ अवश्य अधिक उत्पादन किया जाय। लेकिन प्रश्न है कि उत्पादन किसलिए किया जाय?

बिक्री के लिए, विनिमय के लिए उत्पादन—पूँजीवाद।

उपयोग के लिए, उपभोग के लिए उत्पादन—समाजवाद।

पड़ोसी के लिए उत्पादन—सर्वोदय। गांधी ने इसे स्वदेशी धर्म कहा।

"यह लड्डू किसके लिए बना है?"

"दादा के लिए।"

"यह आटा क्यों पिस रहा है?"

"दादा मेहमान आया हुआ है।"

इस पीसने में भी चाव है, बनाने में भी चाव है। अब प्रेरणा खोजने का प्रश्न ही कहाँ है? श्रम की प्रेरणा खोजने और कहीं नहीं जाना पड़ेगा। "क्यों भाई, कपड़े लेकर क्यों दौड़ रहे हो? हमारे पिता के कपड़े हैं। धोबी कहीं कपड़ा फाड़ न डाले, इसलिए इसकी निगरानी रखनी पड़गी।" इसे 'विश्व-कुटुम्ब-योग' कहते ह।

इसका आरम्भ ग्रामीकरण में है, ग्रामराज्य में है। ग्राम में हर मनुष्य एक-दूसरे से परिचित है। यहाँ अपने लिए उत्पादन कोई नहीं करता। सब एक-दूसरे के लिए उत्पादन करते हैं। इससे सारा ग्राम एक कुटुम्ब बन जाता है। ग्राम कुटुम्ब बनता है, तो 'विश्व-कुटुम्ब-योग' आ जाता है। 'टेक्नालॉजी' में यह प्रेरणा नहीं रही।

यान्त्रिक उत्पादन की प्रेरणाएँ

आज तक यान्त्रिक उत्पादन में तीन प्रेरणाएँ रहीं : व्यापारवाद, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद। अब बाजार में व्यापार बहुत कम रह गया है। यन्त्रवादी लोग कहते हैं कि अब दुनिया में बाजारों की खोज कोई राष्ट्र नहीं करेगा। चीन उत्पादन में स्वयंपूर्ण हो गया। कल अगर भारत उत्पादन में स्वयंपूर्ण हो गया, अफ्रिका उत्पादन में स्वयंपूर्ण हो गया, तो कौन कहाँ बाजार खोजेगा? आज जो होड़ है, वह बाजारों की नहीं है। प्रतियोगिता इस बात की है कि यन्त्र, यन्त्र-विशारद और यन्त्र-विद्या, तीनों इन देशों को कौन ज्यादा देता है? शिवि, दधीचि के वंशज हैं ये रूस और अमेरिका, जो कपोत के रक्षण के लिए अपना समूचा शरीर दे देनेवाले हैं! ये लोग आपको यन्त्र भी देंगे, यन्त्र-विशारद भी देंगे और यन्त्र-विद्या भी देंगे। इसलिए कि आप उनकी बराबरी पर पहुँच सकें! यह सोचने की चीज है और गहराई में जाकर सोचने की चीज है। दुनिया में बाजारों का अर्थशास्त्र समाप्त हो रहा है। अमेरिका जितना उत्पादन करती है, उसमें से कुछ उत्पादन आपको मुफ्त में दे सकती है, इसलिए अमेरिका का अर्थशास्त्र चल रहा है, नहीं तो चल नहीं सकता। जैसे, उसके पास इतना गेहूँ हो गया कि अमेरिकावाले उतना खा नहीं सकते। और अगर खा सकते हैं, तो गेहूँ के दाम सस्ते हो

जाते हैं। गेहूँ के दाम सस्ते हो जाते हैं, तो किसान मरता है। गेहूँ के दाम सस्ते न हों, अमेरिकावाले गेहूँ भी खायँ, तो फिर बचे हुए गेहूँ क्या करें? हिन्दुस्तान के लोगों की जठराग्नि पर्याप्त प्रदीप्त है, उसमें आहुति दे दें। यह अन्न-यज्ञ हो रहा है। आप जिसे विनिमय और विक्रय का अर्थशास्त्र कहते हैं, वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ज्यादा दिन चलनेवाला नहीं है। आज उसका स्वरूप, एक तरह से, विनिमय का ही है। याने जो अप्रगतिशील राष्ट्र हैं, उनसे कच्चा माल और ईंधन ले लो और उन्हें यन्त्र दो, यांत्रिक उत्पादन के साधन दे दो। कल जैसे मिस्र खड़ा हो गया, ऐसे एशिया के दूसरे देश यदि खड़े हो जाते हैं, तो कच्चा माल मिलना बन्द हो जाता है। ईंधन, पेट्रोल, लोहा, कोयला, मिलना बन्द हो जाता है। यह अगर बन्द हो जाता है, तो अर्थशास्त्र समाप्त हो जाता है। तो बाजार से साम्राज्यवाद का और उपनिवेशवाद का 'गति-तत्त्व' गया।

विचार के क्षेत्र में संघर्ष

गति का तत्त्व अब एक ही रह गया है—'कम्युनिज़्म-विरोध' और कम्युनिज्म का प्रतिपादन। हम अब बाजार से उठकर विचार के, दिमाग के क्षेत्र में आ गये हैं। आज का जो संघर्ष है, वह 'वाद' का है, विचार का है। इसमें एक तरफ लोकतन्त्र खड़ा है, जिसे आप कम्युनिज्म-विरोध कहते हैं। लोकशाही खड़ी है कम्युनिस्ट-विरोधी छावनी में। इसका परिणाम यह हुआ है कि कम्युनिज्म का विरोध करते-करते वह पूँजीवाद की छावनी में पहुँच गयी। उस छावनी में पहुँचने से लोकशाही कल्याणकारी राज्य बनकर रुक गयी है। मजदूर को अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा, अच्छा मकान मिल जाय, यहीं तक आकर वह रुक गयी है। इससे आगे की मजदूर और मालिक ही न रहें, ऐसी प्रेरणा निकल गयी। क्यों? इसलिए कि कहीं ऐसा न हो कि कम्युनिज्म आ जाय। कहीं कम्युनिज्म न आ जाय, यह डर क्यों है? इस डर के लिए क्या कोई आधार है?

लोकशाही की दुर्दशा

आज संसार की एक-पंचमांश धरती और ३५ फीसदी जनसंख्या कम्युनिस्टों के हाथ में है। इसलिए कम्युनिस्ट कहते हैं कि अब न तो लड़ाई की जरूरत है,

न हिंसा की ही, अब तो पार्लमेंटरी पद्धति से और अहिंसा से क्रान्ति हो सकती है। यह बात गांधी नहीं, विनोबा नहीं, ख्रुश्चेव कहता है। इसलिए कम्युनिस्टों ने एशियाई देशों की राष्ट्रीयता के साथ अपने को जोड़ दिया। उधर अमेरिकन पूँजीवाद के साथ सोशलिज्म का गठबन्धन हो गया। इसलिए लोकशाही का कदम आगे नहीं बढ़ रहा है। विनोबा कहते हैं कि लोकशाही को कांचन की सहेली नहीं बनने देना चाहिए। वह सम्पत्ति की टहलनी न बने। आज आप और हम बुद्धिमान् हैं। लेकिन हमारी बुद्धि का क्या हाल है? हमारी बुद्धि सम्पत्ति की टहलनी है। तलवार की दासी है और वैभव की अभिसारिका है। हमारी बुद्धि की जो हालत है, वहीं लोकशाही की हालत है। क्योंकि आखिर लोकशाही है किसकी? आपकी और मेरी। आज की लोकशाही में एक दूसरा दोष यह है कि उसे बहुमत के आधार पर चलना पड़ता है और साधारण नागरिक में लोकहित की प्रेरणा बहुत मन्द होती है और यदि वह थोड़ा-बहुत खुशहाल हो गया हो, तब तो बिलकुल ही नहीं होती। किसान और मजदूर को यदि थोड़ा-सा अच्छा भोजन मिल जाय, अच्छा मकान मिल जाय, पहनने के लिए जितना चाहिए, उतना कपड़ा मिल जाय, तो फिर आप यदि उससे कहें कि समाजवाद की स्थापना करनी है, वर्गों का निराकरण करना है, तो वह कहने लगेगा कि खाक करना है! तुम्हारे दिमाग में कीड़ा है! मौजूदा सरकार भौतिक सुख का आश्वासन दे सकती है, पर दूसरा तो ऐसा आश्वासन भी नहीं दे सकता। कांग्रेस कुछ नहीं कर सकती, यह बात लोग जानते हैं, पर दूसरा कोई कुछ कर सकता है, इस बात का लोगों को भरोसा नहीं है। इंग्लैंड में भी यही हालत है। मजदूर यह जानते हैं कि 'स्थितिवादी' कुछ नहीं करेंगे। जनता जानती है कि कहीं कम्युनिज्म न आ जाय, इस डर से मजदूर कुछ नहीं करेंगे। इसलिए दोनों के कार्यक्रम करीब-करीब समान हैं। हमारे यहाँ जितने दल हैं, सबके प्रोग्राम करीब-करीब समान हैं। यह बात दूसरी है कि उसी बात को कुछ जोर से कहेंगे, कुछ धीरे से कहेंगे, पर वे सब कहेंगे एक ही बात। लेकिन कार्यक्रम में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। इसका कारण समझ लेने की आवश्यकता है। पार्लमेंटरी पद्धति की यह मर्यादा है कि वह बहुमत के आधार पर ही काम कर सकती है।

विनोबा का मार्ग

साधारण नागरिक में जन-सेवा की या लोकहित की प्रेरणा हमेशा प्रधान नहीं होती। वह प्रेरणा जाग्रत कैसे हो, इसका रास्ता विनोबा दिखला रहे हैं। जीवन भी बाँटो, मृत्यु भी बाँटो, गरीबी भी बाँटो, अमीरी भी बाँटो, काम भी बाँटो, आराम भी बाँटो, मालकियत भी बाँटो और मेहनत भी बाँटो। लेकिन कैसे ? स्वयं-प्रेरणा से। स्वयं-प्रेरणा का कारण मैं बता चुका हूँ। आज सत्ता की स्पर्धा है, इसलिए उसका 'गतितत्त्व' समाप्त हो गया। यह स्पर्धा इसीलिए है कि आप अपनी मर्जी से जो नहीं कर रहे हैं, वह जबरदस्ती आपसे कराया जाय। सत्ता के प्रयोग का यही मतलब है कि जो चीज आप स्वयं-प्रेरणा से नहीं करना चाहते, उसे मैं बलपूर्वक आपसे करा लूँ। सरकार वह औजार है, जिससे आप लोगों से उनकी इच्छा के विरुद्ध काम करा लेते हैं। इस बात की स्पर्धा है कि वह औजार किसके हाथ में हो। ताँगे के घोड़े को कोई दस कोड़े लगाये या कोई पाँच, पर बगैर कोड़े के वह नहीं चलेगा, ऐसा हमने मान लिया है। इसे 'राज्यनिष्ठ क्रान्ति' कहते हैं। यह 'लोकतान्त्रिक क्रान्ति' है, 'लोक-सत्तात्मक क्रान्ति' नहीं। लोकसत्तात्मक क्रान्ति लोगों के पुरुषार्थ से होनी चाहिए। लोग क्रियाशील होने चाहिए। स्वयं-प्रवृत्ति लोगों में जाग्रत होनी चाहिए। इसलिए लोकशाही की बुनियादों को मजबूत करने का एक रास्ता विनोबा हमारे सामने रख रहे हैं। वे कहते हैं कि नागरिक और नागरिक में विश्वास बढ़े, नागरिक का और नागरिक के प्रति जो संदेह है, वह समाप्त हो जाय। वे कहते हैं कि संपत्ति का यदि समाजीकरण नहीं होता है, सम्पत्ति स्वयं-प्रेरणा से भगवान् को समर्पित हो जाती है, तो नागरिक नागरिक के निकट भी आ जाता है और संपत्ति का निराकरण भी हो जाता है। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और व्यापारवाद, ये तीनों जहाँ समाप्त हो गये, उसके बाद आया किसानों का कम्युनिज्म। तभी तो वह एक अगला कदम है। हम कहते हैं कि उसे हमें सर्वोदय की लोकशाही में परिणत कर देना है। पर जब हम कहते हैं कि पार्टी-पद्धति से यह नहीं होगा, तो लोग हमसे पूछते हैं कि "तुम दूर रहकर क्या करोगे?" हम कहते हैं कि दूर रहकर सबकी सेवा होगी। हमें एक का

नहीं, सबका सहयोग चाहिए। तब हम सत्ता की स्पर्धा में कैसे जा सकते हैं? हमें तो सबको मित्र और सहयोगी बनाना है, फिर हम किसीको अपना प्रतिपक्षी कैसे बना सकते हैं? चुनाव में, सत्ता की स्पर्धा में, प्रतिपक्षी तो होता ही है। साथ ही एक महान् भयंकर अनर्थ और होता है। वह यह कि एक नागरिक दूसरे नागरिक की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता को मिटा देने में लग जाता है। सोचने की बात है कि ऐसी लोकशाही से मानवीय मूल्यों का विकास कैसे हो सकता है? सत्ता की प्रतिस्पर्धा इस लोकशाही में इसलिए है कि आज की लोकशाही पूँजीवाद की बेटी है। सम्पत्ति के लिए स्पर्धा पूँजीवाद का लक्षण है। पूँजीवाद की बेटी ने, आज की लोकशाही ने, सत्ता की स्पर्धा को अपना परम कर्तव्य मान लिया है। हम इस चीज को समाप्त कर देना चाहते हैं। यह भावरूप विधायक क्रियात्मक कदम है। इसमें किसी तरह का निषेध नहीं है। सबका स्वागत है। हम सहायता सबकी लेंगे, सहायक सबके बनेंगे, पर आश्रित किसीके न रहेंगे। न तो सम्पत्ति के और न सत्ता के।

तो लोकशाही का सांस्कृतिक मूल्य यह माना जायगा कि कोई भी नागरिक एक-दूसरे से न डरे। सभी नागरिक एक-दूसरे का विश्वास करें। नागरिकों के बीच का भय और अविश्वास, दोनों का निराकरण हो। इतना ही काफी नहीं है कि सबको समान वोट हो। नागरिक के 'वोट' में और नागरिक के वास्तविक मत में अविरोध होना चाहिए। तभी लोकशाही में पवित्रता दाखिल होगी।

लोकशाही का आध्यात्मिक मूल्य

मैं मानता हूँ कि पढ़े-लिखे आदमियों में से ही नेतृत्व आता है। उनकी बुद्धि यदि क्रान्ति की ओर काम कर जाती है, तो इससे देश में एक बहुत बड़ी शक्ति पैदा होती है। भगवान् की सत्ता और बुद्धि की सत्ता को मैं एक ही समान मानता हूँ। अब इतना काफी नहीं है कि मैं और आप व्यक्ति के नाते बराबरी पर हों। यह भी आवश्यक है कि गुणों का भेद होते हुए भी मनुष्य के नाते मेरा और आपका मूल्य एक हो, याने मानवीय विभूति के नाते हम दोनों समान माने जायँ। यह 'लोकशाही का आध्यात्मिक मूल्य' है। इसे

लोकशाही की आध्यात्मिक नींव कहते हैं। मनुष्य की विभूति ही पर्याप्त नहीं है, उसके साथ-साथ सृष्टि भी विभूति बननी चाहिए। सृष्टि यदि विभूति बनेगी, तो उतना भी काफी नहीं है। उसके साथ-साथ समय भी विभूति बननी चाहिए और देश याने भूमि भी विभूति बननी चाहिए। यह जो साम्य-योगी विभूति-योग है, इससे जीवन संगीत बन जाता है और क्रान्ति एक ललित-कला बन जाती है। इसे हम जीवन का संवादित्व कहते हैं। क्रान्ति को हम एक ललित-कला में परिणत कर देते हैं। अब शस्त्र-प्रयोग में वीरवृत्ति भी नहीं रही और दुर्बलों का परित्राण भी नहीं रहा। इसलिए शस्त्र में सांस्कृतिक प्रगति का तत्त्व नहीं रह गया है। यन्त्र में भी सांस्कृतिक प्रगति का तत्त्व नहीं रह गया है। मेहनतकशों को आराम और बेकारों को काम, यह तो यन्त्र का बिलकुल प्राथमिक उपयोग है। यन्त्र वस्तुतः इसलिए है कि मनुष्य के शरीर और उसके अवयव की शक्ति तथा उसके गुणों का विकास करे। यदि ऐसा न हो, तो उपकरण में गति का तत्त्व नहीं रह जाता।

क्रान्ति का अन्तिम कदम

आज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में से बाजारों का लोप हो रहा है। साम्राज्यवाद समाप्त हो रहा है, उपनिवेशवाद के दिन लद चुके हैं। सामूहिक तानाशाही आ गयी है, लेकिन उसके भी दिन अब ज्यादा नहीं रहगे। क्योंकि क्रान्ति अब किसानों की क्रान्ति होगी। एशिया में एशियाई देशों के स्वातंत्र्य के साथ एशिया और अफ्रिका में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का जो प्रतिरोध हो रहा है, वह क्रान्ति का अन्तिम कदम है। जनता की लोकशाही धीरे-धीरे सर्वोदय की लोकनीति में परिणत होनी चाहिए। नहीं तो उसमें गति का तत्त्व नहीं रहेगा।

लोकनीति और राजनीति में मुख्य अन्तर ये हैं :

राजनीति में प्रशासन मुख्य है, लोकनीति में अनुशासन मुख्य है।

राजनीति में सत्ता मुख्य है, लोकनीति में स्वतन्त्रता मुख्य है।

राजनीति में नियंत्रण मुख्य है, लोकनीति में संयम मुख्य है।

राजनीति में सत्ता की स्पर्धा याने अधिकारों की स्पर्धा मुख्य है और लोक-नीति में कर्तव्यों का आचरण मुख्य है।

उम्मीदवारशाही आज की लोकनीति और हमारी लोकनीति नागरिक की स्वतन्त्र सत्ता। एक-दूसरे पर भी सत्ता नहीं।

प्रश्न है कि इसके अनुरूप अर्थनीति क्या होगी? अर्थनीति में इतना ही काफी नहीं है कि स्पर्धा न हो, अर्थनीति में इतना ही काफी नहीं है कि उत्पादन उपयोग के लिए हो। अर्थनीति में अब यह होगा कि परिश्रम हरएक का होगा, लेकिन श्रम का फल भगवान् का होगा। श्रम मेरा है और फल भगवान् का, यह निष्काम कर्मयोग, कृष्णार्पण-योग, हमारी अर्थनीति का, सर्वोदय-अर्थनीति का प्रमुख तत्त्व है। केवल सम्पत्ति और स्वामित्व ही भगवान् का नहीं, श्रम का फल भी भगवान् का होगा। यह लोकनीति और इसके अनुरूप अर्थनीति ही सर्वोदय की अर्थनीति है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि विज्ञान तटस्थ होता है। मूल्यों की स्थापना करने की शक्ति विज्ञान में नहीं होती। विज्ञान जीवन का बाहरी नकशा बदल सकता है, संस्कृति का आशय बदलने की शक्ति विज्ञान में नहीं है। शस्त्र और यन्त्र में तो यह शक्ति थी ही नहीं। इसलिए इन तीनों में गति का तत्त्व अब नहीं रह गया है।

असफलता की चिन्ता अवांछनीय

इस प्रयोग की असफलता भी दूसरे प्रयोगों की सफलता से उज्ज्वल होगी। इसमें हम यदि असफल भी हुए, तो भी दुनिया को एक कदम आगे ही ले जायँगे। हमारी असफलता मुकाम तक भले ही न पहुँचाये, लेकिन बहुत-सी मंजिल काट देगी। इसलिए असफलता से डरने की बात नहीं। समाज के पवित्र मंदिर के जो भवन बनेंगे, अटारियाँ बनेंगी, छतें बनेंगी, उनमें जो पच्चीकारी होगी, जो संगमूसा और संगमरमर के पत्थर लगेंगे, वे दूसरों के लिए छोड़ दीजिये। उसकी नींव में जो पत्थर भरने पड़ेंगे, उनकी आज जरूरत है। जो नींव के पत्थर बनेंगे, उन्हें कोई नहीं देखेगा। इनके ऊपर नाम भी नहीं लिखा जायगा। ऐसे पत्थरों की आवश्यकता है और भगवान् की कृपा से आपको वह सद्भाग्य प्राप्त है। सफलता और असफलता का जो विचार करता है, वह कभी सफल

नहीं होता, क्योंकि उसका ध्यान सफलता की ओर रहता है, प्रयत्न की ओर नहीं रहता। करने की ओर जिसका ध्यान रहता है, उसे कभी-कभी सफलता अपने-आप मिल जाती है।

आँख पर जैसे पलक अपने-आप जुटती है, उस तरह से सफलता प्रयत्न पर अपने-आप जुटती है। हो सकता है कि हम सफल न हों। हो सकता है कि विनोबा भी सफल न हों, पर असफलता में ही हमारा जीवन कंचन बन जायगा। उसकी कोई चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। गांधी सफल नहीं होता, तो क्या हम कहते कि अहिंसा असफल हो गयी, गांधी असफल हो गया? लेकिन देश को तो वह स्वराज्य के दरवाजे तक पहुँचाकर जाता। इसकी आप चिन्ता न करें। आज पुराना वर्ष बीत रहा है। जो बीता, वह हमारे पितरों में शामिल हो गया। पितृलोक में चला गया। वह कोई मुफ्त नहीं गया। आनेवाला वर्ष कल से शुरू होता है।*

●●●

* खादीग्राम में शिविरार्थियों के बीच ३१-१२-'५६ का दीक्षान्त भाषण।

सर्वोदय की दृष्टि में जीवन एक विद्या भी है और एक कला भी है। भगवद्गीता के हर अध्याय की समाप्ति पर आता है—'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे...!' अर्थात् ब्रह्म-विद्या भी है और योग-शास्त्र भी है। जीवन यदि केवल शास्त्र है, तो हमारे लिए उसका कोई उपयोग नहीं।

कला का जन्म

मीमांसकों ने एकाध बात का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। शास्त्र में वाक्य आया, 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्।' 'ठंड की दवा आग है।' भला यह कहने की क्या जरूरत थी? सभी जानते हैं इस बात को। पर शास्त्रकार शराब तो पिये था नहीं। फिर उसने ऐसी बात क्यों कही? तब कल्पना की कि सामने कोई व्यक्ति खड़ा होगा, जो सर्दी में ठिठुर रहा होगा, उसके पास काफी कपड़े नहीं होंगे और उस समय धूप भी नहीं रही होगी। उससे यदि शास्त्र कहता है कि 'ठंड की दवा आग है', तो इसका मतलब यह है कि 'तू आग के पास चला जा, आग की खोज कर।' यहाँ से कला का आरम्भ होता है। एक विद्या तो हो गयी। आवश्यक ज्ञान हो गया कि आग ठंड की दवा है। लेकिन आग कैसे प्राप्त करूँ? आग कैसे जलाऊँ? आग कहाँ मिलेगी? ऐसे विचार वह करने लगता है, उसके बाद वह कोशिश करने लगता है। यह आग का 'योग-शास्त्र' कहलाता है।

जीवन-कला का उद्देश्य : सहानुभूति

जीवन की कला ब्रह्मविद्या है। उसका मुख्य उद्देश्य है—जीवमात्र के लिए, सृष्टि में जितने प्राणी हैं, उन सबके लिए समादर! प्राणिमात्र के लिए आदर में सहानुभूति भी आती है। उसकी अनुभूति मेरी अनुभूति हो जाती है।

मान लीजिये, कोई आदमी बीमार है। गले में गाँठें आ गयी हैं, बाहर से सूजन दिखाई देती है। वैद्य-डॉक्टर कहते हैं कि अब इसके हलक के नीचे पानी भी नहीं उतर सकता। वह बिस्तर पर पड़ा छटपटा रहा है। आप किसीसे कहते हैं कि "चलिये, जरा उन्हें देख लीजिये।" वे कहते हैं, "भाई, हमारे लिए कोई दूसरी सेवा बता दीजिये, हम मरीज की कोठरी में नहीं जायँगे। उसकी हालत हमसे देखी नहीं जाती है!" सोचने की बात है कि बीमार तो वह है और दुःख इन्हें होता है! इनकी अनुभूति और उसकी अनुभूति एक हो गयी है। उसके दुःख में ये शामिल हो गये हैं। **दूसरे के दुःख में शामिल होने की यह जो प्रक्रिया है, उसका नाम है सहानुभूति, जीवमात्र के लिए सहानुभूति।** अंग्रेजी में इसे सहानुभूति का अमृत कहते हैं। यह जीवन की ब्रह्म-विद्या है।

भतदया अलग चीज है, सहानुभूति अलग। जो दया का पात्र होता है, उसकी भूमिका कुछ दूसरी होती है। सहानुभूति **'सहजीवन की सद्भावना'** है। समाजशास्त्र में जिसे हम 'जीवन की विद्या' कहेंगे, वह दरअसल सहजीवन की विद्या है। वह विद्या मुझे आपके साथ और आपको मेरे साथ जीना सिखाती है, हमें एक-दूसरे की जिन्दगी में शामिल होना सिखाती है। इसके लिए जिस आचार की जरूरत होती है, उसे हम 'योगशास्त्र' कहते हैं।

पहला कदम कौन उठाये ?

सह-विचार की भूमिका से जब हम जीवन का विचार करते हैं, तो उसका मुख्य लक्षण है—सहानुभूति। सुख देने से सुख मिलता है और दुःख देने से दुःख। जो बोओगे, वह काटोगे, दो दिया होगा, सो पाओगे। इसे पारमार्थिक हिसाब कहते हैं। अंग्रेजी में इसे 'सुवर्ण नियम' कहते हैं। इसे हम जीवन की कला कहते हैं। जीवन का विज्ञान है—सहजीवन। जीवन की कला है—सुख देने से सुख होता है, दुःख देने से दुःख होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि सुख देने का आरम्भ कौन करे? अभिक्रम कौन करे? पहला कदम आप उठायें या मैं?

मान लीजिये कि मेरा यह विश्वास हो गया है कि फलाँ आदमी बड़ा होशियार है। जब तक वह कुछ नहीं करता, तब तक मैं क्यों कदम उठाऊँ?

यह 'प्रतियोगी जीवन' कहलाता है। इस जीवन में अभिक्रम, पहला कदम उठाना, सामनेवाले पर छोड़ दिया है।

'ताहि बोउ तू फूल'

योग-शास्त्र क्या है? वह कहता है कि पहला कदम तुम अपनी तरफ से उठाओ। जो व्यक्ति तुम्हारे लिए काँटे बोता है, उसके लिए तुम फूल बोओ। प्रश्न हो सकता है कि 'ऐसा क्यों करें? वह काँटे बोता है, तो हम फूल क्यों वोयें? इसीलिए कि जो वोओगे, वह काटोगे।

व्यवहारचतुर मनुष्य कहता है, "आपको यदि पैसे लेने हैं, तो पहले रसीद दीजिये, वाद में पैसे लीजिये और यदि पैसे देने हैं, तो पहले पैसे दीजिये, वाद में रसीद लीजिये।" ऐसा व्यवहार आदमी करेगा, तो दोनों बैठे ही रह जायेंगे। यह अव्यवहार्य है। इसलिए अभिक्रम, पहला कदम हमें उठाना चाहिए। सदाचार का आरम्भ अपने से होता है। पहला कदम कौन उठायेगा? पहला कदम मैं उठाऊँगा। इस अभिक्रम का नाश कभी नहीं होता। जिसने पहला कदम उठा लिया, उसके लिए कोई खतरा नहीं है। सदाचार में पहला कदम हम उठायेंगे, जवाबी कदम नहीं।

सामाजिक जीवन में सदाचार

१९१९ की अमृतसर-कांग्रेस में एक ओर था गांधी और दूसरी ओर तिलक। तिलक स्वयं बहुत कम बोले। समस्या यह थी कि जलियाँवाला बाग में जो हत्याकाण्ड हुआ, उसमें सरकार की निन्दा की जाय। गांधी ने कहा कि "सरकार की निन्दा तो अवश्य कीजिये, लेकिन उसके साथ-साथ जनता की ओर से जो ज्यादती हुई, उसकी भी निन्दा कीजिये।" राजनेताओं ने कहा कि "यह शख्स भूल-भटककर यहाँ आ गया है। यह कहाँ के मूल्य कहाँ ला रहा है? पारमार्थिक मूल्यों को राजनीति में दाखिल करना चाहता है और सरकार की शक्ति को मजबूत करना चाहता है।" बहुत लोगों ने गांधी का विरोध किया, लेकिन मौका कुछ ऐसा था कि प्रतिकार की शक्ति अकेला गांधी ही रखता था।

गांधी में प्रतिकार की शक्ति

एक काल्पनिक कहानी है कि एक बार गांधी, तिलक और गोखले ट्रेन के एक ही डिब्बे में बैठे हुए थे। डिब्बे के बाहर तख्ती पर लिखा था कि 'गोरे और नीमगोरे लोगों के लिए सुरक्षित।' गोखले ने कहा कि "यह ठीक नहीं। मैं गार्ड के पास जाता हूँ और यह तख्ती निकालने के लिए कहता हूँ। यदि वह नहीं मानेगा, तो मैं स्टेशन मास्टर के पास जाऊँगा, वह भी नहीं मानेगा, तो मैं वाइसरॉय के पास जाऊँगा।" तिलक ने कहा, "ऐसा क्यों करते हो? उनके पास जाने की कोई जरूरत नहीं। वह तख्ती ही निकालकर फेंक दो।" गांधी ने कहा, "तख्ती भी रहने दो, और बैठो भी यहीं! न तो किसीके पास जाने की जरूरत है, न तख्ती निकालने की जरूरत है। इस डिब्बे को इस तरह से सुरक्षित रखने की कोई जरूरत नहीं है। इसलिए हम यहाँ से नहीं हटेंगे।"

ऐसी प्रतिकार करने की शक्ति केवल गांधी में ही थी, और किसीमें थी ही नहीं। इसलिए सब लोगों को गांधी की बात माननी पड़ी। संसार के राजनीतिज्ञों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से उसकी आलोचना की। लेकिन सदाचार के वैज्ञानिकों ने लिखा कि अमृतसर की कांग्रेस में सार्वजनिक जीवन में नैतिकता को दाखिल कराने का अपूर्व प्रयत्न हुआ। राजनीति के इतिहास में यह अद्भुत अध्याय लिखा गया है।

पहले दो, फिर लो

तुम दूसरों से जो चाहते हो, वह दूसरों को पहले दे दो, बाद में तुम पाओगे। पहला कदम उठाने तक नीतिशास्त्र आ गया है। सुख चाहते हो, तो पहले तुम सुख दो, बाद में लो। सवा सेर सुख चाहते हो, तो सवा सेर सुख दो। तराजू से तौलकर बिलकुल बराबर दो। गांधी कहता है, तुम दूसरों से जितना चाहते हो, उससे अधिक दो। दूसरों से यदि सवा सेर चाहते हो, तो उन्हें डेढ़ सेर दो। यहाँ ब्याज लेना नहीं है, ब्याज देना है। यह है— सहजीवन का कर्मयोग-शास्त्र! दूसरे के जीवन में तुम्हें शामिल होना है, अपने जीवन में दूसरे को शामिल करना है।

उपकार : एक सामाजिक मूल्य

मान लीजिये कि मैं रात में जा रहा हूँ। रिक्शे का धक्का लगने से मैं गिर पड़ता हूँ। मुझे चोट आ जाती है। रामकृष्ण शर्मा एक्के में बैठकर जा रहे हैं। मुझे देखकर कहते हैं—"दादा, मेरे एक्के में आ जाइये। आपके घर तक पहुँचा दूँ। आपको चोट भी आयी है।" अब प्रश्न है कि शर्माजी का मैं बहुत आभारी हूँ। इसका बदला कैसे चुकाऊँ? क्या मैं ऐसी कामना करूँ कि ऐसा मौका एकाध दिन उन पर भी आये और उस वक्त मैं उनकी मदद करूँ? क्या यह सदाचार होगा? लोग तो इसे 'व्यवहार' कहते हैं। लेकिन मैं कहूँगा कि "शर्माजी, भगवान् न करे, और किसी पर यदि ऐसा मौका आये, तो मैं उन्हें ऐसी ही मदद करूँगा।" **यहाँ उपकार एक सामाजिक मूल्य बन जाता है। इस प्रकार हम सर्वोदय की ओर एक-एक कदम आगे बढ़ रहे हैं।**

हमें दूसरे को अपनी जिन्दगी में शामिल करना है। दूसरे को सुख देने में सुख होता है और दुःख देने में दुःख होता है। लेकिन पहला कदम मैं उठाऊँगा। लोगों से तुम जितना चाहते हो, उससे अधिक तुम उन्हें दो। यह सुवर्ण नियम नहीं है। यह तो जीवन का नक़्द कलदार है। जीवन के कलदार के लिए सराफे के नियम लागू नहीं होते। तो पहला कदम तुम उठाओ और फिर जितना चाहते हो, उससे ज्यादा दो। यह लेन-देन नहीं है, यह परस्पर उपकार नहीं है। यह सामाजिक मूल्य है। उपकार सामाजिक मूल्य तभी बनता है, जब उसमें प्रत्युपकार नहीं होता है। उपकार निरपेक्ष होना चाहिए। सापेक्ष-उपकार, उपकार नहीं है। **हम प्रतिदान भी नहीं चाहते और प्रत्युपकार की भी आशा नहीं करते, ऐसा जो उपकार होता है, उसे हम समाज-धर्म कहते हैं। वह सामाजिक मूल्य बन जाता है।**

इन सामाजिक मूल्यों के आधार पर हमें क्रान्ति करनी है। हमारी क्रान्ति का जो तन्त्र होगा, उसकी जो प्रक्रिया और पद्धति होगी, उसका आधार 'उपकार' होगा। उपकार का अर्थ है—अपने जैसा दूसरे को देखना। 'उप' का अर्थ है 'समीप'। अपने नजदीक दूसरे को करना उपकार है।

आदमी नहीं, हैवान !

मैं जब छोटा था, तब एक दिन मेरी बूआ की बेटी छत पर से गिर पड़ी। मैं डॉक्टर के पास दौड़ा। मैंने कहा, "मेरी बहन गिर गयी है, वह बेहोश है। आप जरा जल्दी चलिये।" डॉक्टर ने कहा—"मैं अभी-अभी देहात से थका-माँदा आ रहा हूँ। सिर्फ एक घूँट चाय पीकर अभी तुम्हारे पीछे-पीछे आता हूँ। तुम चलो।" घर पहुँचते ही बूआ ने मुझसे पूछा, "डॉक्टर क्या कर रहा था ?" मैंने कहा, "वह थककर आया था, इसलिए उसने कहा कि एक घूँट चाय पीकर अभी मैं तुम्हारे पीछे-पीछे आता हूँ।" बूआ ने कहा, "हैवान है वह ! उसकी लड़की ऐसे गिर पड़ती, तो क्या वह ऐसे बैठकर चाय पीता ?" मतलब, जो दूसरों को अपने जैसा देखता है, उसका नाम है इन्सान। जो दूसरों को अपने जैसा नहीं देखता है, उसका नाम है हैवान। जो दूसरे को अपने जैसा देखता है, वह परोपकार करता है।

साबित इन्सान कौन ?

हमारी इस क्रान्ति का आदर्श है—साबित इन्सान। ऐसा मानव, जो निरपेक्ष उपकार करता है, जिसमें स्वाभाविक सहानुभूति है, दूसरे का दुःख देखकर जिससे रहा नहीं जाता और वह जो कुछ करता है, वह इसीलिए करता है कि उसके बिना उससे रहा नहीं जाता। जो सदाचार के बदले में कुछ नहीं चाहता, ऐसे निरपेक्ष सदाचारी मानव की आज दुनिया को खोज है। इसे हम 'उत्तम पुरुष' कहते हैं। यह उत्तम पुरुष निरपेक्ष उपकार कर सकता है। तीन तरह के पैमाने हमारे पास हैं :

औसत,
शास्त्रशुद्ध सामान्य और
आदर्श।

औसत वह है, जो है सब जगह, लेकिन पाया कहीं नहीं जाता। वह एक कल्पना है।

एक बार 'रॉटरी क्लब' में भाषण करने गया। उन्होंने अपनी रिपोर्ट पढ़कर सुनायी। उसमें लिखा था कि हमारी औसत हाजिरी ८६॥ है। ८६

की हाजिरी तो समझ में आती है, लेकिन ८६॥ की हाजिरी कैसे होगी ? बोले—"औसत है। अर्थात् ज्यादा-से-ज्यादा लोगों की हाजिरी और कम-से-कम लोगों की हाजिरी को मिलाकर औसत निकाला जाता है।"

आज औसत आदमी कहीं है ही नहीं। यह कल्पना है। वह आदर्श और शास्त्रशुद्ध सामान्य,—इन दोनों पर निर्भर है। औसत बदलता है। आदर्श की ओर उसकी जितनी प्रगति होती है, उतना ही औसत में हेर-फेर होता जाता है। इसलिए मुख्य वस्तु है आदर्श। आदर्श मानव (पुरुष और स्त्री, दोनों) हमारा मुख्य पैमाना होगा।

क्रान्ति के लिए तीन बातें आवश्यक

जीवन की परीक्षा के निकष या पैमाने बिलकुल सही होने चाहिए। सामाजिक प्रतिष्ठाओं को ही मूल्य कहते हैं। इन सामाजिक मूल्यों का परिवर्तन ही सामाजिक क्रान्ति है। सिर्फ बाहर से समाज को बदल देने का नाम क्रान्ति नहीं है। पहाड़ की जगह तालाब तो भूकंप से भी हो सकता है। लेकिन वह क्रान्ति नहीं है। क्रान्ति के लिए तीन बातों की आवश्यकता है :—

१. उद्देश्य,
२. उस उद्देश्य के अनुरूप साधन और
३. उस साधन पर मानव का पौरुष।

विशिष्ट उद्देश्य से, विशिष्ट साधनों द्वारा मानव के पुरुषार्थ से समाज-परिवर्तन ही क्रान्ति है। रास्ता साफ है, लेकिन कदमों में चलने की ताकत नहीं है, तो रास्ते से कोई फायदा नहीं। समाज के बाजार-भाव को बदल देना ही क्रान्ति है।

सामाजिक मूल्यों की कसौटी

सामाजिक जीवन की प्रतिष्ठा को हम 'मूल्य' कहते हैं। प्रामाणिकता उसका पहला लक्षण है और उसकी कसौटी है, अपने जैसा दूसरे को जानना।

हमारे बचपन में हमारे नगर में एक दफा एक नर्तकी आयी थी। यह परदेश से आयी थी। इसलिए स्कूल-मास्टरों ने और पालकों ने उसकी कला देखने

की इजाजत दी। नाच काफी अच्छा हुआ। पर मैं गंभीर होकर सोचता बैठा रहा। मित्रों ने पूछा कि "तू मुँह लटकाकर क्यों बैठा है? क्या तुझे नाच अच्छा नहीं लगा?" मैंने कहा—"नाच तो अच्छा था, लेकिन मुझे एक विचार आया है।" उन्होंने पूछा—"क्या विचार आया है ?" मैंने कहा—"नाच तो अच्छा है। उसमें कला भी है। रुचि से उसे देखा भी, लेकिन मैं सोचता हूँ कि इस जगह यदि मेरी माँ होती, तो क्या मैं इतनी ही रुचि लेकर, टिकट लगवाकर उसका नाच देखता और लोगों को दिखाना पसंद करता?" तब मित्रों ने कहा कि "तूने सोचा तो ठीक है। बात भी सही है। लेकिन इस तरह सोचना नहीं चाहिए!"

सर्वोदय के दर्शन में हमारी कोई अपनी अर्थ-प्रणाली या राज्य-प्रणाली नहीं है। यह सामाजिक मूल्यों का और सामाजिक प्रतिष्ठाओं का ही विचार है।*

● ● ●

---

* वाराणसी के मजनहाल में १९-२-'५७ का सायं-प्रवचन।

सामाजिक मूल्यों के लक्षण : २२ :

मनुष्य को जिन बातों की बुनियाद पर समाज में इज्जत मिलती है, उन वुनियादों का नाम 'मूल्य' है। प्राचीन परिभाषा में उन्हें 'सामाजिक सत्ता' या 'सामाजिक प्रतिष्ठा' कहते थे। इस बुनियाद को एक सिरे से दूसरे सिरे तक पूरी तरह बदल देने का नाम 'क्रान्ति' है। **मूल्यों के प्रधान लक्षण हैं—प्रामाणिकता, सचाई, ईमानदारी।** ईमान, प्रामाणिकता और सचाई की परिभाषा **है—अपने जैसा दूसरों को देखना।** अर्थात् मैं अपने लिए जो कुछ करूँगा, वह दूसरों के लिए करूँगा और पहला कदम मैं उठाऊँगा। कोई दूसरा पहला कदम उठाये, इस बात का इन्तजार मैं नहीं करूँगा।

दूसरे के जवाव में जब हम कदम उठाते हैं, तो हमारा जीवन प्रतियोगी हो जाता है। यह स्वायत्त जीवन नहीं है। स्वायत्त जीवन वह जीवन है, जो मेरे हाथ में है, जिस पर मेरा कब्जा है। किसीकी चिट्ठी आये, तो हम जबाव देंगे। चिट्ठी नहीं आयेगी, तो हम भी जवाब नहीं देंगे। यह परायत्त जीवन है। इसलिए इस जीवन से मनुष्य को नित्य सुख या आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

फल-निरपेक्ष कर्तव्य

स्वायत्त जीवन का ही नाम स्वतन्त्रता है। जो जीवन हमारे अपने हाथ में है और दूसरे की मर्जी पर निर्भर नहीं है, उस स्वायत्त जीवन को ही हम 'स्वतन्त्रता' कहते हैं। ऐसी हालत में सचाई का तकाजा यह है कि जो अपने लिए मैं ठीक समझता हूँ, वह दूसरे के लिए करूँगा और आरम्भ मैं करूँगा। स्वायत्त जीवन में हम जो-जो कदम उठाते हैं, वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। भगवद्गीता के अनुसार उसमें किसी तरह के अभिक्रम का नाश नहीं होता। जो आरंभ किया है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। आज भले ही उसका फल दिखाई न दे, पर आगे चलकर उसका फल दिखाई देता है। इसे 'फल-निरपेक्ष

कर्तव्य' कहते हैं। इसमें प्रतिदान की अभिलाषा तो होती ही नहीं, यह भी इच्छा नहीं होती कि इसका कुछ फल हमें मिले। प्रश्न है कि तो क्या हमारा सारा प्रयास निष्फल प्रयास है? यदि हम कोई परिणाम नहीं चाहते, तो फिर प्रयास व्यर्थ है और व्यर्थ प्रयास करना मूर्खता है। जब हम कहते हैं कि हमारा कर्तव्य निरपेक्ष हो, तो इसका मतलब यही है कि फुटकर फलों की आशा छोड़कर अन्तिम फल की ही आशा रखनी चाहिए। व्यापक अभिलाषा का नाम ही निरभिलाष है। छोटा जब व्यापक हो जाता है, तब हम कहते हैं कि यह निरपेक्ष हो गया। जब मैं सबकी भलाई चाहने लगता हूँ, तब मेरा स्वार्थ परार्थ से आगे बढ़ जाता है और वह परमार्थ होता है। जीवन के अन्तिम फल की अभिलाषा का नाम है—निरभिलाषा। जब हम कहते हैं कि फल की अभिलाषा मत करो, तो इसमें क्रान्ति का सूत्र आ जाता है।

फुटकर सुधार अवांछनीय

फुटकर सुधार क्रान्ति के शत्रु होते हैं। छोटे-छोटे सुख बड़े सुख में बाधक होते हैं। जो व्यक्ति सिद्धि के चक्कर में फँस जाता है, वह मुक्ति से वंचित हो जाता है। फुटकर सुधार अन्तिम सुधार के रास्ते के रोड़े हैं। ये उसमें बाधक हो जाते हैं। मनुष्य को अगर बाँधता है, तो सुख बाँधता है, दुःख नहीं बाँधता। हम और आप पूँजीवाद के साथ क्यों बँधे हैं? इसीलिए कि उसने हमें फुटकर मालिक बना दिया। पुराने जमाने में हमें पढ़ाया जाता था कि अंग्रेजी राज्य से फायदे हैं—तार, स्कूल, रेल, अदालतें। गांधी ने कहा—"ये ही वे चीजें हैं, जिन्होंने आपको अंग्रेजों के कैदखाने में बन्द कर दिया है। इन्हें आप छोड़ दीजिये। अनात्मा से होनेवाले सुख का त्याग कीजिये।" क्रान्तिकारी की मनोवृत्ति में और सुधारवादी की मनोवृत्ति में यही अन्तर है। जो फुटकर सुधारों में उलझ जाता है, उसे 'फलासक्त' मनुष्य कहते हैं। फलासक्त मनुष्य तात्कालिक सुख के लिए अपनी स्वतन्त्रता खो देता है। निरपेक्ष आचरण का मतलब यह है कि हमारे आचरण का जो उद्देश्य होगा, वह अन्तिम होगा। दोनों पक्षों के उद्देश्य जब अन्तिम होते हैं, तो वहाँ चलकर दोनों में कोई टक्कर नहीं होती। हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि क्या आर्थिक क्षेत्र में भी मनुष्यों के स्वार्थों में हमेशा अविरोध कायम किया जा सकता है?

मार्क्स के सिद्धान्त

आधुनिक सिद्धान्त यदि लेते हैं, तो हमें सबसे पहले मार्क्स के सिद्धान्त लेने होंगे। संसार में क्रान्ति को विज्ञान का जामा पहनानेवाला सबसे पहला व्यक्ति मार्क्स था। मार्क्स के पहले और किसीने नहीं कहा कि क्रान्ति का कोई विज्ञान हो सकता है। मार्क्स के कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं, जो वैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। उनका विकास कैसे हो सकता है और वे आज के समाज के अनुकूल, अद्यतन कैसे हो सकते हैं, इसका विचार हमें करना होगा।

उत्पादन-पद्धति, उत्पादन के साधन, उत्पादन के सम्बन्धों से मनुष्यों के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं।

जीविका और जीवन

मनुष्य की जैसी जीविका होती है, वैसा ही उसका जीवन बनता है। जैसी जीविका, वैसा जीवन—यह मार्क्स के सिद्धान्त का निचोड़ है। ऐसा नहीं है कि उसके पहले इस बात को किसीने समझा नहीं था। लोगों ने उसे समझा तो था, लेकिन यह किसीने नहीं समझा था कि यह क्रान्ति का सिद्धान्त हो सकता है। समाज-रचना का यह सिद्धान्त हो सकता है, यह तथ्य तो लोगों की समझ में आ गया था, लेकिन यह सिद्धान्त गतिशील सिद्धान्त है, इस सिद्धान्त के आधार पर क्रान्ति हो सकती है, ऐसा किसीने नहीं समझा था। पर हमारे यहाँ यह तथ्य समझ लिया गया था। 'उपजीवन' शब्द उसका द्योतक है। जीविका का जो साधन होता है, उसे 'उपजीवन' कहते हैं। जीवन और जीविका का सम्बन्ध अभेद्य है।

जीवन में उपजीवन का इतना महत्त्व माना गया है। जीविका के जो साधन हैं, और उन साधनों के कारण जो सम्बन्ध प्रस्थापित होते हैं, उनमें परिवर्तन करना होगा, यही क्रान्ति है। सबको खाना, कपड़ा, मकान मिल जाना क्रान्ति नहीं है। जितनी जरूरत हो, उतना खाना मिले, कपड़े की जरूरतें पूरी हो जायें, हरएक को रहने के लिए अच्छा मकान मिल जाय,—यह मनुष्य को सुखी जानवर बना सकता है, लेकिन स्वतंत्र मानव नहीं बना सकता। इसलिए यह क्रान्ति नहीं है। क्रान्ति में मनुष्य की जीविका-उपार्जन की पद्धति,

उसके औजार और मनुष्य के एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध बदल जाने चाहिए। ऐसा होने पर न तो पश्चिमवालों के वर्गभेद रहेंगे और न हमारे जातिभेद। जन्मनिष्ठ व्यवसाय का नाम जातिभेद है। मान लें कि ब्राह्मण भी पेटभर खा सकता है, भंगी भी; ब्राह्मण भी शानदार कपड़े पहन सकता है, भंगी भी; ब्राह्मण भी अच्छे मकान में रहता है, भंगी भी; दोनों अपनी-अपनी जगह सुखी हैं, फिर भी यह 'क्रान्ति' नहीं है। दोनों के व्यवसाय समाज में समान रूप से प्रतिष्ठित नहीं हैं। जीविका की पद्धति में और प्रतिष्ठा में जब आमूलाग्र परिवर्तन होता है, तो वह 'क्रान्ति' कहलाती है।

जीवन में परिवर्तन आवश्यक

क्रान्ति में मूल्य का परिवर्तन होगा। सबसे पहले हमें अपने जीवन में मूल्य-परिवर्तन करना होगा। लोग कहते हैं कि हम ऐसी कोशिश करनेवाले हैं कि सबको पूरा खाना, कपड़ा और मकान मिले। परन्तु क्या आपकी पोथी आपके पास रहेगी और कुल्हाड़ी लकड़हारे के पास ? यदि आपकी पोथी आपके पास है, कुल्हाड़ी लकड़हारे के पास है, तो वह क्रांति नहीं है। स्पष्ट है कि आपके जीवन में क्रान्ति नहीं आयी। जब यह कोशिश होगी कि कुल्हाड़ीवाले के पास कुल्हाड़ी भी रहे और पोथी भी आये; और पोथीवाले के पास पोथी भी रहे और कुल्हाड़ी भी आये, तभी क्रान्ति होगी। दोनों सव्यसाची होंगे, दोनों के दोनों हाथ चलेंगे। जो अपने जीवन में वर्ग-परिवर्तन कर लेता है, वह मनुष्य हमारी क्रान्ति का पहला साधन भी है और पहला कर्ता भी है।

हमारे आर्थिक संयोजन की विभूति ऐसा संवादी मानवीय व्यक्ति ही हो सकता है, जिसमें शास्त्रशुद्ध सामान्य और आदर्श मानव का संवाद हुआ है। वही मनुष्य हमारा 'साम्ययोगी मानव' या 'मानवता की विभूति' माना जायगा। ऐसे मनुष्यों के स्वार्थों में विरोध नहीं होता, क्योंकि वहाँ पर स्वार्थ हित में परिणत हो जाता है। मनुष्यों के स्वार्थों में विरोध हो सकता है, लेकिन मनुष्यों के हित में, कल्याण में, कभी विरोध नहीं हो सकता।

स्वार्थ में विरोध, हित में अविरोध

मान लीजिये कि मैंने चोरी करने का विचार किया। अब मैं सबसे पहले

प्रार्थना करता हूँ कि हे भगवन्, रात अँधेरी हो या आकाश में बादल घिर जाय, ताकि चन्द्रमा न दिखे। जब मैं साहूकार के घर पहुँचता हूँ, तो चाहता हूँ कि दीवाल की ईंटें इतनी कच्ची हों कि एक लात मारते ही दीवाल टूट पड़े, भीतर रखी गोदरेज की तिजोरी का लोहा कच्चा हो और उसका ताला ऐसा हो कि मामूली कील से भी खुल जाय, घर के लोगों को ऐसी नींद लगे कि वे मुरदे जैसे पड़े रहें। चोरी का माल लेकर जब मैं अपने घर पहुँचता हूँ, तो यह चाहता हूँ कि अब चन्द्रमा निकल आये, मेरे मकान की दीवालें इतनी मजबूत हों कि एटम बम से भी न टूटें, गोदरेज की तिजोरी ऐसी हो जाय कि जिस पर किसी भी चोट का बिलकुल असर न हो और मुझे ऐसी नींद लगे कि किसीके खर्राटे की आवाज आते ही वह खुल जाय। इस प्रकार मेरा सारा-का-सारा दृष्टिकोण बदल जाता है।

मूल्य के पाँच लक्षण

मनुष्यों का स्वार्थ परस्परविरोधी हो सकता है, पर उनके हित में कभी विरोध नहीं हो सकता। जिन लोगों ने आज तक यह सिखाया है कि एक का संकट दूसरे का सुयोग है और एक की मृत्यु दूसरे का जीवन है, उन्होंने जीवन को समझा ही नहीं है।

प्रामाणिकता

जो सबके लिए समान रूप से लागू होता है, उसे 'मूल्य' कहते हैं। उसका पहला लक्षण है—उसमें प्रामाणिकता, सचाई होनी चाहिए। जो अपने लिए चाहूँ, वही दूसरे के लिए चाहूँ।

सार्वत्रिकता

मूल्य का दूसरा लक्षण यह है कि वह सबके लिए समान रूप से लागू हो सकता है, व्यापक हो सकता है। जो व्यापक नहीं हो सकता, वह मूल्य ही नहीं है। यदि बाजार में सभी नकली सिक्के चलते हैं, तो अर्थशास्त्री कहता है कि बाजार में जो सिक्के चलते हैं, वे नकली नहीं, असली ही हैं। नकली सिक्के तो वे होते हैं, जो बाजार में चलते ही नहीं। दुर्गुण में यह ताकत ही

नहीं है कि वह सार्वत्रिक या व्यापक हो सके। जिस दिन दुर्गुण समाज में फैल जायेगा, उस दिन वह नष्ट हो जायगा। 'मूल्य' का यह एक अवाधित लक्षण है।

निरपेक्षता

मूल्य का तीसरा लक्षण है—निरपेक्षता। वह अपने ही नाम पर चलता है, दूसरे के नाम पर नहीं। नकली सिक्का अपने नाम पर कभी नहीं चलता। नकली सिक्का असली सिक्के के नाम पर चलता है। झूठ सत्य के नाम पर चलता है। इसलिए झूठ अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता है। वह 'मूल्य' नहीं है। सत्य 'मूल्य' है।

स्वतःप्रामाण्य

मूल्य का चौथा लक्षण है—स्वतःप्रामाण्य। वेदों का प्रामाण्य स्वयंसिद्ध है। प्रेम का बचाव कभी करना ही नहीं पड़ता। द्वेष का बचाव करना पड़ता है। लड़ाई के लिए कारण खोजना पड़ता है। प्रेम के लिए कोई कारण नहीं खोजना पड़ता। असभ्यता की, झूठ बोलने की, हिंसा की, कैफियत देनी पड़ती है। यह कोई नहीं पूछता कि आप सत्य क्यों बोले। 'मूल्य' स्वतःप्रमाण होता है।

स्वभाव की अनुरूपता

मनुष्य का स्वभाव यह है कि उसे प्रेम में आनन्द होता है, द्वेष में दुःख होता है। शान्ति में आनन्द होता है, क्रोध में बेचैनी होती है। जिसको आप रखना चाहते हैं, वह स्वभाव है, और जिसको छोड़ना चाहते हैं, वह विकार है। झूठ बोलना हमारा स्वभाव नहीं है, क्योंकि उसके लिए कारण की आवश्यकता होती है। सत्य हमारा स्वभाव है। प्रेम हमारा स्वभाव है। अहिंसा हमारा स्वभाव है। इसकी कसौटी यही है कि जिसका हम निराकरण करना चाहते हैं, वह हमारा स्वभाव नहीं है। जिसका हम निराकरण नहीं करना चाहते, वह स्वभाव है। जिसका हम संरक्षण करना चाहते हैं, विकास करना चाहते हैं, वह स्वभाव है।

मूल्य का पाँचवाँ लक्षण है—वह मनुष्य स्वभाव के अनुरूप हो। जिसे

हम रखना चाहते हैं, वह हमारा स्वभाव है, जिसे छोड़ना चाहते हैं, वह हमारा स्वभाव नहीं है।

वृत्ति में परिवर्तन आवश्यक

अब इन मूल्यों की स्थापना हमें अपने जीवन में करनी है। ये हमारे संयोजन के साधन होंगे। इसके लिए आपकी और हमारी मनोवृत्ति में परिवर्तन की आवश्यकता होगी। वृत्ति में परिवर्तन होने पर ही मूल्यों की स्थापना हो सकेगी। जब तक यह परिवर्तन नहीं होगा, तब तक इन मूल्यों की स्थापना नहीं हो सकती।*

* वाराणसी के टाउनहाल में २०-१-'५७ का सायं-प्रवचन।

परिशिष्ट : १

अहिंसक आक्रमण और नैतिक दबाव

प्रबोध भाई ने प्रश्न किया था कि "क्या अहिंसा में आक्रमण भी हो सकता है ?"

बापू ने एक दफा लिखा कि हमारी यह साजिश भी है और प्रकट भी है। हम यह खुल्लमखुल्ला 'षड्यन्त्र' कर रहे हैं। साजिश हमेशा गुप्त होती है, उसे उन्होंने खुली साजिश कहा। इसी तरह उन्होंने 'अहिंसक बगावत' कहा। प्रश्न है कि क्या आक्रमण भी अहिंसक हो सकता है ?

हो सकता है। मान लीजिये कि मेरे घर में आग लगती है। आप मुझसे बगैर पूछे आग बुझाने के लिए दौड़ रहे हैं। अब यह सेवा है और अनाहूत है। याने आपको मैं बुला नहीं रहा हूँ। या फिर मैं सबको बुला रहा हूँ या मुझे होश ही नहीं है। मेरे घर में आग लगी है और मैं चिल्ला भी नहीं रहा हूँ। तब भी आप दौड़ते हैं और दौड़कर मेरे घर की आग बुझाते हैं। यह है तो एक तरह से आक्रमण कि बगैर बुलाये आप आते हैं, पर असल में यह आक्रमण नहीं है। प्रेम में जो आक्रमण होता है, उसका नाम आक्रमण है, पर दरअसल वह आक्रमण नहीं होता। सेवा और प्रेम में जो विधायक सेवा होती है, उस सेवा के लिए कभी किसीको निमन्त्रण नहीं करना पड़ता। सच्चा सेवक कहीं भी सेवा का अवसर दिखाई देते ही दौड़ जाता है। इतना ही इसमें आक्रमण होता है।

जहाँ-जहाँ हम आक्रमण का विचार करते हैं, वहाँ-वहाँ आक्रमण के पीछे वही कल्पना रहती है, जो हिंसक आक्रमण के पीछे थी। इसीलिए आक्रमण का सवाल हमारे मन में उठता है। वैसे अहिंसा के साथ आक्रमण आये, तो वह आक्रमण नहीं रह जाता।

लोगों ने एक शब्द गढ़ लिया है, 'नैतिक दबाव।' नैतिक भी हो और दबाव भी हो, यह कैसे ? 'नैतिक दबाव' से मतलब क्या है ? यही कि आपका

मुझ पर असर होता है। इस तरह के असर को भी दवाव कहें, तो वह तो शब्दप्रयोग मात्र है। नैतिक दवाव का असल मतलब यह है कि वह दवाव ही नहीं है। जो कुछ असर वह डालता है, वह हमारे भीतर है। वह डराता नहीं है। उसके पास सत्ता नहीं है। उसके पास शस्त्र नहीं है। ऐसी हालत में उसका वजन हम पर पड़ता है, तो वह दवाव क्या है ?

हम खाने वैठते हैं और भिखारी आ जाता है। वह दरवाजे पर आकर खड़ा होता है—"बस, एक रोटी दे दो", इतनी ही माँग करता है। हम कहते हैं–"यह हम पर बड़ा जुल्म करता है।" अव वताइये, वह क्या जुल्म करता है ? वह तो सिर्फ खड़ा है वहाँ और एक रोटी माँगता है। लेकिन हमसे नहीं खाया जाता। वह माँगता है और हमसे खाया नहीं जाता। तो असल में हमारी शिकायत यह है कि वह हमारे दिल में कहीं पर छिपी हुई मानवता का आवाहन क्यों करता है ! इसी तरह **'नैतिक दबाव'** और **'अहिंसक आक्रमण'** जैसे शब्द बन गये हैं। इनकी जड़ में यदि हम जायँ, तो इनमें कोई वुराई नहीं है—न तो **'अहिंसक आक्रमण'** में कोई वुराई है और न **'नैतिक दबाव'** में ही। ●●●

परिशिष्ट : २

कानून-भंग की मर्यादाएँ

प्रश्न था कि हम कहाँ तक कानून-भंग कर सकते हैं। बापू ने इसकी बड़ी चर्चा की है। एक शर्त उन्होंने इसमें यह डाली थी कि जिसके मन में कानून के लिए आदर है, वही कानून-भंग का अधिकारी है।

सुकरात के जीवन में एक प्रसंग आता है। उसके साथी उससे यह कहने के लिए आये कि "तुम जेलखाने से भाग चलो।" उसने कहा, "मैं जेलखाने से भागकर नहीं जाऊँगा।" तो लोगों ने कहा, "तुम्हें जेलखाने में डाल रखा है, यह इन लोगों का अन्याय है। इसलिए तुम यदि भाग जाते हो, तो उसमें कोई बुराई नहीं होगी, असत्याचरण नहीं होगा। सुकरात, तुम भाग चलो।"

उसने जवाब दिया—"मैंने तो इतना ही किया था कि उनका एक नियम तोड़ा। मैं समझता था कि उनका जो नियम अच्छा नहीं है, उसी नियम को मैंने तोड़ा। बाकी के नियमों को तो मैंने नहीं तोड़ा है। इसलिए मान लो, आज यदि तुम्हारे साथ भाग जाऊँ, फिर भी बूढ़ा होने के नाते दो-चार साल में तो मर ही जाऊँगा, तब स्वर्ग में पहुँचने पर स्वर्ग के सारे कानून मुझसे कहेंगे कि सुकरात, पृथ्वी के कानूनों को तुमने वहाँ तोड़ा था, तो तुम यहाँ भी स्वर्ग के कानूनों का पालन करनेवाले नहीं हो। इसलिए तुम्हारे लिए यहाँ स्थान नहीं है।"

इस प्रकार का एक चित्र उसने अपने ढंग से खींचा। बापू का कहना था कि नियम तोड़नेवाला मनुष्य ऐसा होना चाहिए, जो अपने में नियमरूप बन गया है और सामाजिकता जिसका स्वभाव हो गया है। वह जब नियम तोड़ता है, कानून का भंग करता है, तो वह **'सविनय कानून-भंग'** होता है। 'अविनय कानून-भंग' नहीं होता। वह व्यक्ति, जो कानून को मानता ही नहीं है और अराजकता पैदा करता है, उसके कानून-भंग से अराजकता पैदा हो

सकती है। बापू के कानून-भंग से अराजकता इसीलिए पैदा नहीं होती थी कि जिस कानून को वे चुन लेते थे, उसी कानून का भंग करते थे, और कानून-भंग करने के लिए सजा है, इस सामाजिक नियम का पालन करते थे। जो कानून-भंग करेगा, उसे दंड मिलेगा, यह जो समाज का एक नियम है, इसका वे पालन किया करते थे। इसलिए वे कहते थे कि "मुझे यदि पुलिस पकड़ने आ जायगी, तो मैं जेल चला जाऊँगा।"

अब आजकल इसमें एक मर्यादा और आ गयी है। आज जो लोग कानून बनाते हैं, वे लोग लोक-निर्वाचित हमारे प्रतिनिधि हैं। परिस्थिति में एक विशेषता आ गयी है, जो उस वक्त नहीं थी, जिस वक्त बापू ने यह विचार किया था। हंटर कमिटी के सामने बापू से पूछा गया—"तुम कानून-भंग करोगे और सत्याग्रह करोगे, अंग्रेजों के खिलाफ करोगे? इस सरकार के खिलाफ करोगे?" तो उन्होंने कहा—"हाँ, आज इस सरकार के सामने अवसर है, इसलिए मुझे सत्याग्रह करना पड़ रहा है और मैं करूँगा; लेकिन मैं कहना चाहता हूँ कि अवसर आने पर मैं इस अस्त्र का प्रयोग अपने बेटे के खिलाफ भी करूँगा, अपनी माँ के खिलाफ भी करूँगा, अपने भाई के खिलाफ भी करूँगा।"

सत्याग्रह प्रेममूलक होता है। इसलिए जहाँ-जहाँ प्रेम होता है, वहाँ-वहाँ सत्याग्रह अवश्य होगा। पर हमने मान यह लिया है कि जहाँ-जहाँ हमारा अप्रेम होगा, वहाँ-वहाँ हम सत्याग्रह करेंगे। याने भूमिका में ही फर्क पड़ जाता है। होता यह है कि जहाँ हमें गुस्सा आ जाता है या जिसके प्रति हमारा विरोध होता है, हम उसीके खिलाफ सत्याग्रह करते हैं! बहिष्कार में और सत्याग्रह में, जिसे हम कानून-भंग कहते हैं उसमें और सविनय कानून-भंग में एक बहुत बड़ा अंतर है। प्रश्न था कि इन दोनों की कसौटी क्या है? तो गांधीजी ने कसौटी यही बतायी कि जो कानून हम तोड़ेंगे, वह ऐसा कानून नहीं होना चाहिए कि जिसके तोड़ने से नैतिकता का भंग हो। जैसे शराबबंदी का कानून है या अस्पृश्यता-निवारण का कानून है, ऐसा कोई कानून नहीं तोड़ना चाहिए। इसके अलावा एक ही कानून तोड़ना चाहिए और जब हम उसे तोड़ते हैं, तो खुशी से हमें जेल चले जाना चाहिए। जिस सत्ता के ख़िलाफ

हम कानून-भंग करते हैं, उस सत्ता से हमारा विरोध भले ही हो, लेकिन हमारे मन में सत्ताधारियों के प्रति किसी प्रकार का विरोध नहीं होना चाहिए। उनके विषय में हमारे मन में कटुता नहीं होनी चाहिए। ये तीन मर्यादाएँ उन्होंने बतलायीं।

अहिंसा की यह मर्यादा है कि आपकी सचाई पर प्रतिपक्षी का विश्वास होना चाहिए। अहिंसक प्रतिकारी पर प्रतिपक्षी का विश्वास होता है। यानी जेल में भी यदि गाँजे की पुड़ियाँ निकलीं और बबलभाई के बिस्तर के नीचे से निकलीं, तो जेलर यही कहेगा कि किसीने लाकर छिपा दी होंगी, बबलभाई गाँजा थोड़े ही पीते हैं? ऐसा विश्वास प्रतिपक्षी के मन में होना चाहिए। इसे ईमान कहते हैं। यही इसकी कसौटी है। यह जैसे असहयोग के लिए है, वैसे ही कानून-भंग के लिए भी है।

प्रश्न था कि क्या हम कानून-भंग कर सकते हैं?

मैं कहता हूँ कि हाँ, अवश्य कर सकते हैं।

क्या लोक-प्रतिनिधियों की सरकार के विरोध में भी कर सकते हैं?

अवश्य कर सकते हैं, लेकिन उसकी जितनी मर्यादाएँ हैं, उन्हें ध्यान में रखना चाहिए। ●●●

परिशिष्ट : ३

अहिंसा की मर्यादा

अहिंसा की मर्यादा के बारे में पूछा गया है कि ऊपर से यदि बम गिरते हों, तो नीचे से क्या करें ?

ऊपर से जो बम गिरता है, उसमें आज के युद्ध-शास्त्र में बचाव की कोई योजना नहीं है। विश्व का युद्धशास्त्री कुंठित हो गया है। युद्धों का और शस्त्रकला का जमाना लद चुका। अब वीरता आयेगी, तो अहिंसक वीरता ही आयेगी। वह प्रार्थना के रूप में प्रकट हो या मर जाने के रूप में प्रकट हो। जो हो, वह वीरता अहिंसक वीरता ही हो सकती है। विज्ञान ने युद्धशास्त्र में बचाव की कोई गुंजाइश नहीं रखी। आज के युद्धशास्त्र में तलवार का तत्त्व रह गया है, ढाल का तत्त्व निकल गया है। प्रतिकार भी करना हो, तो तलवार से ही करो, बचाव भी करना हो, तो तलवार से ही करो। राष्ट्रों में सेना का जो विभाग होता है, वह 'संरक्षण' का ही विभाग कहलाता है। उसे किसीने आक्रमण का विभाग नहीं कहा। क्यों ? तलवार किसलिए है ? बचाव के लिए। हमने यह सुना था कि ढाल बचाव के लिए होती है, तलवार मारने के लिए होती है। लेकिन धीरे-धीरे ढाल निकल गयी और युद्धनीति यहाँ तक आयी कि आक्रमण ही सबसे ज्यादा अच्छा और सुरक्षित संरक्षण है। विज्ञान ने युद्धशास्त्र को इतना भ्रष्ट कर दिया है कि मनुष्य की वीरता के लिए जो अवसर था, वह अब नहीं रह गया है। संरक्षण की योजना आज की युद्धनीति में कहीं नहीं है। संरक्षण की जो योजनाएँ हैं, वे ढाल की योजनाएँ नहीं हैं। गुफा में चले जाने, तहखाने में छिप जाने आदि की जो योजनाएँ हैं, ये कोई युद्धनीति की योजनाएँ नहीं हैं। आग से भी बचने के लिए यही करना पड़ेगा, तूफान आ जाय, तो भी यही करना पड़ेगा। ज्वालामुखी फट पड़े, तो भी यही करना पड़ेगा। विनोबा कहते हैं कि अब भौतिक युद्ध में और प्राकृ-

तिक आपत्ति में कोई अन्तर नहीं रह गया है। युद्ध अब एक प्राकृतिक आपत्ति की भाँति हो गया है। इसमें अहिंसा क्या काम करेगी? आज तूफान आ जाय या बाढ़ आ जाय, तो बाढ़ के सामने क्या हो सकता है? यदि कोई आदमी डूबता है, तो क्या अहिंसक शौर्य हो सकता है? बाढ़ आ रही है, तो अहिंसा भी यही कहेगी कि तुम बच जाओ, वहाँ से अलग हट जाओ। विनोबा ने कहा था कि आग लगने पर घर छोड़कर भागता हूँ, तो लोग कहते हैं कि यह पलायनवाद है। यह 'पलायनवाद' नहीं है, इसे पलायनवाद नहीं कहते। ऐसे मौके पर साधारण नागरिक की अहिंसक शक्ति में और अहिंसा में विश्वास रखनेवाले दूसरे नागरिकों की बचाव की शक्ति में अर्थात् उन दोनों के बचाव में कोई अधिक अन्तर नहीं रहनेवाला है। आज के युद्धशास्त्र में न आक्रमण में वीरता है, न बचाव में वीरता के लिए कोई गुंजाइश रह गयी है। बम फेंकना केवल हिंसा है। उसे युद्ध की वीरता हम नहीं कह सकते और जहाँ केवल हिंसा है, उसे हम प्राथमिक भौतिक शक्ति मान सकते हैं, जिस प्रकार से दूसरी नैसर्गिक आपत्तियों को मानते हैं।

परिशिष्ट : ४

अहिंसा में परिस्थिति-परिवर्तन

गांधीजी ने लुई फिशर से कहा था कि हम ऐसी परिस्थिति पैदा करेंगे कि सम्पत्तिमान् लोग अपनी सम्पत्ति रख नहीं सकेंगे। फिशर ने उनसे पूछा था कि "फिर यह जमींदार आपसे सहयोग कैसे करेंगे ?" गांधीजी ने उत्तर दिया : "वे वहाँ से भाग जायेंगे और इस तरह वे हमारे साथ सहयोग करेंगे।"

पिछली बार भावनगर में किसीने सवाल किया था कि खेती न करनेवाले जमींदार तो बैठे हुए हैं भावनगर में, और खेत हैं उनके देहातों में, तो मैंने कहा कि हमारा ५० प्रतिशत काम तो उन्होंने कर दिया। वे खेतों में नहीं रहते, शहर में जाकर बैठ गये हैं। अब ५० फीसदी काम आप कर लीजिये कि वे लौटने न पायें। इस परिस्थिति के निर्माण में मनुष्य की प्रेरणा क्या होगी, यह हमारा असली सवाल था। जो परिस्थिति पैदा करेंगे, उनकी अपनी प्रेरणा क्या होगी ?

आप जानते हैं कि आज क्रान्ति की जितनी प्रेरणा है, वह प्रेरणा मत्सर और द्वेष से आती है। मुझे इस बात का दुःख नहीं है कि मैं मोटर में नहीं बैठ सकता। मुझे दुःख इस बात का है कि नारायण बैठता है। भगवान् से मैं प्रार्थना करता हूँ कि हे भगवन्, तू चाहे मुझे मोटर न दे, पर पहले इसकी निकाल ले ! क्या यह क्रान्ति की प्रेरणा है ?

मैं रिक्शे में बैठा हूँ और पानी बरस रहा है। मैं भीतर हूँ। ऊपर से टप लगा हुआ है, फिर भी पानी की कुछ बौछार आती है, तो छाता लगा लेता हूँ। रिक्शेवाला सोचता है कि भगवान् वह दिन कब आयेगा, जब यह दादा रिक्शा चलायेगा और मैं भीतर बैठूंगा। क्रान्ति की यह प्रेरणा स्वाभाविक है, लेकिन यह प्रेरणा हमारे साध्य के अनुकूल नहीं है। यह बन्धुत्व-प्रवर्तक प्रेरणा नहीं है। इसलिए इस प्रेरणा में परिवर्तन करना है। मैंयाँह तक तो उन लोगों के साथ हूँ कि गरीब गरीबी का निराकरण करना चाहता है, इसलिए गरीब का संगठन हम करें। लेकिन गरीब का संगठन अमीर के खिलाफ

होगा, तो गरीब-गरीब का भावरूप संगठन नहीं हो सकता। एक के पास दस एकड़ जमीन है, दूसरे के पास पाँच एकड़ जमीन है, तीसरे के पास तीन एकड़ जमीन है। पचास एकड़वाले के खिलाफ सब एक हैं, लेकिन आपस में तो दस एकड़वाला चाहता है कि मेरे पास २० एकड़ हो, पाँच एकड़वाला चाहता है कि मेरे पास १० एकड़ हो और तीन एकड़वाला चाहता है कि मेरे पास ६ एकड़ हो। पचास एकड़वाले के दूर होते ही जब आपको वितरण करना पड़ेगा, तब इन तीनों में आपस में बँटवारे की प्रेरणा होनी चाहिए। वह कहाँ से आयेगी? सोचने की बात है कि क्या यह प्रेरणा आपके हंटर से आयेगी? हमारा निवेदन है कि ऐसी प्रेरणा हंटर से नहीं आनी चाहिए। जनता के पुरुषार्थ से क्रान्ति का मतलब यही है कि तीन एकड़वाले में, दो एकड़वाले में और एक एकड़वाले में आपस में बँटवारा करने की प्रेरणा भी स्वयंस्फूर्त होनी चाहिए। इसलिए क्रान्ति की प्रक्रिया में से ही हम इस प्रेरणा का विकास करते चले जायँगे।

प्रश्न है कि क्या इस प्रकार का संगठन हो सकता है? और यदि हो सकता है, तो उसका स्वरूप क्या होगा? यह संगठन भी एक ऐसा चंचल शब्द है, जो जल्दी पकड़ में नहीं आता। किसानों का संगठन और मजदूरों का संगठन, ये पूर्णतः भिन्न-भिन्न भूमिकाओं के संगठन हैं। मार्क्सवादी क्रान्ति की जो मूल कल्पना थी, वह किसानों के संगठन की नहीं थी, मजदूरों के संगठन की थी। कम्युनिस्ट 'मेनिफेस्टो' (घोषणापत्र) में लिखा है कि शहर जैसे-जैसे बढ़ते चलेंगे और गाँव जैसे-जैसे कम होते चलेंगे, वैसे-वैसे हम क्रान्ति की ओर कदम बढ़ाते चलेंगे। इसका मतलब यह है कि किसान जितने कम होंगे और मजदूर जितने बढ़ते चले जायेंगे, उतनी ही क्रान्ति की प्रक्रिया में सहायता होगी। किसान भी क्रान्तिकारी हो सकता है, इसकी कोई कल्पना उन्होंने उस वक्त नहीं की थी। उसका कारण यही था कि किसानों में अपनी मालकियत की भावना होती है और वे छोटे-छोटे अलग-अलग होते हैं।

कारखाने का मजदूर 'प्रोलेतारियेत' है। 'प्रोलेतारियेत' कौन है? वही, जो अपना भी मालिक नहीं और वस्तु का भी मालिक नहीं। जो साधन का भी मालिक नहीं और अपनी मेहनत का भी मालिक नहीं। जिसे अपनी मेहनत

बेचनी पड़ती है और इसके सिवा जिसके पास और कोई चारा नहीं रह गया है। किसान की ऐसी हालत कभी नहीं होती कि उसे अपनी मजदूरी इस तरह से बेचनी पड़े। कारखाने में उत्पादन मजदूर करता है, लेकिन सारा उत्पादन मालिक के लिए होता है। खेती में उत्पादन किसान करता है, लेकिन उसका उत्पादन अपने लिए होता है। किसान की भूमिका में और मजदूर की भूमिका में ही यह फर्क है। इसलिए यूरोप में जिन लोगों ने क्रान्ति की कल्पना की, उन लोगों की क्रान्ति मजदूरों की क्रान्ति हुई। मास्को में जैसी क्रान्ति हुई, वैसी चीन में नहीं हुई। चीन की क्रान्ति में और रूस की क्रान्ति में मूलभूत अन्तर यह रहा कि रूस की क्रान्ति का आरम्भ मजदूरों से हुआ और चीन की क्रान्ति का आरम्भ किसानों से। इसलिए दोनों की प्रक्रियाओं में अन्तर पड़ गया। मजदूरों का संगठन 'ट्रेड यूनियनिज्म' से शुरू हुआ। इसका एकमात्र उद्देश्य रहा है, मालिकों से मजदूरों को ज्यादा-से-ज्यादा रियायतें प्राप्त करा देना। इसका शस्त्र है 'हड़ताल'। हड़ताल करने को इसीलिए कहा जाता है कि भाई, उत्पादन तुम्हारे लिए तो है ही नहीं, तुम मेहनत करके दूसरों के लिए उत्पादन करते हो। तुम्हारे हाथ में एक ही ऐसा हथियार है कि उत्पादन बन्द कर दो, तो मालिक की नाड़ियाँ ठंडी हो जाती हैं।

क्रान्ति हो जाने के बाद आज कोई रूस में हड़ताल कर सकता है? ऐसा करे, तो कहेंगे कि यह लोकद्रोह करता है। कारण, अब मालकियत बदल गयी है। उत्पादन समाज के लिए है और उसमें हड़ताल करना लोकद्रोह है। इसलिए हड़ताल का तत्त्व खेती में कभी नहीं जा सका। क्रान्ति का पहला नारा था—'दुनियाभर के मजदूरो, एक हो।' 'किसानो' शब्द उसमें बाद में जोड़ा गया। संघर्ष की एकता के लिए ऐसा किया गया। मजदूरों से एक हो जाने की बात इसलिए कही गयी कि मजदूर एक कारखाने में रहते हैं। अनायास मजदूर एक जगह आ जाते हैं। इसलिए उनका संगठन सुलभ हो जाता है। मजदूरों का संगठन जिस भूमिका से और जिस पद्धति से हो सकता है, उसी भूमिका से और उसी पद्धति से किसानों का संगठन नहीं हो सकता, क्योंकि हड़ताल कभी किसान का अस्त्र ही नहीं रहा है।

प्रश्न है कि तब किसानों का संगठन कैसे हो? किसान छोटा मालिक

है। इस छोटे मालिक के संगठन का एक ही आधार हो सकता है कि सब छोटे-छोटे मालिक अपनी मालकियत को मिला लें, जिसकी परिणति आज विनोबा के ग्रामदान में हो गयी। सौ में से नब्बे आदमी यदि अपनी मालकियत को मिला देते हैं, तो सौ में दस आदमियों से हम क्या कहेंगे? तब प्रतिकार की बात आती है। विनोबा कहता है कि मेरा सौम्यतम प्रतिकार होगा। यह सौम्यतम प्रतिकार महा भयंकर वस्तु है। इन दस आदमियों से ये नब्बे आदमी कहेंगे कि उत्पादन तो गाँव के लिए होना ही चाहिए। तुम्हारे खेत हम जोतेंगे, हम तुमसे पैसा नहीं लेंगे, पर तुम्हें खिलाने का हम प्रबन्ध करेंगे। आज तक हम पैसा लेते थे और खेत जोतते थे। आज से हमने यह तय कर लिया है कि हमारे इस गाँव में किसीकी भी मेहनत नहीं बिकेगी, पर गाँव की जमीन भी पड़ी नहीं रहेगी। यह किसी व्यक्ति-विशेष की जमीन है ही नहीं, यह तो सारे गाँव की जमीन है। इसे हम मुफ्त में जोतेंगे।

आज तो हमें ऐसा मालूम होता है कि यदि ऐसा होने लगे, तब तो मालिक की मौज ही हो जायगी। मैं कहता हूँ कि ऐसा नहीं है।

एक दफा किराये की बस में बैठने के लिए मैं अड्डे पर गया। मोटरवाले ने कहा कि अभी दस मिनट में रवाना होंगे। दस मिनट की जगह एक घंटा हो गया। उधर ट्रेन का वक्त भी बीतने लगा। तब मोटर में से उतरकर मैंने ड्राइवर से कहा कि "मैं आपकी मोटर में नहीं जाऊँगा।" उसने कहा कि "मैं मोटर के पैसे नहीं लौटाऊँगा।"

मैंने कहा, "आपसे पैसा थोड़े ही माँग रहा हूँ। मैं तो इतना ही कह रहा हूँ कि आपकी मोटर में मैं नहीं जाऊँगा।"

"आप मोटर में नहीं जायेंगे, पर टिकट तो आपने खरीदा है।"

"खरीदा है तो आप जानें और टिकट जाने। मैं आपसे पैसे नहीं माँग रहा हूँ।"

अब वह मेरे पीछे दौड़ रहा है कि "हमको क्या खैरात दे रहे हो? हम खैरात किसीकी नहीं लेते।"

मोटरवाले से यदि मैं पैसे माँगता, तो वह मुझसे लड़ाई करने लगता। पर मैं तो कह रहा हूँ कि "पैसे से मुझे कोई मतलब ही नहीं है। तुम्हारी मोटर

में मैं नहीं जाना चाहता हूँ। इससे ज्यादा मैं क्या कह रहा हूँ?" तो वह कहता है—"फिर हम मुफ्त में तुम्हारे पैसे क्यों लें?"

ऐसी बात मनुष्य के स्वाभिमान को खटकती रहती है। हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया में आगे चलकर ऐसे बहुत-से कदम आ सकते हैं, जो एक ओर से बहुत सौम्य मालूम होते हैं, लेकिन दूसरी ओर से बहुत तीव्र होते हैं।

हम हरएक आदमी के ईमान का संगठन करना चाहते हैं। इस तरह का सौम्य सत्याग्रह तभी हो सकेगा, जब कि बड़े मालिकों के लिए छोटे मालिक और गैर-मालिकों के मन में ईर्ष्या और द्वेष नहीं होगा और उनकी अपनी मालकियत 'ब्रह्मार्पण' हो चुकी होगी।

सर्वोदय तथा भूदान-साहित्य

(विनोबा)

गीता-प्रवचन १।), सजिल्द १॥)
शिक्षण-विचार १॥)
सर्वोदय-विचार और स्वराज्य-शास्त्र १)
कार्यकर्ता-पाथेय ॥)
त्रिवेणी ॥)
विनोबा-प्रवचन ॥।)
साहित्यिकों से ॥)
भूदान-गंगा (छह खंडों में) (प्रत्येक) १॥)
ज्ञानदेव-चिन्तनिका १)
जनक्रान्ति की दिशा में ।)
भगवान् के दरबार में (परिवर्धित) ।)
गाँव-गाँव में स्वराज्य =)
सर्वोदय के आधार ।)
एक बनो और नेक बनो =)
गाँव के लिए आरोग्य-योजना =)
व्यापारियों का आवाहन (परिवर्धित) ।)
चुनाव =)
ग्रामदान (परिवर्धित) ॥।)
शांति-सेना ॥)
मजदूरों से =)
गुरुबोध १॥)
भाषा का प्रश्न ।)
लोकनीति १।)
साम्यसूत्र ।=)

(धीरेन्द्र मजूमदार)

समग्र ग्राम-सेवा की ओर (दो खंडों में) ३॥)
शासनमुक्त समाज की ओर ॥)
नयी तालीम ॥)
ग्रामराज ।)
आजादी का खतरा ।)

(श्रीकृष्णदास जाजू)

सम्पत्तिदान-यज्ञ ।)
व्यवहार-शुद्धि ।=)

(जो० कॉ० कुमारप्पा)

गाँव-आन्दोलन क्यों ? २॥)
गांधी-अर्थ-विचार १)
स्थायी समाज-व्यवस्था २॥)
श्रम-मीमांसा और अन्य प्रबंध ॥।)
ग्राम-सुधार की एक योजना ॥।)
स्त्रियाँ और ग्राम-उद्योग ।)

(दादा धर्माधिकारी)

सर्वोदय-दर्शन ३)
मानवीय क्रान्ति ।)
साम्ययोग की राह पर ।)
क्रान्ति का अगला कदम ।)

(ठाकुरदास बंग)

क्रान्ति की पुकार ।)
अपना राज्य ।=)
अपना गाँव ।=)
सामूहिक पद-यात्रा ।)

(महात्मा भगवानदीन)

सत्य की खोज १॥), सजिल्द २)
आज का धर्म ॥)
चिन्तन के क्षणों में ॥)
माता-पिताओं से ।=)
बालक सीखता कैसे है ? ॥)

(श्रीकृष्णदत्त भट्ट)

नक्षत्रों की छाया में १॥)
चलो, चलें मंगरौठ ॥।)
सेवा की पगडण्डी १।)
सर्वोदय-भजनावलि ।)

(अन्य लेखक)

पुस्तक	मूल्य
भूदान-गंगोत्री	२॥)
भूदान-आरोहण	॥)
श्रम-दान	।)
भूदान-यज्ञ: क्या और क्यों ?	१॥)
ग्रामदान क्यों ?	१)
सफाई : विज्ञान और कला	॥।)
सुन्दरपुर की पाठशाला	॥।)
गो-सेवा की विचारधारा	॥)
विनोबा के साथ	१)
पावन-प्रसंग	॥)
छात्रों के बीच	।-)
सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र	।)
सर्वोदय-संयोजन	१)
गांधी : एक राजनैतिक अध्ययन	।)
सामाजिक क्रान्ति और भूदान	।-)
गाँव का गोकुल	।)
ब्याज-बट्टा	।)
भूदान-दीपिका	=)
भूदान से ग्रामदान	=)
पूर्व-बुनियादी	॥)
नवभारत	४)
सत्संग	॥)
क्रांति की राह पर	१)
क्रांति की ओर	१)
भूदान-पोथी	।)
घरेलू कताई की आम बातें	१।)
सर्वोदय पद-यात्रा	१)
सर्वोदय-सम्मेलन-रिपोर्ट, कांचीपुरम्	१)
सर्वोदय-सम्मेलन-रिपोर्ट, कालड़ी	१)
ताई की कहानियाँ	।)
नये अंकुर	।)
दादा का स्नेह-दर्शन	।)
भूदान का लेखा (आँकड़ों में)	।)
विनोबा-संवाद	।=)
सत्याग्रही शक्ति	।-)
मानस-मोती	।)
जीवन-परिवर्तन (नाटक)	।)
पावन-प्रकाश (नाटक)	।)
सपूत (नाटक)	।=)
कुलदीप (नाटक)	।)
प्राकृतिक-चिकित्सा क्यों ?	।)
प्राकृतिक चिकित्सा-विधि	१॥)
बापू के पत्र	१।)
स्मरणांजलि (जमनालाल बजाज)	१॥)
अर्थनीति : सर्वोदय-दृष्टि से	॥।)
राज्य-व्यवस्था : सर्वोदय-दृष्टि से	१॥)
पहली रोटी	।)
ग्रामदान : वरदान	।)
कुष्ठ-सेवा	१।)
मेरा जीवन-विकास	॥)
समता की खोज में	।=)
चोर-डाकुओं के सच्चे आचार्य (रविशंकर महाराज)	४)
गांधीजी क्या चाहते थे ?	॥)
विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था	॥=)
खेत गाँव का, खेती किसान की	≡)
कताई गणित (भाग १)	१)
कताई गणित (भाग २, ३, ४) प्रत्येक	॥।)
घरेलू कताई की आम गिनतियाँ	॥।)
बुनाई	३)
तकुवा बनाना	॥।)
कताई-शास्त्र	२)
हाथ-चक्की	॥)
खाद और पेड़-पौधों का पोषण	१)
प्यारे बापू (बचपन और शिक्षा)	॥)